पाओलो फ्रेरे का शैक्षिक चिन्तन एवं भारतीय परिदृश्य में इसकी प्रासंगिकता

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी से
शिक्षा शास्त्र में पी-एच०डी० की
उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध
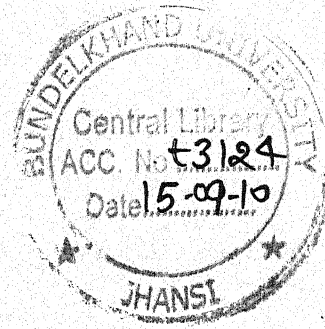
निर्देशक :
प्रो० शशिकान्त
शिक्षा संस्थान
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय
झाँसी

शोधकर्ता :
राजेश छाबड़ा

शोध केन्द्र :

शिक्षा संकाय, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

2006
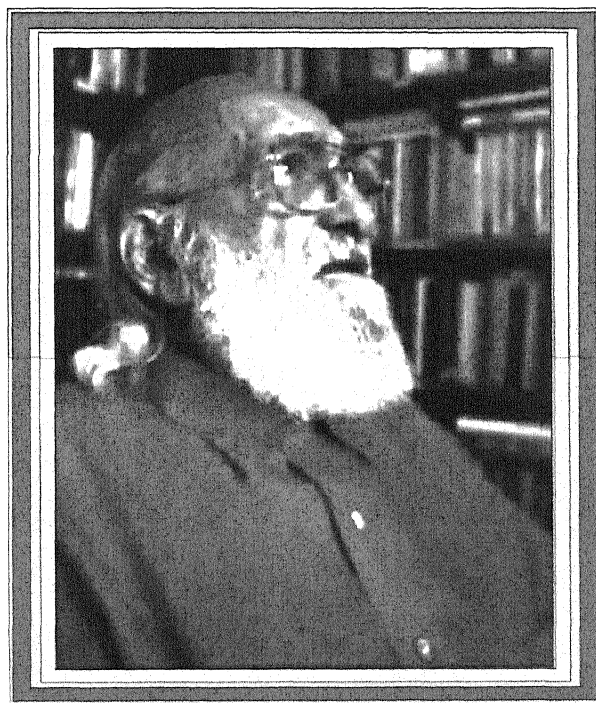
पाओलो फ्रेरे (1921-1997)

जनता तक जाओ / उनसे सीखो / उनके संग रहो,

उनसे प्यार करो / उनके ज्ञान से ही शुरूआत करो /

उनकी सामग्री से, निर्माण करो /

अच्छा नेता वही होगा / जब काम खत्म हो जाए,

लक्ष्य प्राप्त हो जाए, जनता कह सके

हमने यह खुद किया है।

कुलसचिव
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय,
झांसी

विषय : पर्यवेक्षक का प्रमाण पत्र

महोदय,

मै सहर्ष प्रमाणित करता हूँ कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **"पाओलो फ्रेरे का शैक्षिक चिन्तन एवं भारतीय परिदृश्य में इसकी प्रासंगिकता"** राजेश छाबड़ा द्वारा बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी को प्रस्तुत किया गया है। शोधार्थी द्वारा मेरे निर्देशन में यह शोध कार्य सम्पन्न किया गया है जिसमें विश्वविद्यालय की नियमावली के अनुसार आवश्यक उपस्थिति भी पूर्ण की गयी है। प्रस्तत शोध प्रबन्ध शोधार्थी का अपना मौलिक कार्य है। यह विश्वविद्यालय द्वारा परीक्षण हेतु प्रस्तुत है।

मै शोधार्थी के उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ।

(डा0 शशि कान्त)
शोध निर्देशक

उद्घोषणा

मै घोषित करता हूँ कि प्रस्तुत शोध प्रबन्ध **"पाओलो फ्रेरे का शैक्षिक चिन्तन एवं भारतीय परिदृश्य में इसकी प्रासंगिकता"** मेरा अपना मौलिक प्रयास है तथा मुझे पूर्ण विश्वास है कि मेरे इस कार्य से पूर्व इस विषय पर कोई शोधकार्य नहीं हुआ है।

(राजेश छाबड़ा)
शोधार्थी

आभार

सर्वप्रथम मै शोध निर्देशक आदरणीय डा0 शशि कान्त, प्रोफेसर, शिक्षा संस्थान, बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झांसी, के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करता हूँ जिनके आशीर्वाद तथा कुशल मार्गदर्शन के बिना यह शोध कार्य पूरा करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।

उत्कृष्ट एवं सक्रिय सहयोग के प्रदाता आदरणीय प्रोफेसर शशि कान्त का आभार प्रकट करने के लिए यदि यह कहा जाये कि मेरे पास शब्द कोष की कमी है तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। उन्होनें शोध कार्य का प्रारूप तैयार करने, सूक्ष्म दृष्टि से प्रत्येक सोपान का अवलोकन करने एवं उसे अन्तिम रूप देने में अपना पूर्ण सहयोग तथा उच्च्य कोटि का निर्देशन प्रदान किया।

मै अपनी जीवनसंगिनी डा0 (श्रीमती) प्रेरणा छाबड़ा के प्रति अपनी गहन कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिनसे मुझे समय समय पर प्रेरणा तथा सम्बल प्राप्त होता रहा।

मै अपने मित्र श्री पृथ्वीराज शर्मा का भी हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ जिन्होंने निरन्तर मुझे अपना सक्रिय सहयोग प्रदान किया।

अन्त में मै उन विद्वान लेखकों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना भी अपना कर्तव्य मानता हूँ जिनकी कृतियों व ग्रन्थों का उपयोग मैने अपने इस शोध प्रबन्ध के प्रणयन में किया। अन्य सभी मित्रों, सहयोगियों तथा शुभचिन्तकों को अपना हार्दिक आभार प्रकट करते हुए मुझे पूरी आशा है कि प्रस्तुत शोध कार्य आपकी आकांक्षाओं और मेरी साधना पर खरा उतरेगा।

(राजेश छाबड़ा)
शोधार्थी

अनुक्रमणिका

अध्याय-प्रथम

प्रस्तावना

अध्याय - प्रथम

प्रस्तावना

1.1 भूमिका

विश्व के विशाल प्रांगण में मानव विविध सुप्त शक्तियों व अन्तर्निहित क्षमताओं सहित जन्म लेता है। उसकी इन शक्तियों का विकास शिक्षा द्वारा ही होता है। व्यक्तियों को उसकी संभावनाओं के उच्चतम शिखर तक पहुँचाना ही शिक्षा का उद्देश्य है। आत्म-परिपूर्णता की इस स्थिति को मानव समाज में रहकर ही प्राप्त कर सकता है। अतः मानव विकास में उसका परिवेश अर्थात उसका स्वरूप एवं संरचनात्मक विशेषतायें भी अभिन्न भूमिका रखते हैं। परिवेश-गत सीमायें या अवरोध व्यक्ति के विकास को बाधित भी कर सकते हैं। यहाँ यह आवश्यकता भी जन्म लेती है कि यदि सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति के विकास में बाधक हैं, तो व्यक्ति उनका प्रत्यक्षीकरण करते हुए, उनको चिन्हित करते हुए उन स्थितियों में बदलाव लाने के लिए सक्रिय रूप से हस्तक्षेप करे। यदि वह ऐसा करने में असमर्थ रहकर मात्र परिस्थितियों के साथ अनुकूलन ही करता है, स्वयं को ही बाह्य-दशाओं के अनुरूप ढालता चलता है तो मनुष्य व अन्य प्राणी में विभेद ही नहीं रह जायेगा। यह मनुष्य ही है जो अपने परिवेश को अपने अनुरूप बनाता है।

मनुष्य के लिए परिवेश में स्थित ये कारक प्राकृतिक ही नहीं, सामाजिक भी होते हैं। कहा जाये तो सामाजिक ही अधिक होते हैं, चूँकि उसे सामाजिक प्राणी माना जाता है। अतः मनुष्यों का ही यह कार्यभार हो जाता है कि वे ऐसी सामाजिक परिस्थितियों का सृजन करें जिसमें मानव मात्र को अपने विकास के सम्पूर्ण अवसर उपलब्ध हों। जब तक ऐसा समाज सम्पूर्ण मानवता को उपलब्ध नहीं हो जाता है, मानवीय संस्कृति व सभ्यता अपूर्ण रहेगी और मनुष्य को ऐसे विश्व के निर्माण के लिए निरन्तर सजगता के साथ संघर्षरत रहना होगा। इस संदर्भ में शिक्षा मनुष्य को

कुछ देने की नहीं वरन उसे कुछ हासिल करने में सक्षम बनाने की प्रक्रिया होगी। चूँकि 'देना' दूसरों पर निर्भर होगा, दूसरों द्वारा नियन्त्रित होगा जबकि 'हासिल करना' व्यक्ति के स्व-विवेक व व्यवहार पर निर्भर करेगा। मनुष्य में इस सम्यक् बोध, विवेक व आचरण का विकास करने वाली शिक्षा ही सच्ची शिक्षा होगी जो उसकी मुक्ति के द्वार खोल उसे पूर्ण मानव बनने की ओर अग्रसर करेगी। महात्मा गाँधी[1] प्राचीन भारतीय मनीषियों के इस वचन का समर्थन करते हैं कि शिक्षा वही है जो मुक्ति दिलाने वाली है- सा विद्या या विमुक्तये। वे कहते हैं कि ऐसी शिक्षा कोरी पोथियों से थोड़े ही मिल सकती है। यह शिक्षा तो जीवन की पुस्तक से मिलती है।

शिक्षा समाज के सर्वतोमुखी विकास एवं सामाजिक परिवर्तन का एक सशक्त साधन है। इस तथ्य को हृदयंगम करते हुए प्राणप्रण से शैक्षिक प्रगति में सहर्ष अपना सर्वस्व समर्पित करने वाले युग-पुरूषों में एक नाम पाओलो फ्रेरे का भी है। सामाजिक परिवर्तन एवं उन्नयन के लिए जीवनपर्यन्त संघर्षरत रहे शिक्षा के महान पुरोधा पाओलो फ्रेरे आधुनिक वैश्विक शिक्षा जगत के ज्वाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। वंचितों की शिक्षा के लिए पाओलो फ्रेरे द्वारा अथक प्रयास किये गये। शिक्षा को उन्होंने पिछड़े वर्गो के सामाजिक-राजनैतिक सबलीकरण के एक सशक्त साधन के रूप में देखा और राज्य सत्ता पर निर्भरता के बजाय जन शिक्षा को एक सामाजिक आन्दोलन तथा सामुदायिक प्रयास का रूप देने पर बल दिया।

सांस्कृतिक, जातीय एवं सामाजिक उत्पीड़न लोगों के हृदय में सदा सर्वदा के लिए एक अमिट चिह्न, एक टीस छोड़ जाता है। हो सकता है वह बाह्य रूप में परिलक्षित न हो। यह दाग उत्पीड़न के भुक्तभोगीजनों के मस्तिष्क पर अब भी बना रहता है जबकि वह सामाजिक रूप से सक्षम हो चुके होते हैं। निश्चयेन उत्पीड़न चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो, किसी भी रूप में हो अथवा किसी भी मात्रा में, एक अभिशाप है जिससे समस्त मानव जाति को अन्ततोगत्वा मुक्ति प्राप्त करनी ही होगी।

स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए, दुनिया की भलाई के लिए उत्पीड़न, शोषण, असमानता तथा भेद-भाव को निर्मूल करना ही होगा और यह भगीरथ लक्ष्य वातानुकूलित कक्षों में बैठे नौकरशाहों एवं वेतनभोगी बुद्धिजीवियों की औपचारिक गोष्ठियों तथा प्रायोजित सेमीनारों के माध्यम से प्राप्त होना असम्भव है। वास्तविक जीवन की सच्चाइयों से अनुभूति रखने वाले तथा अशिक्षित जन से समरसतापूर्ण सरोकार रखने वाले व्यक्ति ही शिक्षा की यथार्थोन्मुख एवं व्यावहारिक योजनाओं को निर्मित व क्रियान्वित कर सकते हैं।

स्पष्टतः हम ऐसे दौर में नहीं पहुंच पाये हैं जबकि संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकारों को संवाद के तरीके से लागू किया जा सके। सामाजिक पर्यावरण पर गहरी नजर डालने से यह पता चलता है कि इसके घटकों में तीन कारक स्पष्टतः शामिल हैं। पहला है राजनीतिक रूप से निष्क्रिय ग्रामीण जनता जो उत्पादन की मशीन की धुरी है, लेकिन जो श्रम से ही जुड़ी है पर जिसमें कभी-कभार उभार के लक्षण दीख जाते हैं। दूसरा है आजादी के बाद उभरा गिद्ध दृष्टि वाला शहरी अभिजन जो नए अवसरों से सर्वाधिक लाभ उठाना जानता है। और तीसरा है कायरतापूर्ण ढंग से हाशिए पर बैठा विचारवान नपुंसक तबका जो बदलाव की अनैतिकता से डरा हुआ है। भविष्य की दिशा का अनुमान लगाना मुश्किल है। सोई ग्रामीण जनता में अचानक फूटा गुस्सा विनाशक हो सकता है। इसे संयमित और वैधानिक उद्देश्यों की प्राप्ति जैसे उपयोगी कार्यों में लगाने की जरूरत है। इसी तरह आत्मप्रशंसा में लिप्त शहरी अभिजन में आत्मविनाश का बीज मौजूद है। अगर इस कमजोर तीसरी शक्ति में भी अच्छे सुस्पष्ट भविष्य की आकांक्षा नहीं हो और वह कुछ अनुकरणीय सफलताएं अर्जित न कर सके तो परिणाम विनाशकारी होगा। हर हालत में मूलभूत अधिकारों को लागू करने के लिए कुछ उपाय करने की जरूरत है। साथ ही समाज को अपने जीर्ण सामंती चरित्र छोड़ने तथा समय के उदार सामाजिक राजनीतिक सिद्धान्तों को अपनाने के लिए तेजी से आगे बढ़ना होगा।

अन्य देशों के अनुभव यह बताते हैं कि समाजीकरण में भी सामंजस्य के बीज अंतर्निहित हैं। नियंत्रण के हटते ही उत्पादक शक्तियों और वितरण शक्तियों के बीच प्रतिक्रिया की शुरूआत हो सकती है, जिसके फलस्वरूप एक दूसरे प्रकार का सामाजिक विभाजन, यानी उत्पादक नियंत्रक तथा उत्पादन वर्ग, हो सकता है। एक नियमन करने वाले अभिकरण की जरूरत तो है लेकिन, उसे आपमें एक स्वायत्त शक्ति नहीं बन जाना चाहिये। इसके लिए सुरक्षात्मक उपाय यह सुझाया गया है कि बदलाव की प्रक्रिया में निरंतरता होनी चाहिये।

दो महत्वपूर्ण मुद्दे उठते हैं। एक तो उस भविष्य से जुड़ा है जो सहभागियों द्वारा संसाधनों के समाजीकरण को लक्ष्य चुने जाने और उसकी परिणिति से सम्बद्ध है। दूसरा वर्तमान से सम्बन्धित है जो समाजीकरण के लक्ष्य की प्राप्ति के लिए रास्ते के चुनाव से जुड़ा है। भविष्य के बारे में अनुमान लगाना उतना त्रासद नहीं है जिनता कि भयावह वर्तमान पर विचार करना। थोड़ा उस कारण से और कुछ इसलिए भी इसमें आकर्षक विचार-विमर्श के लिए असीमित संभावना है।

बावजूद इसके कि समाजीकरण या सामूहिकतावादी रास्ते पर चलने वाले कुछ समाजों में दो वर्ग हैं या कई वर्ग मौजूद हैं, सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था आमतौर पर स्तरीकृत नहीं की जा सकी है। उस व्यवस्था में और कमियां ढूंढी जा सकती हैं और ऐसी आलोचनाओं में दम भी हो सकता है क्योंकि हर व्यवस्था में कमियां और सीमाएं होती हैं। फिर भी यदि भारतीय लोक प्रवृत्ति को अपनी व्यापक दृष्टि रखकर देखें तो लगेगा कि उत्पादन के साधनों के समाजीकरण से भारतीय समाज की अंतर्निहित शक्ति का जबरदस्त विस्फोट होगा जिससे व्यक्तिगत और सामजिक-आर्थिक मोर्चे पर जबरदस्त उछाल आयेगा। इससे व्यक्तिगत और सामाजिक शक्तियों की ऊर्जा का उपयोग करते हुए जबरदस्त बदलाव का वाहक बन सकता है। व्यवस्था द्वारा शोषण को रोकने के लिए सुरक्षात्मक उपाय तैयार करते समय अन्य समाजों की मूल्यवान नसीहतों, भले ही वे अचूक न हों, को ध्यान

में रखा जा सकता है। हमें उसे आकार देते हुए वर्ग और जाति दोनों को ध्यान में रखना होगा। चुनौती जटिल है लेकिन ऐसी उपलब्धि असंभव नहीं है। यदि लक्ष्य की आवश्यकता पर सहमति हो तो जरूरत सिर्फ इच्छा शक्ति की है। हमारे समय में ही इसकी संभावना और कठिनाइयां दोनों दीख रही हैं। आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञानवान लोग भी इसे देखें।

जब वर्तमान की ओर लौटते हैं तो समस्या आती है सामाजिक बदलाव के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए उपयुक्त राह को चुनने की। हमारे स्वाधीनता संग्राम का चरित्र, संविधान तथा उसके निदेशक सिद्धांतों, सब मे यही है कि आम सहमति से ही संयमित बदलाव लाया जाये। इस मामले में संविधान की प्रस्तावना सबसे सुस्पष्ट है जिसमें कहा गया कि सभी नागरिकों को न केवल सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय दिया जायेगा बल्कि उन्हें समान अवसर और महत्व भी प्रदान किया जायेगा। लेकिन संविधान बनाते समय भी कुछ लोगों ने यह चेतावनी दी थी कि सामाजिक-आर्थिक वास्तविकता को भूलकर राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को परवान न चढ़ाया जाये। इस बात पर विवाद हो सकता है कि इतिहास के किसी मोड़ पर कोई समाज खंडित मानसिकता का हो जाता है तो आदर्शवादी महत्वाकांक्षाएं कठोर वास्तविकताओं को अनदेखा कर आगे निकल जाती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐतिहासिक परिवर्तनों के दौर में वास्तविकता और आदर्श के बीच उफान ज्यादा ही होता है। दरअसल यह उफान इतना होता है कि इसका बेसुरापन सामाजिक अर्थशास्त्र की गति को इतना तेज कर देता है कि तेज राजनीतिक महत्वाकांक्षा के संग चल सके। वैसे इसका स्वागत किया जाना चाहिये क्योंकि इसके जरिए हिंसा तथा उथल-पुथल से बचा जा सकता है। हर स्थिति में सहन शक्ति की सीमा के बाहर जा रहे सामाजिक तनाव से बचा जाना चाहिये।

जोशी[1] का अभिमत है कि ग्रामीण भारत के वर्ग जाति पर आधारित सत्ता के पारंपरिक ढांचे पर प्रगतिशील राजनीतिक दर्शन और आधुनिक प्रशानिक ढांचे को

थोपने से विरूपण तो हुआ है लेकिन यथास्थितिवादी शक्तियों पर इसका मामूली असर हुआ है। परिणामस्वरूप, उनके ही अनुसार, वैमनस्यपूर्ण अंतर्विरोध उभरे हैं। कुछ लोग तो यहां तक कहते हैं कि इसके चलते असंगठित जनता संगठित अर्थव्यवस्था और राजनीति के हाशिए पर, शासक अभिजनों के निरंतर प्रयासों के चलते, चली गयी है। लेकिन, आज के हिंसक प्रकरण उत्पीड़ितों तथा गुलामी झेलने वालों के मन में उठती आवाजों के ही परिणाम हैं। भारत के समग्र परिप्रेक्ष्य में ये टकराव के प्रकरण बहुत छोटे हैं। फिर भी गंभीर पर्यवेक्षकों को उनमें पीड़ा, गुस्सा और खून खराबा दिखलाई देता है। वर्ग और जाति सर्वहारा द्वारा विचारधारा के समावेशीकरण और आत्मसात करने से मौजूदा सामाजिक आर्थिक संरचना में तनाव रह सकता है।

भूपिन्दर सिंह[2] का मानना है कि आदर्श और यथार्थ में दुविधा की स्थिति और उनके बीच बढ़ता फासला एक भयानक उथल-पुथल को जन्म दे सकता है। विखंडन, बिखराव तथा पस्ती फैलाने वाली बड़ी शक्तियां जोर-शोर से अपने काम में लगी हुई हैं। वर्ग जाति के संपूर्ण लक्षणों के जुड़ जाने से यह प्रक्रिया और तेज हो सकती है। सौभाग्यवश इस पर चिंतन मनन करने के लिए हमारे पास काफी वक्त है। यह आशा करना संभव है कि इसके पहले अस्मिता और अधिकारों के लिए कोई बड़ा उभार उठे, परस्पर सामंजस्य और सहयोग का वातावरण बन सकता है। वास्तव में समाज के चेतन हिस्सों से अंधकार, पतनशीलता और यथास्थितिवाद की जकड़न से मुक्त भविष्य की ओर बढ़ने के लिए नेतृत्व देने की उम्मीद करना बेमानी नहीं है। दूसरे शब्दों में कहें तो आशावान होना संभव है। लेकिन, आशावादी बने रहने के लिए हमें कार्य भी करना होगा। सत्ता के ढांचे में बदलाव के लिए इसके घटकों की स्थिति में समायोजन जरूरी है। हमें समायोजन के महत्व को समझने और समायोजन की पीड़ा को सहने के लिए तैयार रहना चाहिये। यह समायोजन न केवल संबद्ध पक्षों, बल्कि पूरे राष्ट्र के लिए भी, पीड़ादायक होगा। इसके लिए गहरा

आत्मनिरीक्षण आवश्यक होगा। साथ ही इसके लिए एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की भी जरूरत होगी।

डा0 के0 जी0 सैयदैन[3] कहते हैं कि- ''यदि हम अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता के सहारे सामाजिक स्वतन्त्रता और आर्थिक लोकतंत्र के लक्ष्य तक पहुंचना चाहते हैं, तो स्पष्टतः हमे जनसाधारण के लिए कहीं अधिक उच्च स्तर की शिक्षा की आवश्यकता होगी, नहीं तो हमेशा इस बात का खतरा रहेगा कि चतुर लेकिन बेईमान दल या व्यक्ति अपने निकृष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इस तथाकथित स्वतंत्रता का अनुचित लाभ उठाएं। इसी बात को मैं तत्काल और बड़े पैमाने पर प्रौढ़ शिक्षा का आन्दोलन शुरू करने के राजनीतिक औचित्य का आधार कहूंगा।''

स्वामी विवेकानन्द की दृष्टि में जन साधारण की अवहेलना करना महान राष्ट्रीय पाप और पतन का कारण है। उनका मत है कि जब तक भारत की सामान्य जनता को एक बार फिर अच्छी शिक्षा, अच्छा भोजन और अच्छी सुरक्षा प्रदान नहीं की जायेगी, तब तक अच्छी से अच्छी राजनीति भी व्यर्थ होगी। वे हमारी शिक्षा के लिए ध्यान देते हैं, वे हमारे मन्दिरों का निर्माण करते हैं, पर इनके बदले में उनको ठोकरें मिलती हैं। वे हमारे दासों के समान हैं। यदि हम भारत का पुनरुत्थान करना चाहते हैं तो हमें उनको शिक्षित करना होगा।

कान्ता मारवा[4] के अनुसार प्रौढ़ शिक्षा वह प्रक्रिया है जो व्यक्ति को अपने परिवेश के प्रति जागरूक बनाती है और उसे अपने सामर्थ्य के अहसास के साथ इस बोध तक ले जाती है कि वह अपना परिवेश बदलने के लिए संकल्पित हो उठे।

रमेश दीक्षित व डा0 गिरीराज शाह[5] का मत है कि जब तक मानव समाज में असमानता है, असंतोष है, अशिक्षा है, ऊंच-नीच व भेद-भाव का वातावरण है तब तक नागरिक अधिकारों की पूरी रक्षा आसान नहीं है। वे कहते हैं

कि वर्तमान व्यवस्था पूर्ण रूप से परिवर्तन चाहती है। जब तक सामाजिक व्यवस्था में मौलिक परिवर्तन नहीं आयेंगे, सकारात्मक परिणाम मुश्किल होंगे।

डा0 दीक्षित एवं शाह[6] का मत है कि देश के अन्दर लाखों परिवारों में सुबह का सूरज उदय होते ही रोटी की चिन्ता प्रारम्भ हो जाती है। अगर वे अपने बच्चों को स्कूल भेजना समय बर्बाद करने के बराबर समझें तो इसमें उनका क्या दोष है। उनके लिए तो पहली आवश्यकता रोटी ही है।.... निर्धन लोगों की व्यवस्था शिक्षा के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा बन गयी है।

प्रो0 सदगोपाल[7] कहते हैं कि स्कूली शिक्षा तथा प्रौढ़ साक्षरता अभियानों द्वारा साक्षरता दर की वृद्धि में किये गये योगदान के बीच बुनियादी अन्तर है- जबकि स्कूली शिक्षा के जरिये साक्षरता में होने वाली वृद्धि टिकाऊ होती है, प्रौढ़ शिक्षा अभियानों द्वारा लायी गयी वृद्धि अनिश्चित और गैर-टिकाऊ होती है।

वे आगे कहते हैं कि दुर्भाग्य से प्रौढ़ शिक्षा अभियानों पर केन्द्रित किये गये राजनीतिक सरोकार सबसे नकारात्मक प्रभाव शिक्षा के राष्ट्रीय नजरिये पर पड़ा है। बढ़ते क्रम में शिक्षा को साक्षरता के साथ ध्वनित किया गया और ऐसा करते हुए यह अनदेखा किया गया कि साक्षरता शिक्षा के प्रभाव का मापन करने वाले मापदण्डों में से मात्र एक मापदण्ड भर है।

शिक्षा समाज का एक उपांग है, स्वतन्त्र कारक नहीं। अतः भारत के सभी बच्चों के लिए उम्दा गुणवत्ता वाली शिक्षा उपलब्ध करवाने का संघर्ष अभिन्न रूप से गरीबी, कुपोषण एवं बीमारियों के खिलाफ चलने वाले संघर्षों से जुड़ा हुआ है। इस सम्बन्ध में यह स्वीकारना होगा कि विषमता, निर्धनीकरण और शोषण जैसे बुनियादी सामाजिक कारकों की अवहेलना करके हम कभी भी सभ्य और शांतिमय मानवीय समाज बनाने की कल्पना नहीं कर सकते।

प्रो0 सद्‌गोपाल की भांति ही चन्द्रमोहन भाटिया[8] का भी निश्चित दृष्टिकोण है कि दलित व शोषित वर्ग के आर्थिक हालात में सुधार लाये बगैर शिक्षा की किसी भी प्रभावशाली योजना का क्रियान्वयन असंभव होगा। वे कहते हैं-

"उत्पीड़ित वर्ग की आर्थिक हालत में क्रान्तिकारी सुधार के बिना प्रौढ़ शिक्षा कभी संभव और सफल नहीं हो सकती। प्रौढ़ शिक्षा में शिक्षा-सुधार और आर्थिक सुधार दोनों निहित हैं। सौभाग्यवश, प्रौढ़ शिक्षा और आर्थिक सुधार, दोनों की कुंजी एक ही है और वह यह है कि शिक्षा और विशेषकर देशव्यापी प्राईमरी शिक्षा को यथार्थ में समर्थ बनाया जाये।"

प्रो0 ठेकेदत्त[9] का अभिमत है कि- भारतीय समाज के उत्पीड़ित एवं शोषित वर्ग ही वे वर्ग हैं जिन पर हमें विश्वास रखना होगा। श्रमिक वर्ग, किसान, खेतिहर मजदूर, मध्यम वर्ग एवं नौकरीपेशा सभी वर्तमान नीतियों के शिकार हैं। आज लोगों के सभी वर्ग आन्दोलन की राह पर हैं। तात्कालिक मांगों को लेकर इनके द्वारा किये जाने वाले संघर्षो को सामाजिक रूपान्तरण के व्यापक आन्दोलन के साथ जोड़ना होगा। यही हमारी अधूरी क्रांति को पूर्ण करने की कुंजी है। चूंकि ये ताकतें ही विकासात्मक परिवर्तन की ताकते हैं।

प्रा0 वी0के0 आर0 पी0 राव द्वारा भारतीय प्रौढ़ शिक्षा की रजत जयन्ती (1964) पर दिये गये अपने मुख्य भाषण में सम्बोधित करते हुए कहा गया था कि करोड़ों रुपये व्यय करने से प्रौढ़ शिक्षा की समस्या समाप्त नहीं होगी, चाहे हमारे पास कितने भी उपकरण हों, साहित्य एवं दूसरे साधन हों। इस सम्बन्ध में हमें राष्ट्रीय संकल्प की आवश्यकता है। यदि हम निरक्षरता समाप्त करना चाहते हैं तो रूढ़ियों को त्याग कर प्रौढ़ शिक्षा प्रारम्भ करनी है और धन की अपेक्षा लाखों लोगों को स्वेच्छा एवं त्याग की भावना से कार्य करना है। उनके ये शब्द आज भी नितान्त महत्वपूर्ण हैं।

1.2 समस्या कथन

शिक्षा से सरोकार रखने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए राष्ट्र में शिक्षा के स्तर व उसकी समस्याओं को लेकर उद्वेलित होना स्वाभाविक ही है। इस समस्या पर शिक्षा के विभिन्न अंगों को लेकर आयोगों व समितियों का गठन किया जाता रहा है। प्रारम्भिक शिक्षा के सार्वजनिकरण, निरौपचारिक शिक्षा, सामाजिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा या जन शिक्षा जैसे उपायों के द्वारा साक्षरता में वृद्धि करने के प्रयास निरन्तर जारी हैं। देखा जा सकता है कि ऐसे विषयों में विमर्श गुणात्मक रूप से बहुत आगे नहीं बढ़ पाया है। समकालीन शैक्षिक इतिहास साक्षी है कि सर्जनात्मक, क्रांतिकारी, परिवर्तनशील और प्रयोगधर्मी विचारों और नवाचारों को अपनाने में जो तत्परता व साहस प्रदर्शित किया जाना चाहिए, उसका अभाव सा दृष्टिगोचर होता है।

जन साक्षरता या प्रौढ़ शिक्षा तथा समाजशास्त्र के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्ति पाओलो फ्रेरे के नाम से परिचित हो सकते हैं परन्तु उनके दर्शन व कर्म से भारत में शिक्षा के अन्य क्षेत्रों से जुड़े लोग लगभग अनभिज्ञ ही हैं। इसे दृष्टिगत रखते हुए ही प्रस्तुत शोध में पाओलो फ्रेरे के व्यक्तित्व एवं कृतित्व, दर्शन के उद्गम स्त्रोतों व प्रमुख तत्वों तथा शैक्षिक चिन्तन के साथ -साथ वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में उनके विचारों तथा पद्धतियों का विवेचन करते हुए भारतीय संदर्भ में उसकी प्रासंगिकता का मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। शोध का शीर्षक अधोलिखित है-

पाओलो फ्रेरे का शैक्षिक चिन्तन एवं भारतीय परिदृश्य में इसकी प्रासंगिकता

1.3 उद्देश्य

प्रस्तुत शोध अध्ययन के निम्नलिखित उद्देश्य हैं

1. पाओलो फ्रेरे के शैक्षिक चिन्तन के मूल तत्वों एवं इसकी दिशा के निर्धारक तथ्यों अर्थात उनके शिक्षा दर्शन के उदग्म स्रोतों की पहचान करना।

2. पाओलो फ्रेरे के शैक्षिक चिन्तन का अग्रलिखित परिप्रेक्ष्य में विवेचन करना। (अ) शिक्षा की आवश्यकता (ब) शिक्षा की अवधारणा (स) शिक्षा के उद्देश्य (द) पाठ्यक्रम (य) शिक्षण विधियां (र) अध्यापक (ल) छात्र (व) छात्र-शिक्षक सम्बन्ध (स) अनुशासन (श) विद्यालय (ह) विद्यालय, परिवार राज्य व समुदाय के पारस्परिक सम्बन्ध।

3. पिछड़े वर्गो व वंचितों की शिक्षा एवं प्रौढ़ (वयस्क) शिक्षा के विषय में पाओलो फ्रेरे के विचारों एवं पद्धतियों का अध्ययन, विश्लेषण एवं मूल्यांकन करना।

4. वर्तमान भारतीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में, विशेषतया जन साक्षरता व प्रौढ़ शिक्षा के परिप्रेक्ष्य में पाओलो फ्रेरे के विचारों की प्रासंगिकता का मूल्यांकन करना।

1.4 शोध परिकल्पना

सुविदित है कि समाज अथवा राष्ट्र के विकास में, उसके नव निर्माण में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। राष्ट्र के नीति निर्धारक इस तथ्य से भली भांति परिचित होते हैं तथा राष्ट्र विकास की भावी दिशाओं को दृष्टिगत रखते हुए शिक्षा की एक कारगर नीति एवं प्रभावी योजना बनाने का प्रयास करते हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति एवं शिक्षा व्यवस्था अनेकानेक कारकों से प्रभावित होती हैं। विगत एवं वर्तमान सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक दशाएं एवं समस्यायें, परम्परागत एवं समकालीन दार्शनिक चिन्तन, शैक्षिक दृष्टिकोण, वैयक्तिक एवं जन आंकाक्षाएँ व आवश्यकतायें किसी भी राष्ट्र की शिक्षा व्यवस्था के निर्माण में विचारणीय बिन्दु होते हैं।

संकुचित दायरों से मुक्त होकर शैक्षिक चिन्तन को व्यापकता एवं समग्रता प्रदान करते हुए राष्ट्र की समस्याओं का हल खोजना आज समय की आवश्यकता है। भूमण्डलीकरण के इस दौर में स्थानीयता एवं सार्वभौमिकता में परस्पर बुद्धिमत्तापूर्ण समन्वय आवश्यक है। निज राष्ट्र की समस्याओं का समाधान खोजने हेतु विश्व के अन्य राष्ट्रों में इन्हीं के समान समस्याओं के हल हेतु क्या उपाय या प्रयास किये गये हैं, इस पर विचार करना भी अब युक्तिसंगत तथा आवश्यक हो गया है। अन्य देशों के शैक्षिक चिन्तकों, शिक्षा विशारदों तथा शैक्षिक आन्दोलनों के प्रणेताओं के प्रबुद्ध विचारों से हमारे राष्ट्र के शैक्षिक नीति निर्माताओं को निश्चय ही कुछ नूतन सोच व मौलिक अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो सकती है। साथ ही ऐसे समर्पित शैक्षिक कार्यकर्ताओं से प्रेरित व प्रभावित होकर हमारे देश में शिक्षा के क्षेत्र में कार्यरत व्यक्तियों व संगठनों को नवीन उर्जा व मार्ग दर्शन प्राप्त हो सकता है। इन्हीं मान्यताओं के साथ शोधकर्ता प्रस्तावित शोध कार्य में यह परिकल्पित करता है कि पाओलो फ्रेरे का शैक्षिक चिन्तन, शिक्षा के विभिन्न अंगों व पक्षों पर उनकी गहन तथा व्यापक सोच निजी प्रयासों से समुत्पन्न व्यावहारिक अनुभवों पर आधारित है तथा भारतीय शिक्षा परिदृश्य में, विशेषतया, प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में सार्थक एवं व्यवहार्य सिद्ध हो सकती है।

1.5 शोध सीमांकन

प्रस्तुत अध्ययन पाओलो फ्रेरे के शिक्षा दर्शन की मौलिक विशेषताओं की पहचान, विश्लेषण एवं विवेचना तक-सीमित है। शिक्षा के विभिन्न अंगों और फ्रेरे के विचारों की समीक्षा करने के साथ-साथ प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में आपके योगदान का मूल्यांकन करना भी शोधकर्ता का उद्देश्य रहा है। भारतीय परिप्रेक्ष्य में पाओलो फ्रेरे का चिन्तन एवं उनके द्वारा प्रणीत शैक्षिक कार्यक्रम कितने व्यवहार्य हो सकते हैं, इसकी पड़ताल भी प्रस्तुत शोध कार्य का एक प्रमुख उद्देश्य है।

फ्रेरे का सामाजिक-राजनीतिक दर्शन एक गहन तथा व्यापक स्वतंत्र शोध का विषय हो सकता है। परन्तु प्रस्तुत शोध कार्य में उनके शैक्षिक चिन्तन की पृष्ठभूमि को समझने की दृष्टि से ही इसका अध्ययन किया गया है।

पाओलो फ्रेरे तथा अन्यान्य पूर्ववर्ती एवं समकालीन भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षाविदों के शैक्षिक चिन्तन का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन करना यद्यपि एक उपयोगी एवं श्लाघनीय प्रयास हो सकता है, तथापि प्रस्तावित शोध अध्ययन को पूर्व वर्णित उद्देश्यों की प्राप्ति तक सीमित रखते हुए विस्तार के स्थान पर उसकी गुणवत्ता व गहनता को ही प्राथमिकता दी गयी है। फ्रेरे के शिक्षा-विमर्श के महत्वपूर्ण मौलिक बिन्दुओं को स्पष्टतः रेखांकित करने के उद्देश्य से ही अन्य शिक्षाविदों के विचारों का उपयोग किया गया है।

1.6 अध्ययन की शोध विधि, उपकरण एवं स्रोत

किसी भी शोध की पद्धति उसकी विषय सामग्री तथा उद्देश्यों के आधार पर सुनिश्चित की जाती है। विषय के शोधपरक के अध्ययन के लिए किसी एक या एक से अधिक विधियों का प्रयोग हेतु चयन किया जाता है। उद्देश्यों व शोध की प्रकृति को दृष्टिगत रखते हुए शोधकर्ता द्वारा इस अध्ययन हेतु अनुसंधान की दार्शनिक विश्लेषण एवं वर्णनात्मक विधि का प्रयोग किया गया है।

उपकरण

प्रस्तुत शोध अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा उपकरण के रूप में अनेक साक्ष्यों व साधनों यथा, फ्रेरे द्वारा स्व-लिखित ग्रंथों, पुस्तकों, अभिलेखों, पत्र-पत्रिकाओं तथा समाचार पत्रों में प्रकाशित लेखों का प्रयोग किया गया है।

प्राथमिक स्रोत

इस अध्ययन में शोधकर्ता द्वारा प्राथमिक स्रोत के रूप में पाओलो फ्रेरे द्वारा लिखित ग्रंथों, लिपिबद्ध व्याख्यानों एवं लेखों का प्रयोग किया गया है।

गौण स्रोत

इसके अन्तर्गत पाओलो फ्रेरे के शैक्षिक विचारों एवं कार्यक्रमों के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों द्वारा लिखित ग्रंथों व लेखों का उपयोग किया गया है।

शोध प्रविधि

प्राथमिक एवं गौण स्रोतों के व्यापक अध्ययन-मनन के पश्चात् सम्बन्धित विषय सामग्री का चयन, सूचनाओं व तथ्यों का संग्रह किया गया है। शोध उद्देश्यों के अनुरूप इन सूचनाओं का सम्यक् विश्लेषण एवं विवेचन करते हुए विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत इन्हें व्यवस्थित व सारगर्भित रूप से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

1.7 शोध का महत्व

जनसामान्य में साक्षरता के प्रसार को वर्तमान समय की एक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक परिघटना के रूप में देखा जा सकता है। स्वतंत्रता पश्चात् के भारत में यह परिघटना किश्तों में कई बार घटित हो चुकी है। हाल के वर्षो में राज्य और समाज के जटिल सम्बन्धों के मध्य इस घटना की उपस्थिति कुछ अधिक ही उभर कर सामने आई है। इस घटना के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रभाव निकट भविष्य में प्रकट होंगे, इतना तो निश्चित है, परन्तु इस प्रश्न का सटीक उत्तर सरलता से दे पाना संभव नहीं है।

आधुनिक विश्व के परिप्रेक्ष्य में साक्षरता एवं निरक्षरता के मिले जुले अनेक रूप और संस्करण दृष्टिगोचर होते हैं। अलग-अलग जगहों के साक्षर समाजों को देखकर साक्षरता और सामाजिक परिवर्तन के किसी सरल समीकरण की पहचान नहीं क़ी जा सकती है। साक्षरता यदि कहीं उत्पीड़ित मनुष्य की मुक्ति के साधन के रूप में दिखायी दी है, तो कहीं दूसरी ओर लोगों की चेतना को विभ्रमित करने तथा परिवर्तन के लिए संघर्ष की प्रेरणा को कमजोर करने का साधन भी बनी है। प्रतीत होता है कि शक्ति के वितरण के संदर्भ में साक्षरता के परिणाम एक ओर स्थापित राजनीतिक विचारधारा और वातावरण से प्रभावित होते हैं तो दूसरी ओर साक्षरता कार्यक्रमों के लिए किये गये शैक्षिक पद्धति सम्बन्धी निर्णयों से। एक साक्षर समाज निर्मित करने का ऐतिहासिक आशय क्या है? इसकी खोज करने के लिए इन दोनों आयामों पर विचार करना आवश्यक है।

हमारे देश में साक्षरता कार्यक्रम के संदर्भ में शिक्षण सामग्री और पद्धतियों को लेकर तो अनेक प्रश्न उठे हैं किन्तु उस सांस्कृतिक और राजनीतिक माहौल पर टिप्पणी नहीं के बराबर की गयी है जो सम्पूर्ण साक्षरता अभियान के चहुँ ओर आर्थिक उदारीकरण, नव-उपनिवेशीकरण और विश्व पूंजीवाद को उपस्थिति ने रचा है। भारत की लोकतांत्रिक राजनीति और समाज व्यवस्था विश्व पूंजीवाद के नए और निर्णायक हमले से निरंतर प्रभावित हो रही है। मुद्रित सामग्री एवं जन संचार साधनों पर वर्चस्व कायम कर एक नए सांस्कृतिक एवं आर्थिक माहौल की रचना की जा रही है। अक्षर या शब्द को पढ़-लिख लेने की क्षमता का यह अर्थ निकालना नासमझी होगी कि इसके द्वारा इस माहौल के अंतर्विरोधों को समझने और उनसे जूझने की किसी ताकत का विकास इन नव-साक्षरों में हो जायेगा। इन कार्यक्रमों से जुड़े लोग इस तथ्य से अपरिचित हों, ऐसा नहीं है, परन्तु वेतन भोगी नौकरशाही और दान पर पलने वाले गैर सरकारी स्वयं-सेवी संगठनों की सम्पूर्ण शक्ति आँकड़ों को सजाने-संवारने में लगी रहती है ताकि उनके अपने हितों पर कोई आँच न आये।

साक्षरता के प्रसार को एक प्रकार की सांस्कृतिक कार्रवाई कहने वालों में पाओलो फ्रेरे अकेले नहीं थे, लेकिन साक्षरता की यह विवेचना उन्होंने काफी अलग ढंग से की। उदारवादी यानी लिबरल राजनीतिक चिंतन प्रणाली में बहुत समय से साक्षरता को मनुष्य की गरिमा का आवश्यक अंग बताया जाता रहा है। इसी सिलसिले में साक्षरता को व्यक्ति की स्वतंत्रता के साथ जोड़ने की परम्परा इतनी मजबूत रही है कि आज यह सम्बन्ध एक विश्वास का रूप ले चुका है। चूंकि भौतिक समृद्धि भी व्यक्ति की स्वतंत्रता के दरवाजे खोलती है, इसलिए गरीबी, निरक्षरता और पराधीनता का एक तार्किक समीकरण उदारपंथी विचारधारा में स्वीकृत रहा है। फ्रेरे को पढ़ते समय बहुत से लोगों को यह भ्रम हो जाता है कि फ्रेरे भी इसी परम्परा के चिंतक हैं। इसी भ्रम के चलते यह मानना स्वाभाविक हो जाता है कि फ्रेरे ने आज के संसार में गरीबी दूर करने के लिए साक्षरता के तेजी से प्रसार का एक कारगार रास्ता बताया, यही उनका प्रमुख योगदान है। अपने निधन से कुछ ही पूर्व फ्रेरे ने कहा था कि उनका शिक्षा दर्शन आज प्रचलित विचारधारा के प्रतिकूल है। इस बात की सच्चाई एक से अधिक बार अपने ही जीवन में सिद्ध करने के बावजूद फ्रेरे पिछले पच्चीस वर्षो में लगातर इस ढंग से पढ़े गये जैसे वे आज की प्रचलित विचाराधारा के साथ रहे हों। 'विकास' कार्यक्रमों में फ्रेरे की शब्दावली की सांकेतिक उपस्थिति इस भ्रांति का प्रमाण है। 'विकास' के आज के चालू मायने के संदर्भ में साक्षरता की सहज विवेचना और फ्रेरे के चिंतन को एक प्रकार का समाज सुधारवादी कार्यक्रम मानने की प्रवृत्ति भी इसी भ्रांति के स्वाभाविक परिणाम हैं। 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' में फ्रेरे का दर्शन काफी जटिल और प्रायः अमूर्त रूप में अभिव्यक्त हुआ है। उसे पढ़कर किसी जनशिक्षा कार्यक्रम के व्यावहारिक निर्णय आसानी से नहीं लिए जा सकते, यद्यपि उस पुस्तक को एक प्रकार की मार्गदर्शिका मानने की प्रवृत्ति काफी व्यापक रही है।

फ्रेरे का चिंतन और उससे उपजने वाले निर्देश लगातार यह माँग करते हैं कि कुछ भी करने से पहले अपने समाज की छानबीन की जाये और विशेषकर उन ढांचों या सरंचनाओं को पहचाना जाये जिनके भीतर निरक्षरता एक अनिवार्य तार्किक परिणिति के रूप में व्याप्त रही है और आंकड़ों के स्तर पर घटते जाने के बावजूद वास्तव में फैलती और गहराती चली गई है। कुछ ढांचे हमारे राष्ट्रीय समाज के भीतर हैं, तो कुछ अन्य ढांचे बाहर यानी विश्व के स्तर पर हैं। दोनों ही किस्म के ढांचे धनी और निर्धनों के बीच आर्थिक और राजनीतिक सम्बन्धों को आकृति देते हैं और इन आकृतियों की मदद से ही यह ढांचे हमारी पहचान में आ सकते हैं, किन्तु इन ढांचों की जन्मभूमि मनुष्य की चेतना है। लम्बे समय से समाजीकृत होती आ रही परपीड़क और उत्पीड़ित वर्गों की सामान्य चेतना संसार की मौजूदा स्थिति को एक तरह की सरल स्वाभाविकता के आलोक में ढँकती चलती है। यह आलोक एक ओर उत्पीड़न के कुत्सित यथार्थ को छिपाता है, और दूसरी ओर परिस्थितियों में परिवर्तन की स्वाभाविक इच्छा को एक व्यक्तिगत परिधि में समेटता चलता है।

जागरूकतापूर्ण सूक्ष्म अवलोकन करें तो देख सकते हैं कि सामान्य तौर पर साक्षरता और शिक्षा इसी वंचक आलोक का प्रसार करने के माध्यम हैं। फ्रेरे की दृष्टि से देखें तो लगेगा कि आर्थिक सम्बन्धों के दायरे में हुईं सामाजिक क्रांतियां भी इस आलोक से नहीं जूझ सकीं। फ्रेरे जिस सांस्कृतिक कार्रवाई की बात करते हैं, वह ऐतिहासिक विवेक से अनुप्राणित होने के कारण यह आशा जगाती है कि साक्षरता का यांत्रिक और शिक्षा का व्यक्तिवादी स्वरूप बदलेगा। संस्कारों की व्यंजनाओं के सिलसिले में खोजे गये कुछ बुनियादी शब्दों की मदद से चेतना का एक नया सामूहिक स्तर उद्घाटित करने की चुनौती फ्रेरे का विश्लेषण हमारे सामने रखता है। फ्रेरे ने बहुत साफ तौर पर अपने चिंतन को व्यवहारवादी सोच से अलग करके दिखाया है। इन दिनों शिक्षा के विमर्श की शब्दावली जिस तेजी से निरन्तर उथली

होती जा रही है, वह शिक्षाकर्मियों के लिए भारी चिंता का विषय है। फ्रेरे निश्चय ही इस वातावरण में भाषा के अवमूल्यन से जूझने का माद्‌दा प्रदान करते हैं।

स्पष्टतः पाओलो फ्रेरे के विचार एक खास स्थिति और परिवेश से जुड़े विचार हैं। उसकी साक्षरता पद्धति की स्वीकार योग्य दक्षता के आधार पर उसे अमूर्त सार्वभौमिकता के रूप में प्रोत्साहित करने की कोई भी कोशिश न सिर्फ उसे गलत ढंग से प्रस्तुत करना होगा, साथ ही उसे विरूपित करना भी होगा। वह खास स्थिति जिसने फ्रेरे के दृष्टिकोण को उत्पन्न किया है और जिसे वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं वह है कि कथित 'अविकसित' देशों और उनमें भी खासकर लैटिन अमरीका के राष्ट्रीय राजनीतिक परिदृश्य में व्यापक जन उभार। भूमंडलीय संदर्भ में यह स्थिति समकालीन इतिहास के मंच पर तीसरी दुनिया के उभार से उत्पन्न हुई है। यह एक ऐसी स्थिति है जो बहुत सी उत्तेजनाओं से भरी है तो साथ ही अनेकानेक निराशाजनक संभावनाओं से युक्त भी है। भूमण्डलीकरण के नाम पर किया जाने वाला तीसरी दुनिया का वि-उपनिवेशकरण या तो सम्पूर्ण मानव जाति के लिए सच्ची मुक्ति के द्वार खोल देगा या फिर अधिक सक्षम पालतू बनाने का मार्ग प्रशस्त करेगा। इसलिए यह एक ऐसी स्थिति भी है जो शिक्षा के अर्थ और पद्धतियों के दोबारा परीक्षण की मांग करती है।

फ्रेरे सिद्धान्त ने बहुत स्पष्ट रूप से लैटिन अमरीका में निरक्षर किसानों के बीच आश्चर्यजनक परिणाम दिये हैं और औद्योगिक संसार में सीमांत या अप्रभावी समूहों के बीच भी अपना असर छोड़ा है। राजनीतिक और शैक्षिक सत्ता पर अधिकार रखने वाले यदि इस सिद्धान्त से डरे नहीं तो भी ऐसे दर्शन पर आधारित पद्धति को ग्रहण करने में सावधानी बरतेंगे, इस बात को समझना मुश्किल नहीं है। वस्तुतः पाओलो फ्रेरे के विचार की आत्मा में एक अनुभव निहित है और जिसे वे 'खामोशी की संस्कृति' कहते हैं, उसका सुस्पष्ट बोध है। उनकी परियोजना का मूल इसी को समाप्त करने का निर्णय है। हालांकि खामोशी की संस्कृति को सही ढंग से

व्याख्यायित किया जाना और संरचनात्मक रूप से विश्लेषित किया जाना है, लेकिन रूढ़िगत चरित्र इसकी खास पहचान है। यह आदेश है, विज्ञप्ति है, सूचना है संक्षेप में, पूर्व संशोधित और पूर्व ग्राह्य यथार्थ है।

न सिर्फ यथार्थ के रूप में वरन् इसके अपने ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में, तीसरी दुनिया लम्बे समय से ऐसी पूर्व अधिकृत परिभाषाओं पर निर्भर रही है। आम तौर पर ऐसा पूर्व चर्वण भोजन ऐसे प्राणियों के लिए होता है जो दूसरों पर निर्भर होते हैं, उनकी 'वस्तु' होते हैं और जो खुद अपने लिए नहीं वरन्, दूसरों के लिए होते हैं क्योंकि तीसरी दुनिया के इतिहास का निर्माण उसके अपने लिए नहीं हुआ था, इसलिए उसके अर्थ को परिभाषित भी दूसरों ने किया है। वास्तव में तीसरी दुनिया को पर्याप्त रूप से सर्वोत्कृष्ट 'वस्तु संसार' के रूप में व्याख्यायित किया जा सकता है। यह ऐसा संसार है जो दूसरों के द्वारा 'खोजा गया', जिस पर आक्रमण किया गया, जिसे अधीनस्थ बनाया गया, शासित किया गया और तब इसे शिक्षित किया गया, बदला गया और इसकी 'मदद' की गई। इस व्यवस्थाबद्ध चिंता और कार्रवाई का मकसद इसको काबू में रखना था। पहली दुनिया के तथाकथित परोपकारी शासन के तहत तीसरी दुनिया को काबू में रखना हाल के इतिहास की विषयवस्तु रहा है और अभी भी है। इस अपूर्व उत्तरदायित्व को पूरा करने में सिर्फ सेनाओं और अधिकारियों ने ही नहीं गिरजाघरों, मिशनरियों और विश्वविद्यालयों ने भी योगदान किया है।

तीसरी दुनिया से उठने वाली बहुत सी आवाजों में से एक आवाज के रूप में फ्रेरे की चुनौती पहली दुनिया के उत्पीड़ितों के साथ -साथ तीसरी दुनिया के लिए भी है ताकि तीसरी दुनिया उस इतिहास की और सारतः उसके अमानवीय चरित्र की पुनः खोज करे और एक सच्चे मानवीय और सार्वभौम इतिहास की रचना के अभियान में एकजुट हो।

यह अनावश्यक प्रतीत होता है कि फ्रेरे के इस आह्वान और उनके शिक्षा दर्शन की यूटोपियाई प्रकृति पर बल दिया जाये। ये इस अर्थ में यूटोपियाई नहीं हैं कि इन्हें साकार नहीं किया जा सकता बल्कि इस अर्थ में कि वे अमानवीय यथार्थ की भर्त्सना को तथा और अधिक संभव मानव यथार्थ की घोषणा को एक ही परिप्रेक्ष्य में एक्यबद्ध करता है, और इस प्रकार प्राथमिक रूप से भविष्य की ओर उन्मुख होता है। यह भी कहना होगा कि यह इस अर्थ में भी यूटोपियाई है कि स्थापित व्यवस्था की ताकतें उसके विरूद्ध इतनी सुसज्जित हैं कि इनकी ताकत की आसानी से उपेक्षा नही की जा सकती। वे राष्ट्र जो इतिहास में अपनी जगह बना रहे हैं, अपनी आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्थाओं में ही नहीं बल्कि अपने वर्तमान शासकों की मानसिकताओं में भी, उनको काबू में रखे जाने की सदियों की कोशिशें के निशान साथ ले जाते हैं।

पाओलो फ्रेरे ने उन समाजों को निर्देशक समाज (डायरेक्टर सोसाइटी) की संज्ञा दी है, तीसरी दुनिया के उत्पीड़ित समाज जिनके औपनिवेशिक शासन में रहे हैं। वे सभी समाज भी जो दूसरे समाजों का उत्पीड़न करते हैं, उन्हें पालतू बनाते हैं, निर्देशक समाज हैं। निर्देशक समाजों के जन माध्यम और स्कूल संप्रेषण और आदेश के अनवरत प्रवाह का निर्माण करते हैं इनमें से कुछ में ही विरोध की क्षमता दिखाई देती है। पूर्व और दक्षिण के सत्य को परिभाषित करने के अधिकार के अपने दावे पर उत्तर और पश्चिम दृढ़ हैं और जिसे दोनों 'अविकसित' कहते हैं, अपने गहन मूल में आत्मा के विषाद को व्यक्त करता है। वस्तुगत रूप से मन की एक ऐसी दशा जिसने इसके आदेशों को विनम्रतापूर्वक आभ्यांतरीकृत कर लिया है। हालांकि 'वस्तु' संसार के आंदोलित होने के संकेत दिखाई देने लगे हैं और यह तेजी से महसूस किया जा रहा है कि पहली दुनिया की सच्चाई अपनी आत्मप्रमाणित परिभाषाओं में नहीं पाई जा सकती, वरन अपने उत्पीड़ितों के जीवन और चेतना में ही उसे पाया जा सकता है। चीन, क्यूबा और तंजानिया के उदाहरण नष्ट नहीं हो गऐ हैं, न ही

वियतनामवासियों के अकल्पनीय दुःखों और साहस को बिना ध्यान दिए भुलाया जा सकता है। जिस वास्तविकता में पीड़ित लोग जी रहे हैं, उसको पुनर्परिभाषित करने वाली नई भाषा बोलने वाले क्रांतिकारी चिन्तक मौज़ूद हैं। भारत समेत ऐसे लोग जहां कहीं भी है पाओलो फ्रेरे की आवाज उन्हें और संबल प्रदान करने वाली है।

फ्रेरे को इतनी जल्दी और इतनी भारी लोकप्रियता क्यों प्राप्त हुई, इसके कई कारण गिनाए जा सकते हैं। उदाहरण के लिए पीटर मैकलारेन और पीटर लियोनार्ड द्वारा संपादित पुस्तक 'पाओलो फ्रेरे-क्रिटिकल एनकाउंटर' (1993) में संकलित कार्लोस अल्बर्टो टोरेंश के लेख 'दि पोलिटिकल पैडागॉजी ऑफ पाओलो फ्रेरे' में इसके कुछ कारण बताए गये है। पहला तो यह कि फ्रेरे के विचारों में अपने समय की प्रमुख प्रभावशाली विचारधाराओं -जैसे ऐतिहासिक भौतिकवाद, हेगेलीय द्वंद्ववाद, अस्तित्ववाद और परिघटनाशास्त्र (फिनोमिनोलॉजी) - के विकसित रूपों का नवोन्मेषकारी संश्लेषण मिलता है, जिसे ईसाई धर्म की प्रगतिशील मान्यताओं की संगति में एक कुशल लेखक द्वारा दार्शनिक धरातल पर प्रस्तुत किया गया है। अतः फ्रेरे के विचारों को शिक्षकों, समाजविज्ञानियों, धर्मविज्ञानियों और राजनीतिक संघर्षकर्मियों के समाज में लोकप्रियता प्राप्त हुई। दूसरा यह कि फ्रेरे की 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' नामक पुस्तक के माध्यम से फ्रेरे के विचार उस समय सामने आये जब लैटिन अमरीका में वर्ग संघर्ष की राजनीति बड़े सघन रूप में चल रही थी। यह क्यूबा की क्रान्ति (1959-61) के सफल होने और उस क्षेत्र में पहली समाजवादी सरकार की स्थापना (1962) का समय था। अफ्रीका और लैटिन अमरीका में जगह-जगह मुक्ति आन्दोलन चल रहे थे और प्रगतिशील तथा वामपंथी शक्तियों की स्थिति मजबूत हो रही थी। क्यूबा की क्रांति से घबराकर (अर्थात अन्य देशों में वैसी क्रांति न होने देने के लिए) उत्तरी अमरीका के कैनेडी प्रशासन ने 'एलाएंस फार प्रोग्रेस' की परियोजना के तहत दक्षिणी अमरीका के देशों में आर्थिक, राजनीतिक और शैक्षिक कार्यक्रम चलाने के लिए अपनी तिजोरियां खोल दी थीं। ब्राजील का

राष्ट्रीय साक्षरता अभियान भी उसी पैसे से चलाया गया था। तीसरा और शायद सबसे बड़ा कारण यह था कि फ्रेरे के विचारों को कैथोलिक चर्च का समर्थन प्राप्त था। 1665 की दूसरी वेटिकन काउंसिल के बाद कैथोलिक चर्चों में और कुछ अन्य चर्चों में भी सामाजिक सांस्कृतिक नीति और रणनीति को व्यापक बनाने के लिए कुछ विचारधारात्मक परिवर्तन किये गये थे, जिनकी अनुगूंजें फ्रेरे के विचारों में स्पष्ट सुनाई पड़ती थीं। 1963 में ब्राजील मे हुई ईसाई धर्माध्यक्षों के राष्ट्रीय सम्मेलन में फ्रेरे की साक्षरता की पद्धति को चर्च के शैक्षिक कार्यक्रमों के लिए आधिकारिक रूप से स्वीकार किया गया था और 1970 में जिनेवा की वर्ल्ड काउसिंल ऑफ चर्चेज ने फ्रेरे को अपने शिक्षा विभाग के सलाहकार के रूप में नियुक्त किया था।

यह संदेह उत्पन्न हो सकता है कि पाओलो फ्रेरे की लोकप्रियता कहीं प्रतिक्रियावादियों के प्रायोजित प्रचार का परिणाम तो नहीं? लेकिन तब उपर्युक्त लेख में ही लिखी गई इस बात का कोई तर्क संगत उत्तर मिलना मुश्किल हो जाएगा कि 'इस बीच फ्रेरे के समस्या-उठाऊ शिक्षा दर्शन की पद्धति लैटिन अमरीका के प्रगतिशील शिक्षकों में लोकप्रिय होती गई और उरूग्वे, अर्जेन्टीना, मेक्सिको, चिली, पेरू और इक्वेडोर जैसे अनेक देशों के प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम में अपना ली गयी है।' इतना ही नहीं, इसी लेख में यह भी लिखा गया है कि फ्रेरे के शिक्षा दर्शन की मुख्य अवधारणाएं और 'विवेकीकरण' तथा 'आलोचनात्मक चेतना' जैसे शब्द दुनिया भर के समाजवादी समूहों के राजनीतिक -सांस्कृतिक कार्यक्रम की शक्ति बन गए हैं। अतः इस प्रकार का संदेह अनुचित है।

शिक्षा तथा जीवन परस्पर अभिन्न हैं, ठीक वैसे ही जैसे सिद्धान्त एवं व्यवहार। शिक्षा का कोई भी कार्यक्रम सैद्धान्तिक रूप से स्पष्ट एवं पुष्ट तो होना ही चाहिए साथ ही उसको वास्तविक जीवन की मांगों से प्रादुर्भूत भी होना चाहिए। पाओलो ने जीवन के यथार्थ से समुत्पन्न स्वानुभूत अनुभवों को एक सैद्धान्तिक रूपाकार प्रदान करते हुए शिक्षा का एक नूतन व मौलिक दर्शन विकसित करने का

प्रयास किया। वयस्क शिक्षा के क्षेत्र में उनके मौलिक प्रयोगों व रचनात्मक योगदान का मूल्यांकन सम्यक् रूप से किया जाना समय की मांग है। भारत जैसे विकासशील देशों में, जिनमें कि अशिक्षा एक गम्भीर समस्या के रूप में है तथा राष्ट्र विकास में सबसे बड़ा अवरोध सिद्ध हो रही है, पाओलो के शैक्षिक विचारों से मार्ग दर्शन प्राप्त करने की सम्भावनाएं है अथवा नहीं, उनका चिन्तन तथा उनके द्वारा अपनाये गये व्यावहारिक कार्यक्रम भारतीय परिस्थितियों में कितने प्रासंगिक होंगे, कहाँ तक व्यवहार्य होंगे, यह भी एक व्यवस्थित शोध कार्य के माध्यम से देखा जाना आवश्यक है।

1.8 सम्बन्धित साहित्य का पुनरावलोकन

अएक समालोचनात्मक अध्ययन में टेलर, पाल[10] (1993) फ्रेरे को बीसवीं सदी के सर्वाधिक महत्वपूर्ण शिक्षाविद् जॉन डीवी के समकक्ष मानते हैं। उनका अभिमत है कि फ्रेरे ने निश्चिततः अनेक ऐसे नूतन विचार दिये हैं जिन्होंने शैक्षिक प्रक्रिया को काफी सीमा तक प्रभावित किया है विशेषतया, अनौपचारिक शिक्षा तथा जनशिक्षा को। टेलर फ्रेरे के योगदान में उनके संवाद, आचरण, जीवन्त अनुभवाश्रित शिक्षा, विवेकीकरण तथा ईसाई स्त्रोतों से लिए गये मेटाफर्स सम्बन्धी विचारों को विशिष्ट महत्व का स्वीकार करते हैं। वे फ्रेरे की आलोचना से सम्बन्धित कुछ बिन्दुओं की चर्चा करते हुए कहते हैं कि फ्रेरे की भाषा कठिन है। फ्रेरे ने इसे स्वयं भी महसूस किया तथा उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र का पश्चातवर्ती उनका लेखन अधिक ग्राह्य एवं संवादात्मक है। फ्रेरे 'या तो यह या वह' के रूप में तर्क प्रस्तुत करते हैं। हम या तो उत्पीड़ितों के साथ हैं या उनके विरूद्ध। टेलर का मानना है कि शिक्षण में तो यह एक रोचक प्रस्थान बिन्दु हो सकता है परन्तु बहुत अधिक शाब्दिक रूप में ग्रहण किये जाने पर यह एक सरलीकृत राजनीतिक विश्लेषण के समान प्रतीत होने लगता है। टोरस (1993) के अनुसार फ्रेरे दैनन्दिन की परिस्थितियों को इस प्रकार रूपान्तरित करते दिखायी देते हैं ताकि वे शिक्षाशास्त्रीय हो सकें। उनके अनुसार फ्रेरे

का उपागम संरचित शैक्षिक पारस्थितियों के चहुं ओर ज्यादातर विनिर्मित किया गया है उनका प्रारम्भिक सन्दर्भ बिन्दु भले ही निरौपचारिक हो, शैक्षिक मुठभेड़ जो वे खोजते हैं, औपचारिक ही रहती है। दूसरे शब्दों में, उनका उपागम पाठ्यक्रम आधारित ही है। शिक्षक शिक्षण योग्य क्षणों को तलाशता है, परन्तु जब वह केवल इसी पर अपना पूरा ध्यान केन्द्रित करता है तो दूसरे से संवाद करना गौण हो जाता है।

टेलर का मत है कि फ्रेरे जिसे मुक्ति की प्रक्रिया कहते हैं, गौर से देखने पर वह बैंकिंग शिक्षा ही नजर आती है। दूसरे शब्दां में फ्रेरे की शिक्षा समस्या उठाऊ शिक्षा की आड़ में सभी प्रकार के विचारों और मूल्यों की तस्करी करती नजर आती है।

फ्रेरे के साक्षरता कार्यक्रम का टेलर द्वारा किया गया विश्लेषण प्रकट करता है कि- जिस प्रभावी व अलंकारिक ढंग से संवाद, घनिष्ठता, समता के महत्व की घोषणा तथा खामोशी, रेवडीकरण (मासीफिकेशन) तथा उत्पीड़न की भर्त्सना की जाती है, वह व्यवहार में बैंकिंग शिक्षा प्रणाली के अन्तर्निहित संदेश तथा तौर-तरीकों से मेल नहीं खाती है। फ्रेरे का उपागम, यद्यपि उदार व सुखद है तथापि यह उस प्रणाली से जिसकी वह इतनी वाकपटुता के साथ आलोचना करते हैं केवल मात्रा में ही भिन्न लगता है, प्रकार में नहीं। (टेलर 1993:148) शिक्षकों को पढ़ाना ही पड़ता है। उन्हें 'सूचना के हस्तान्तरणों' को जानने के एक वास्तविक कार्य में रूपान्तरित करना ही होता है (वही: 43)

फ्रेरे के साक्षरता के मॉडल को लेकर भी समस्यायें हैं। जबकि इसे उत्तरी राज्यों की राजनीतिक योजनाओं के लिए एक चुनौती के रूप में देखा जा सकता है, उनका विश्लेषण मूलतः 'संज्ञानात्मक विकास तथा साक्षरता का तार्किकता से सम्बन्ध' की उन्ही मान्यताओं पर ही आधारित है, जो संदेहास्पद ठहरायी गयी है। फ्रेरे स्वायत्तशासी मॉडल से पूरी तरह छुटकारा नहीं पा सके हैं। (पूर्वोवक्त 14)

टेलर फ्रेरे के योगदान की मौलिकता पर भी प्रश्नचिन्ह लगाते हैं। टेलर के शब्दों में- यह कहना कि फ्रेरे का चिन्तन रामाहारक है, जैसा कि बहुत रो टिप्पणीकार कहते हैं, फ्रेरे के अन्य स्त्रोतों से उधार लिये गये विचारों की मात्रा को कम करते हुए आंकना है । टेलर (1993:34-51) पीडागोजी आफ आप्रेस्ड तथा कोसिक्स की पुस्तक डायलेक्टिक ऑफ दी कॉन्क्रीट (1960 मध्य में स्पेनी में प्रकाशित) में संभवतः सर्वाधिक रोचक समानतायें ढूंढते हुए बडी संख्या में इन प्रभावों व आत्मसात किये गये विचारों को सामने लाते हैं। मार्टिन बूबर के संवाद मुठभेड, आस्ति, तथा नीतिपरक शिक्षा सम्बन्धी विचार भी फ्रेरे के चिन्तन में बडी तीव्रता से प्रतिध्वनित होते दीख पड़ते हैं।

पाओलो फ्रेरे संस्थान द्वारा निम्न क्षेत्रों में शोध कार्य किया जा रहा है-

प्रौढ़ एवं युवा शिक्षा, छात्र-व्यय विद्यालय प्रशासन एवं सम्बन्ध, जनतांत्रिक नियोजन व राजनैतिक शैक्षिक विद्यालय योजना, विद्यालय चार्टर एवं विद्यालय एथनोग्रेफी, संवादात्मक मूल्यांकन, परिवेश शिक्षा तथा सूचना-विज्ञान का शिक्षा में प्रयोग।

शिक्षा के क्षेत्र में शोध को विकसित करने के उद्देश्य से 4 नवम्बर 1998 को पाओलो फ्रेरे इन्स्टीट्यूट को लेटिन अमेरिकन काउन्सिल आफ सोशल साइन्सिज का महासचिव बनाया गया। CLASCO की शिक्षा समिति का उद्देश्य लेटिन अमेरिकन शिक्षा के केन्द्रीय मुद्दों का अध्ययन करना तथा क्षेत्र की शिक्षा से सम्बन्धित शोध व जन नीतियों के विषय में परामर्श देना है।

पाओलो फ्रेरे संस्थान द्वारा पूर्व में निम्न शोध कार्य किये गये हैं-

टेलीविजन का आलोचनात्मक अध्ययन एवं गुणात्मक अनुसंधान विद्यालय योजना (1995)- विषय सामग्री के इस आलोचनात्मक विश्लेषण में कार्य समूह प्रविधि का प्रयोग किया गया। इसमें संस्थान के सदस्यों के साथ गोष्ठी, सैद्धान्तिक

संदर्भ का परिभाषीकरण व अध्ययन, शोध प्रश्नों का परिभाषीकरण, छात्रों के साथ स्टूडियो में शोध, वैयक्तिक कार्य, वीडियो छात्र-पुस्तिका व शिक्षक-पुस्तिका का उपयोग, आलोचनात्मक रिपोर्टों की व्याख्या तथा विषय-वस्तु के मूल्यांकन की दृष्टि से कथानकों का अध्ययन शामिल था।

इस शोध में निम्नलिखित पक्षों पर विचार किया गया है। (अ) नवीन विषय वस्तु का अधिगम (ब) टीवी की भाषा के साथ समायोजन (स) पुस्तिकाओं (बुकलेट्स) की भाषा तथा चित्रों (ग्राफिक्स) के साथ समायोजन (घ) विषय सामग्री के उपयोग के विभिन्न तरीके। ब्राजीलियन कम्पनी फॉर रिसर्च एण्ड एनेलिसिस के स्टूडियोज में उम्र व अन्य विशेषताओं में भिन्न समूहों के निरीक्षण के गुणात्मक अनुसंधान द्वारा निम्न उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया गया।

(अ) टेलीविजन कार्यक्रमों में उठाये गये विषयों व मुद्दों का अवबोध।

(ब) कार्यक्रम से संतुष्टि तथा इसके प्रबल व कमजोर पक्ष।

(स) कार्यक्रमों के विषयों, चरित्रों व दृश्यों आदि के प्रति प्रतिक्रिया।

(द) कार्यक्रम के प्रति कितनी रूचि हैं? कार्यक्रम से क्या सीखा? कथानकों की उपयुक्तता तथा विषय वस्तु की विश्वसनीयता कितनी है? इस सम्बन्ध में प्रत्यक्षीकरण आंकड़े प्राप्त करना।

(य) कार्यक्रम व विषय-वस्तु के सम्बन्ध में सामान्य राय।

पाओलो फ्रेरे : जीवनवृत- नामक शोधपूर्ण पुस्तक का लेखन व प्रकाशन (Research and Elaboration of the Book, Paulo Freire: Bibliography:)

यूनेस्को तथा कोर्टेज पब्लिशर्स (1996) के सहयोग से पाओलो फ्रेरे के जीवन तथा कार्यो के इस सर्वाधिक पूर्ण स्त्रोत का संपादन किया गया। डा0 मोअसिर गाडोती के नेतृत्व में एक दल द्वारा चार वर्षो के गहन अध्ययन व अनुसंधान के

फलस्वरूप यह प्रयास सफल हो सका। सम्पूर्ण विश्व में दर्जनों विश्वविद्यालय पुस्तकालयों तथा अध्ययन केन्द्रों से इन्होंने आंकड़ो व सूचनाओं का संग्रह किया। पाओलो फ्रेरे के विषय में शोध व बिब्लियोग्राफी का विश्लेषण मूलतः एडमार्डे सेराफिम डी ओलिवियेरा के अध्ययन पर आधारित था, जिन्होंने बीस वर्षो से अधिक समय इस कार्य के लिए समर्पित किये थे। पाओलो फ्रेरेः ए बिब्लियोग्राफी पुस्तक फ्रेरे के सम्बन्ध में एक आधारभूत सन्दर्भ होने के साथ समकालीन शिक्षा के कतिपय सर्वाधिक गत्यात्मक प्रत्ययों से सम्बन्धित शोध का एक अत्यन्त उपयोगी स्त्रोत बन चुकी थी। इसका स्पेनी अनुवर्द्धित संस्करण (सिगलो पब्लिशर्स), एक आंग्ल संस्करण (जेड पब्लिशर्स, लंदन) तथा एक द्वितीय पुर्तगाली संशोधित व परिवर्धित संस्करण प्रेस में है।

जनतांत्रिक विद्यालय संगठन सम्बन्धित शोध (1996) - यह शोधकार्य जनतांत्रिक विद्यालय संगठन के समृद्ध ब्राजीली अनुभवों से सम्बन्धित है। फोर्ड फाउन्डेशन द्वारा अनुदानित यह कार्य नेशनल कौन्सिल ऑफ स्टेट एजूकेशन सैक्रेट्रीज (CONSED) द्वारा पाओलो फ्रेरे संस्थान को सौंपा गया है। संस्थान द्वारा विद्यालय नेताओं के चुनाव, विद्यालय परिषदों या संघों के गठन व कार्यान्वयन तथा विद्यालय प्रशासन में स्व-शासन की प्रक्रिया पर ध्यान केन्द्रित करते हुए संस्थान द्वारा अनेक राज्यों के अनुभवों को शोध में संग्रहित, संगठित व विश्लेषित किया गया है।

प्रति छात्र, प्रति वर्ष व्यय संगणक प्रणाली सम्बन्धी शोध (1996) - संस्थान की एक टीम द्वारा मिनास जिरासिस राज्य के यूज डी फोरा में अर्थशास्त्रियों, विश्लेषकों, तथा बजट गणनाकर्ताओं की सहायता से एक व्यापक बिब्लियोग्राफिक व क्षेत्र आधारित अध्यययन प्रति छात्र प्रति वर्ष संगणना प्रविधि विकसित करने के उद्देश्य से सम्पन्न किया गया।

साओ पाओलो के 'एन्जिन इन्फॉर्मेटिका के तकनीकी कार्य ने इस प्रविधि को एक ऐसे उपयोगी साफ्टवेयर का रूप दे दिया जिसकी मदद से कोई भी सरलता से

किसी भी विद्यालय प्रणाली (संघीय, राज्यीय, परिषदीय या निजी) अथवा किसी भी एकाकी विद्यालय के अन्तर्गत प्रति छात्र-प्रतिवर्ष लागत व्यय तथा विद्यालय के प्रत्येक लागत व्यय तत्व के प्रभाव की गणना कर सकता है।

स्कूल चार्टर प्रोजेक्ट (1997) - ज्यूज डी फोरा में ही पाओलो फ्रेरे टीम ने इस प्रोजेक्ट को बिकास, मेर्सिस, ओलिवियेरा फोर्टिस, ग्वारारा तथा रेसेन्डे कोस्टा (मिनास जेरोसिस) की नगर पालिकाओं के लिए विकसित किया। स्कूल चार्टर में निम्न बिन्दुओं पर शोध किया जाना तय किया गया।

(अ) भौगोलिक स्थिति (भौतिक, मानवीय एवं परिस्थितिकी सम्बन्धी पक्ष)

(ब) प्रत्येक स्थान के पूर्व-उपनिवेश व उपनिवेश काल से लेकर साम्राज्यवादी तथा रिपब्लिकन काल तक का इतिहास

(स) शैक्षिक दशायें- संरचना, भौतिक संजाल, शैक्षणिक स्टाफ, विद्यालय निष्पादन एवं विद्यालय जनसंख्या

इस प्रोजेक्ट की सहायता से प्राप्त आंकड़ों का उपयोग कर पाओलो फ्रेरे संस्थान (ज्यूज डी फोर्स) ने एन्जिन इन्फोमेटिका की सहायता से पूर्वोक्त विशिष्ट साफ्टवेयर विकसित किया।

पाओलो फ्रेरे संस्थान में (1992-98) के मध्य सम्पन्न हुए अन्य शोध-कार्य-

1. प्रौढ़ शिक्षा में भाषायी योगदान-मारिया जोस डो वेली
2. प्रौढ साक्षरता में प्रारंभिक पठन व लेखन पर सामाजिक-निर्माणवादी दृष्टिपात -मारिया जोंस डो वेली
3. साओ पाओलो राज्य में विद्यालय प्रशासन का विस्तार, एक एथेनोग्राफिक अध्ययन-एंजिला एन्जूयन्स सिस्की

4. एक राजनैतिक-शिक्षा शास्त्रीय प्रोजेक्ट के विस्तार हेतु पठन वास्तविकता का प्रस्ताव-एन्जिला सिस्की
5. दस वर्षीय सर्व शिक्षा अभियान में नियोजन का संप्रत्यय-पाओलो रोबर्टो पाडिल्हा
6. पब्लिक स्कूलों में शिक्षाशास्त्रीय स्वायतत्ता की अवधारणायें तथा इनका प्रयोग-एलिस अकेमी यामास्की
7. युवा एवं प्रौढ़ शिक्षा में पर्यावरणात्मक एवं उत्पत्तिशील मुद्दे-लुइज मेरीन जोस डो नेसीमेन्टो
8. युवा एवं प्रौढ शिक्षा में सामायिक परिप्रेक्ष्य-जोस एस्टाक्यीओ रोमेओ।
9. सामाजिक निर्माणवाद तथा पाओलो फ्रेरे विधि-सोनिया कोयिटो फीहोजा
10. जरगेन हेबरमास के सम्प्रेषणात्मक क्रिया-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में राजनैतिक शिक्षा शास्त्रीय प्रोजैक्ट की रचना-बियान्को जेलमोरा गार्सिया
11. विद्यालय परिषद एवं सहभागी प्रशासन-एन्जिला रूट्यून्स सिस्की
12. साओ पाओलो राज्य व्यवस्था के स्कूलों में नवाचार अनुभव-जोस यूसरेक्यो रोमायो।
13. सांस्कृतिक मूल्यांकन की आवश्यकतायें एवं दशाएं-गोआसिर गाडोती
14. सिटीजन स्कूल के परिप्रेक्ष्य में विद्यालय निदेशकों का निर्माण-एन्टोनिओ जोआओ मानफियो तथा पाओलो रोबर्टो पदिल्हा
15. सिटीजन स्कूल परिप्रेक्ष्य में पाठ्यक्रमों का संरचनात्मक रूपान्तरण- मारिया बेली तथा रीनेल्जे फ्लियूरी

16. पाओलो फ्रेरे- उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र से परिस्थितिकीय शिक्षाशास्त्र तक- मोआसिर गाडोती

17. वहुस्वरताः पाओलो फ्रेरे के लेखों से लिये गये कुछ मूल विचार-एन्जिला सिसेकी एवं अन्य

संस्थान में प्रगति की ओर अग्रसर कार्य-

1. "लेटिन अमेरिका में राज्य एवं शिक्षक संघ- पांच लेटिन अमेरिकी देशों-ब्राजील, चिली, अर्जेन्टीना, कोस्टारिका व मैक्सिको में सरकारों व शिक्षक संघों के सम्बन्धों का अध्ययन-थालोंस अलवार्दो टोरेस, मोआसिर गाडोती, ऐनामेरिया तथा जोआवो सेन्टोस

2. सहभागिताः अन्तर सांस्कृतिक सम्बन्ध के रूप में-पाओलो रोबार्टो पादिल्हा

3. परिस्थितिकी शिक्षाशास्त्र एवं ग्रह (विश्व नागरिकता) फ्रांसिस्को ग्यूटीरेज, गाडोती, फेबियो केसिनो व लुइज ओलिवियेरा

4. इन्टरनेट के माध्यम से दूरस्थ शिक्षा-वाल्टर गार्सिया

5. पितृत्व व्यवहार-पाओलो सिल्विरा व मोआसिर गाडोती

6. ब्राजील में मूल अनुदेशन का विकासः सांख्यिकीय विश्लेषण तथा शैक्षिक सूचक- मोआसिर गाडोती

7. पाओलो फ्रेरे के विचारों के प्रारम्भिक स्त्रोत-लुटगार्डेस फ्रेरे, फातिमा फ्रेरे व अन्य

8. सिटीजनशिप एवं राजनैतिक- शिक्षा शास्त्रीय प्रोजेक्ट- क्लॉडिनेली एम रामोस

9. एजूकेशन एण्ड इन्फार्मेटिक नेटवर्क्स-मार्गेरीट विक्टोरिया, गोमेज एवं ई0 एम0 सेन्टोस

पुस्तकें :-

फ्रेरे पाओलो (1995) पीडागोगी ऑव दी होप रीलिविंग पीडागोगी आफ द आप्रेस्ड- यह पुस्तक जो कि उनके प्रारंभिक कार्य की भूमिका के रूप में शुरू हुई थी क्रमशः एक पूर्ण पुस्तक के रूप में परिवर्धित हो गयी। इसका महत्व फ्रेरे के चिन्तन की विषय वस्तु व उसको ग्रहण करने के स्वरूप के साथ-साथ उसके फलस्वरूप नीति व व्यवहार के विकास में निहित है। पुस्तक सीधे, स्पष्ट व संवादपूर्ण तरीके से लिखी गयी है।

फ्रेरे, पाओलो (1996) क्रिस्टरीना को पत्र, मेरे जीवन तथा कार्यो पर प्रकाश- फ्रेरे के जीवन गाथा से सम्बन्धित इस पुस्तक में फ्रेरे के जीवन व कार्य का पुनरावलोकन अपनी भांजी को लिखे पत्रों के रूप में किया गया है। फ्रेरे अपने बाल्यकाल व युवावस्था के अनुभवों की ओर मुड़कर देखते हैं। वह अपने जीवन पर एक शिक्षक व नीति निर्माता के रूप में निगाह डालते हैं। फ्रेरे कहते हैं कि ऐसा कोई वास्तविक शिक्षण नहीं है जिसमें अनुसंधान न हो। शिक्षण में प्रश्न करना, अन्वेषण, जिज्ञासा, रचनात्मकता के सब अनुसंधान के ही मूल तत्व हैं।

रीडिंग पाओलो फ्रेरे - हिज लाइफ एण्ड वर्क पाओलो- इस पुस्तक में पाओलो फ्रेरे के निकट सहयोगी रहे मोआसिर गाडोती (1994) स्वीकार करते हैं कि- निर्वाचन के दौर में फ्रेरे के द्वारा किया गया कार्य अत्यधिक महत्वपूर्ण था। चिली में उन्हें व्यापक व संतुष्टिकारक राजनैतिक क्षेत्र प्राप्त हुआ जिसमें उनके विचारों को खुले रूप से रखने तथा उन्हें व्यवहार में लाने के पर्याप्त अवसर थे।

समूह में सामाजिक कार्य की हस्तपुस्तिका- (हेन्डबुक ऑफ सोशल वर्क विद् ग्रुप) मीडा जे, गैलिन्स्की, सोशल साइन्स, 2004- इस पुस्तक में सहभागी- अनुसंधान

को सामाजिक कार्य के व्यवहत रूप में प्रयोग करने की पद्धति के रूप में वर्णित किया गया है। पुस्तक में चर्चा की गयी है कि इसका प्रयोग कब उचित व वांछनीय है। शिक्षा को मुक्ति की सामाजिक कारवाई मानते हुए उसमें फ्रेरे के विचारों को कैसे प्रयोग में लाया जाये, इसकी चर्चा इस पुस्तक में है।

पीटर रीजन तथा हिलेरी ब्रेडबेरी द्वारा सम्पादित क्रियात्मक अनुसंधान सहभागी अन्वेषण तथा अभ्यास की हस्तपुस्तिका (हैण्ड बुक आफ एक्शन रिसर्च, पार्टीसिपेटिव इन्क्वायरी एण्ड प्रेक्टिस (2001) में भी क्रियात्मक अनुसंधान में पाओलो फ्रेरे की उपयोगता को स्वीकार किया गया है। वे मानते हैं कि सहभागी अन्वेषण व क्रियात्मक अनुसंधान का जुड़ाव लेटिन अमेरिकी परम्पराओं से है, फ्रेरे के कार्य से यह स्पष्ट होता है।

आलोचनात्मक सिद्धान्त एवं शैक्षिक अनुसंधान (क्रिटीकल थ्योरी एण्ड एजूकेशनल रिसर्च). संपादन पीटर आई मेकलेटन व जेम्स एम जियारेली - साओ पाओलो में पाओलो फ्रेरे के सहयोगी द्वारा इस पुस्तक की रचना की गयी है। उनका नवीनतम शोध कार्य शैक्षिक अनुसंधान में बदलते सामाजिक क्षेत्रों पर है।

सामाजिक विज्ञानों में शोध-विधियाँ (रिसर्च मेथड्स इन दी सोशल साइन्सिज) में ब्रिजेट सोमेख कहते हैं कि सुसान नोफके पाठ्यक्रम व अनुदेशन विभाग का मानना है कि पाओलो फ्रेरे इन्स्टीट्यूट की परम्परा पाओलो फ्रेरे से प्रभावित रही है।

दृष्टव्यः

1. रामशरण जोशी- आदिवासी समाज और शिक्षा, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 2004 पृ0-98
2. भूपिन्दर सिंह (सलाहकार, योजना आयोग, नई दिल्ली) भूमिका आदिवासी समाज और शिक्षा, लेखक-रामशरण जोशी, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण-2004
3. के0जी0 सैयूयदन-भारत में प्रौढ़ शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा विशेषांक, साहित्य परिचय, आगरा, 1978, पृ0 93
4. कान्ता मारवा-प्रौढ़ शिक्षा : उद्‌देश्य और शिक्षा पद्धति, प्रौढ़ शिक्षा विशेषांक, साहित्य परिचय, आगरा, 1978, पृ0 83
5. रमेश चन्द दीक्षित, डा0 गिरीराज शाह व अन्य - मानवाधिकार दशा और दिशा, डायमंड पॉकेट बुक्स प्रा0 लि0, नई दिल्ली। पृ0 157-158
6. मानवाधिकार, दशा और दिशा, पृ0 170
7. अनिल सद्‌गोपाल- सबक सीखने से इन्कार, शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ0 113-114
8. डा0 चन्द्रमोहन भाटिया- प्रौढ़ शिक्षा योजना- एक आधारभूत विश्लेषण, साहित्य परिचय, प्रौढ शिक्षा विशेषांक, आगरा-1978, पृ0 96
9. के0के0 ठेकेदत्त, एजूकेशन एट दी टर्न आफ दी सेन्चुरी, नव कर्नाटक पब्लिकेशन्स प्रा0लि0, बंगलौर, प्रथम संस्करण 1999, पृ0 84
10. पॉल टेलर, दी टैस्ट ऑफ पाओलो फ्रेरे, ओपन यूनिवर्सिटी प्रेस, बकिंगधम

अध्याय-द्वितीय

पाओलो फ्रेरे का जीवन परिचय, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं दार्शनिक चिन्तन

द्वितीय अध्याय

पाओलो फ्रेरे का जीवन परिचय, व्यक्तित्व, कृतित्व एवं दार्शनिक चिन्तन

2.1 जीवन परिचय :-

पाओलो फ्रेरे का जन्म लैटिन अमरीका के सबसे बड़े और सबसे अधिक आबादी वाले देश ब्राजील के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में रेसिफे नामक नगर में 1921 में हुआ था। पाओलो फ्रेरे को बचपन से ही सामंतवादी, पूंजीवादी, साम्राज्यवादी, नस्लवादी और फासीवादी उत्पीड़न के विभिन्न रूप देखने को मिले। वे एक निम्न मध्यवर्गीय ईसाई परिवार में पैदा हुए और बाद में कैथोलिक चर्च से संबद्ध एक धार्मिक व्यक्ति भी रहे, लेकिन ईश्वर और ईसा मसीह में आस्था रखते हुऐ भी उन्होंने वर्ग, नस्ल, लिंग, रंग और देशी-विदेशी के आधार पर किए जाने वाले सामाजिक भेदभाव को ईश्वर की लीला या नियति का खेल नहीं माना। 1929 से 1933 तक के विश्वव्यापी आर्थिक संकट के समय जब साम्राज्यवादी लूट के कारण ब्राजील की अर्थव्यवस्था तबाह हो गयी थी, फ्रेरे का परिवार घोर दरिद्रता की स्थिति में पहुंच गया ।

संयुक्त राज्य के एप्पेलीजिया और ग्रामीण दक्षिण दोनों क्षेत्र कई वर्षों से गरीबी भूख और अशिक्षा की महामारी की चपेट में रहे हैं। उत्तर - पूर्व ब्राजील में जन्म दर सर्वाधिक उॅची थी, आयु सीमा न्यूनतम थी, भीषण कुपोषण था, साक्षरता दर न्यूनतम थी एवं बेरोजगारी व अर्द्ध-बेरोजगारी अपने चरम पर थी । इसके अतिरिक्त इन दोनों क्षेत्रों में और भी अनेक समानताएं हैं। उत्तर-पूर्व ब्राजील के ग्रामीण क्षेत्रों में चीनी स्टेट, दास और खेतीहर मजदूरों का बाहुल्य था, जो दक्षिण की कपास से जुड़ी कृषि अर्थ व्यवस्था से भिन्न नही था। औद्योगीकरण और विकास योजनाओं से ग्रामीण अर्थव्यवस्था बदल गयी, जिसके फलस्वरूप किसानों को गांव से

विस्थापित होकर रेसीफे जैसे शहरों और नगरों की ओर पलायन करना पड़ा । दोनों ही क्षेत्र सत्ता सम्पन्न आर्थिक हितों से सम्बद्ध ताकतों पर निर्भर थे। पहले बागान मालिकों और तत्पश्चात बहुराष्ट्रीय कम्पनीयों का वर्चस्व स्थापित हुआ । दोनों क्षेत्रों में धनी व निर्धन तथा सबल व निर्बल के मध्य खाई बढ़ी ।

पाओलो के पिता सेना के निचले दर्जे के अधिकारी थे परन्तु जनवादी थे । उनका वेतन कम था पर सम्मान ज्यादा था । मंदी के दौरान उनके पिता की यह नौकरी छूट गयी । नौकरी छूट जाने पर वे सपरिवार रेसीफे छोडकर पास के शहर जबातओ चले गये। 1934 में 52 वर्ष की उम्र में उनकी मृत्यु हो गयी । फ्रेरे उस वक्त मात्र 13 वर्ष के थे । पाओलो के माता-पिता निरन्तर गरीबी के कगार पर जीने के साधन जुटाने की जद्दोजहद कर रहे थे । वे अपने बच्चों की पढ़ाई के प्रबल समर्थक थे । पाआलो को याद है कि उनके पिता ने उन्हें आम के पेड़ के नीचे पढ़ने की सीख दी थी। फ्रेरे के माता-पिता अपने मित्रों या अन्य सम्पर्को के जरिये पाओलो को 15-16 वर्ष की उम्र में रेसीफे के एक अच्छे माध्यमिक विद्यालय में भेजने में सफल हुए । पाओलो के लिऐ स्कूली प्रणाली के अनुरूप बनना कठिन सिद्ध हुआ । यहाँ तक की बचपन में उन्हें मंद बुद्धि बालक मान लिया गया ।

यह वह समय था जब लैटिन अमेरिका के प्रायः सभी देशों में क्रान्तिकारी जन आन्दोलनों की लहर चल रही थी । ब्राजील में भी बहुत से लोग स्वाधीनता व समाजवाद के सपने देखते हुए देशी भूस्वामियों और पूंजीपतियों के अल्पतंत्र तथा विदेशी साम्राज्यवाद के विरूद्ध संघर्ष कर रहे थे। उधर देशी अल्पतंत्र और विदेशी साम्राज्यवाद मिलकर फासिस्ट तानाशाहियों के जरिए जन-आंदोलनों का दमन कर रहे थे। 1929-33 के आर्थिक संकट के समय जब ब्राजील की अर्थव्यवस्था चर-मरा रही थी, साम्राज्यवादी लूट और ज्यादा बढ़ गयी थी । उद्योग-धन्धे चौपट हो गये थे, भयंकर बेरोजगारी फैल गयी थी, भूख से लाचार बहुत से लोग खुद को बेचकर गुलाम बनने को मजबूर हो गये थे । शोषण, दमन और उत्पीड़न की मार किसानों

और मजदूरों पर ही नही, मध्य वर्ग पर भी पड़ रही थी। यहाँ तक की देशी पूंजीपति वर्ग भी संकट में था लेकिन विदेशी पूंजी का सहयोगी होने के कारण वह साम्राज्यवाद का विरोध करने के बजाय अपने देश की जनता का ही दमन कर रहा था। फिर भी जनता जगह-जगह विद्रोह कर रही थी।

1934 में, जब पाओलो फ्रेरे 13 वर्ष के थे, ब्राजील की कम्यूनिस्ट पार्टी ने फासीवाद तथा साम्राज्यवाद के विरूद्ध मोर्चा बनाने के लिए जनता का आह्वान किया । फलस्वरूप 1935 में 'नेशनल लिब्रेशन एलायन्स' नामक एक लोकप्रिय मोर्चा बना। क्रांति का खतरा देख देशी अल्पतंत्र और विदेशी साम्राज्यवाद के सेवक प्रेजिडेन्ट गेटूलियो वार्गास ने एलाऐंस पर प्रतिबंध लगा दिया। उसके बावजूद जन-आन्दोलन बंद नही हुए । कई दूसरे नगरों की तरह फ्रेरे के नगर रेसीफे में भी सशस्त्र विद्रोह हुआ । हालांकि इन विद्रोहों को शक्ति से कुचल दिया गया । फिर भी लोगों की क्रांतिकारी भावनाओं को नही कुचला जा सका। इन घटनाओं का प्रभाव फ्रेरे के किशोर मन पर भी पड़ा।

फ्रेरे स्वयं गोरे थे, हाँलाकि वे कहते हैं कि "मै देखने में ही गोरा हूँ, क्योंकि मैं अपने गोरेपन के बारे में आश्वस्त नही हूँ"। लेकिन जब वे प्रभुत्वशाली गोरों को काले लोगों के साथ भेदभाव करते हुए, उन पर अत्याचार करते देखते थे तो उनका खून खौल उठता था। शारीरिक हिंसा से भी ज्यादा बुरी लगती थी उन्हें वह मानसिक हिंसा, जिसका शिकार कालों को कदम-कदम पर होना पड़ता था । कुछ मामलों में तो कालों को पशुओं से भी गया गुजरा समझा जाता था । काले मुनष्यों की तुलना में गोरे अपने पालतू पशुओं से बेहतर व्यवहार करते थे । अपनी युवावस्था में फ्रेरे ने कालों के विरूद्ध की जाने वाली शाब्दिक हिंसा पर विचार किया तो उन्होंने अपने भीतर आक्रोश की जगह चेतना का एक बदलाव महसूस किया। उन्होंने पाया कि ब्राजीली समाज बड़ी गहराई तक नस्लवादी और अन्यायपूर्ण समाज है। यह उत्पीड़नकारी समाज है और इसे बदला जाना चाहिए, इस चेतना के साथ फ्रेरे

अन्याय और उत्पीड़न के सभी रूपों की आलोचना करने लगे । पाओलो ने रेसीफे विश्वविद्यालय में वकालत का प्रशिक्षण प्राप्त किया परन्तु शीघ्र ही उन्होंने यह पेशा छोड़ दिया । फ्रेरे अन्य बौद्धिक प्रभावों के अलावा ईसाइयत के सामाजिक पहलुओं की ओर भी आकर्षित हुए। वे निरन्तर अग्रसरित होते 'कैथोलिक एक्शन मुवमेन्ट' से भी काफी प्रभावित थे जिसने 'लिबरेशन थियालोजी मुवमेन्ट' की आधारशिला रखी थी। विद्यार्थी के रूप में वे उच्च विद्यालय के कैथोलिक एक्शन समूह में सम्मिलित हुए, जो अधिसंख्य चर्चों के विपरीत समाज और सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा से प्रतिबद्ध था और उत्तर-पूर्व की भूख और गरीबी से सही अर्थों में वास्तविक रूप से परिचित था।

पाओलो के व्यक्तित्व को संवारने-निखारने में उनके परिवार के साथ-साथ उनके व्यक्तिगत निजी सम्बन्धों, विशेषतया उनकी पत्नी का महत्वपूर्ण योगदान रहा । 1943 में पाओलो ने एलजा मेरिया कोस्टा डी ओलिविएरा से विवाह किया। इन्हें पाओलो फ्रेरे अपने शैक्षणिक चिन्तन और पद्धति के विकास में सदैव मदद किये जाने का श्रेय देते हैं। 1987 में 42 वर्ष की उम्र की एलजा का देहान्त हो गया। 1988 में पाओलो ने अपनी ही एक छात्रा अन्ना मैरियो अराउजो से पुनर्विवाह भी किया । ये रेसीफे के उस प्रसिद्ध माध्यमिक विद्यालय "ओसवाल्डो क्रूज स्कूल" के निदेशक एल्जीवो अराउजो की पुत्री थीं, जिसमें फ्रेरे पढ़े थे। ये एक इतिहासकार थीं। इन्होंने फ्रेरे के साथ मिलकर ब्राजील में निरक्षरता के इतिहास पर 'एनालफेबिरिसमो नो ब्राजील' नामक "शोध प्रबन्ध" लिखा। वकालत छोड़ने के पश्चात फ्रेरे 1946 से परनामबुको राज्य के लिए सामाजिक सेवा एजेन्सी में काम करने लगे । 1959 में फ्रेरे ने रेसीफे विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ली और वहीं शिक्षा के इतिहास तथा दर्शन के प्रोफेसर नियुक्त हो गये ।

उत्तर-पूर्व ब्राजील में लोकतांत्रिक शिक्षा के लिए चल रहे आन्दोलनों में भी फ्रेरे के विचारों को इसी प्रकार का आधार प्राप्त हुआ। 1950 के दशक के अन्तिम

वर्षों में उदित हो रहे इन आन्दोलनों के दौरान परम्परागत सामजिक ढांचा बदल रहा था। गन्ने की खेती की अर्थ व्यवस्था में निर्भरता कम हो रही थी और तेजी से उद्योगीकरण हो रहा था। उत्तर-पूर्व ब्राजील में परनाम्बुको का सम्पूर्ण इलाका जनवादी और सुधारोन्मुख सरकार के गठन के कारण एक प्रयोगशाला बन गया था, जहां जनता विकास में अपनी सहभागिता की माँग कर रही थी। खासकर दो आन्दोलनों ने साक्षरता और जन-शिक्षा कार्यक्रम को आगे बढाने में मदद की। फ्रेरे इन दोनों आन्दोलनों को आगे बढ़ाने में अपना सहयोग दे रहे थे। इनमें से एक था 'पीजेन्ट लीग' के नाम से जाना जाने वाला ग्रामीण मजदूर संघ या किसान संगठन। 1960 तक उत्तर पूर्व में लगभग 80 हजार मजदूर इन लीगों के सदस्य बन गये । उन्होंने सहकारी संस्थाओं के संगठन और भूमि सुधार के कार्यक्रम के अलावा निरक्षरों के वोट देने के अधिकार की भी माँग की । उस समय तक किसानों को वोट देने का अधिकार नही था । दूसरा आन्दोलन कैथोलिक कार्यकर्ताओं ने शुरू किया और इसमें बुनियादी शिक्षा आन्दोलन या एम0ई0बी0 'मुमेन्टो एडुकेको डे बेस' को शामिल किया गया। इसमें 'पॉपुलर एक्शन' और 'कैथोलिक यूनिवर्सिटी यूथ' जैसे परिवर्तनकारी कैथोलिक समूह भी शामिल थे । फ्रेरे भी इसके सदस्य थे ।

1959 में ही इनकी पहली पुस्तक पुर्तगाली भाषा में प्रकाशित हुई जो आगे चलकर अंग्रेजी में 'एजुकेशन एज द प्रक्टिस आफ फ्रीडम' के नाम से प्रकाशित हुयी। इस पुस्तक में अभी तक उनका दृष्टिकोण मानवतावादी और सुधारवादी ही था, लेकिन इस बीच लैटिन अमरीका के अन्य अनेक देशों की तरह ब्राजील में भी काफी उथल-पुथल हो चुकी थी । कर्ज और सहायता के रूप में आई हुई विदेशी पूंजी विकास के नाम पर ब्राजील का विनाश कर रही थी । मुख्यतः एक खेतीहर समाज औद्योगिक समाज में बदला जा रहा था, लेकिन उद्योग लगा रही थी उत्तरी अमेरिका की बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, जो साम्राज्यवादी लूट को तो बढ़ा ही रही थीं, लूट को जारी रखने के लिए शासन में साम्राज्यवादी हस्तक्षेप को भी बढ़ा रही थीं ।

जनता की हालत खराब थी । वह रह रह कर विद्रोह कर उठती थी । जनता के विद्रोह को दवाने के लिए तानाशाही जरूरी थी । लेकिन जब क्रान्ति का खतरा पैदा हो जाता था, छोटे-मोटे सुधारों या जनता को राहत देने के नाम पर तानाशाही को थोड़ा नरम बनाने का प्रयास किया जाता था अथवा एक तानाशाह को हटा कर दूसरे तानाशाह को बैठा दिया जाता था। लेकिन जनता के दबाव में आकर अगर कोई तानाशाह सचमुच जनता को राहत देने वाले काम करता था, तो उसे हमेशा के लिए रास्ते से हटा दिया जाता था। गेटुलियो वार्गास के अन्तिम शासनकाल में ऐसा ही हुआ था। वार्गास ने अमेरिकी साम्राज्यवाद की आलोचना की और जनता से आर्थिक तथा सामाजिक सुधारों का वायदा किया । ब्राजीली अल्पतंत्र और अमेरिकी साम्राज्यवाद ने मिलकर उसे हटा दिया और उसने 1954 में आत्महत्या कर ली। उसके बाद जल्दी-जल्दी कई शासन बदले । इधर जन-आन्दोलन तेज होते गए और ब्राजील की राजनीति में वामपंथ मजबूत हुआ । इस प्रक्रिया में बहुत से बुद्धिजीवियों ने मार्क्सवाद को अपनाया । पाओलो फ्रेरे भी उनमें से एक थे।

1959 में एक राष्ट्रवादी और परिवर्तनकारी डैमोक्रेट मिगल एराईज रेसीफे के मेयर चुने गये । वे संविधान में मूलभूत परिवर्तन लाना चाहते थे । वे जानते थे कि गांव में रहने वाले गरीबों को शिक्षित किये बिना यह सम्भव नही है । वे बहुसंख्यक थे परन्तु अधिसंख्य निरक्षर होने के कारण वोट नही दे सकते थे। उन्होंने रेसीफे सांस्कृतिक आन्दोलन या एम0सी0पी0 (मुवमेन्टो कल्चरल पॉपुलर) की स्थापना की जिसका उद्देश्य जमीनी स्तर पर लोगों को शिक्षा देना, वयस्क शिक्षा और जनता को जागरूक बनाना था। ऐसा करने से किसानों को अपनी राजनीतिक शक्ति के उपयोग के लिए लामबंद होने में मदद मिलेगी, यह सोच कर फ्रेरे के हाथों में इस कार्यक्रम की बागडोर सौंपी गयी । इस साक्षरता शिक्षा- प्रक्रिया को अग्रसर करने के लिए उन्होंने सांस्कृतिक केन्द्र और सांस्कृतिक समितियाँ गठित कीं। इस प्रकार रेसीफे और

उसके आसपास के क्षेत्र में उनके विचार प्रसारित होने लगे, जो जनता की मांग और उस समय के राजनीतिक आन्दोलन से गहरे रूप में जुड़े थे ।

इस समय पूरे देश में जागरूकता और परिवर्तन की लहर आई हुई थी। विभिन्न शक्तियाँ गतिशील थीं और यह प्रक्रिया पीछे लौटने वाली नही थी । इसके फलस्वरूप पुराना समाज टूट रहा था और एक अधिक लोकतांत्रिक और बहुलवादी सामाजिक व्यवस्था का उदय हो रहा था । ब्राजील की जल्दी-जल्दी बदलने वाली सरकारों में एक थी अक्टूबर 1960 से अगस्त 1961 तक चली जेनिओ क्वाड्रोस की सरकार । क्वाड्रोस ने राष्ट्रीय हित में काम करने की चेष्टा कि तो ब्राजीली अल्पतंत्र और अमेरिकी साम्राज्यवाद ने उसे भी हटा दिया । उस समय उप-राष्ट्रपति था जोआओ वोलार्ट, जो वर्कर्स पार्टी का नेता था और अपने वामपंथी रुझान के कारण जनता में बहुत लोकप्रिय था । ब्राजीली अल्पतंत्र और अमेरिकी सम्राज्यवाद ने उसे सत्ता में आने से रोकने का भरसक प्रयास किया लेकिन ब्राजील के सभी जनतांत्रिक दल, जिनमें कम्युनिस्ट और समाजवादी दल भी थे, वोलार्ट के समर्थक थे। उसे मध्य वर्ग के व्यापक हिस्सों और राष्ट्रवादी पूंजीपतियों का भी समर्थन प्राप्त था । सेना में भी उसके काफी समर्थक थे, अतः प्रतिक्रियावादी उसे सत्ता में आने से नही रोक सके । वोलार्ट के नेतृत्व में एक व्यापक जनवादी राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार बनी, जिसने संविधान में कई प्रगतिशील संशोधन किये, सोवियत संघ से कूटनीतिक सम्बन्ध कायम किये, क्रांतिकारी क्यूबा के प्रति मैत्री का रूख अपनाया और ब्राजील में विदेशी इजारेदारियों की गतिविधियों पर कुछ रोक लगाने की कोशिश की। हालांकि जनवादी शक्तियों में अपेक्षित एकता न होने कारण प्रतिक्रियावादियों ने सेना के जरिये इस सरकार का तख्ता पलटवा दिया, फिर भी 1961 से 1964 तक के अपने समय में इस सरकार ने जनहित के कई उल्लेखनीय काम किये। इन जनहितकारी प्रगतिशील कामों में से एक था राष्ट्रीय साक्षरता अभियान, जिसमें प्रगतिशील और जनवादी शिक्षकों तथा बुद्धिजीवियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी ।

पाओलो फ्रेरे ने भी इस अभियान में उत्साहपूर्वक काम किया था । 1963 में उन्हें ब्राजील के शिक्षा और सांस्कृतिक मंत्रालय में राष्ट्रीय साक्षरता कार्यक्रम का अध्यक्ष नियुक्त किया गया । राष्ट्रीय साक्षरता अभियान के तहत फ्रेरे को देश के विभिन्न भागों में जाकर जनता के बीच काम करने का अवसर मिला और उन्होंने उत्पीड़न के विभिन्न रूपों को और ज्यादा निकटता तथा गहराई से देखते हुए उनका विश्लेषण किया । शिक्षा से जनता और शासक वर्ग के सम्बन्ध में विचार करते हुए वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि शिक्षा भी राजनीति है और जिस प्रकार राजनीति वर्गीय होती है, शिक्षा भी है। अतः उत्पीड़ितों की शिक्षा और उसकी पद्धति प्रभुत्वशाली अभिजनों की उस शिक्षा से भिन्न होनी चाहिए, जिसका उद्‌देश्य प्रभुत्व और उत्पीड़न की व्यवस्था को बनाये रखना है। फ्रेरे का मानना था कि उत्पीड़ितों की शिक्षा तो उत्पीड़न की व्यवस्था को समाप्त और उत्पीड़ितों को मुक्त करने वाली होनी चाहिए । फ्रेरे ने ब्राजील के राष्ट्रीय साक्षरता अभियान में जनता का आह्वान किया कि वह शिक्षा को क्रान्तिकारी बनाकर क्रान्तिकारी शिक्षा प्राप्त करें।

1964 की राष्ट्रीय साक्षरता योजना के अन्तर्गत उनकी पद्धतियों का प्रयोग करके पूरे देश में 50 लाख निरक्षर लोगों तक पहुॅचना था । कैथोलिक चर्च के राष्ट्रीय साक्षरता शिक्षा संगठन एम0ई0बी0 ने भी फ्रेरे की प्रविधियों को अपनाया परन्तु यह योजना पूरी तरह कार्यान्वित नही की जा सकी। जो सरकार ऐसे क्रान्तिकारी चिन्तन और कर्म को प्रोत्साहन दे रही हो, वह भला देशी विदेशी लुटेरों और उत्पीड़कों को कैसे रास आ सकती थी । उन्होंने 1964 में वोलार्ट सरकार का तख्ता पलटवा दिया और सैनिक तानाशाही कायम करा दी । सैनिक प्रशासन ने अमरीकी सहायता से ब्राजील का आधुनिकीकरण प्रारम्भ किया । और साथ ही प्रारम्भ किया ऐसा राजनीतिक दमन, जैसा ब्राजील के इतिहास में पहले कभी नही हुआ था। जनतांत्रिक अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रता को समाप्त कर दिया गया । असंख्य लोगों को जेलों में डालकर यातनाएँ दी गयीं या मार डाला गया । सबसे

पहली गाज गिरी शिक्षा पर । सामाजिक परिवर्तन के आन्दोलनों से सम्बद्ध शिक्षकों को, जिनमें आम लोगों के अलावा पादरी और प्रोफेसर भी थे, सबसे पहले पकड़ा गया । राष्ट्रीय साक्षरता अभियान को इससे धक्का लगा। सरकार ने नये नियम बनाए, जिसके कारण पिछली सरकार के 100 प्रभावशाली सदस्यों को एक दशक तक उनके अधिकारों से वंचित रखा गया । पाओलो फ्रेरे को भी नही बख्शा गया और उन्हें अपने सैकड़ों कार्यकर्ताओं और राजनेताओं के साथ देश छोड़कर भागना पड़ा ।

फ्रेरे के लिए शिक्षा तथा मताधिकार का एकीकृत होना काफी मँहगा साबित हुआ, क्योंकि काफी दिनों से जड़ जमाए राजनीतिक ढांचे को इससे खतरा था। एक खतरा - जिसके परिणाम सामने आए, जैसा कि फ्रेरे ने रेखांकित किया - ''यह एक ऐसा असाधारण बात थी जिसे चलने देना संभव नही था। परनामबुको जैसे राज्य में जहां 8 लाख मतदाता थे वहाँ केवल एक वर्ष में 13 लाख मतदाताओं के बढ़ जाने की संभावना थी...... इसका मौजूदा सत्ता ढांचे पर बहुत गंभीर प्रभाव होता । प्रभुत्वशाली वर्ग के लिए यह एक जोखिम भरा खेल था ।''[1]

ब्राजील में रियो डे जेनेरियो के अखबार 'एल ग्लोबो' ने फ्रेरे पर आरोप लगाया कि ''वे पूरे देश में विदेशी विचारों को फैला रहे हैं''। इन विपरीत परिस्थितियों के बावजूद इन्होंने अपनी आशा नही छोड़ी और अपने शैक्षिक विचारों के प्रति इनकी आस्था कम नही हुई। हाँलांकि इन प्रहारों से व्यक्तिगत स्तर पर उन्हें काफी नुकसान उठाना पडा, आगे की गतिविधियों के लिए इससे उन्होंने सीखा भी। बोलिविया में थोड़े दिन रहने के बाद (दूसरे सत्तापलट तक) फ्रेरे चिली गये, जहाँ उन्होंने कृषि सुधार की ओर से शैक्षिक कार्यक्रमों के विकास में मदद की। इसके बाद वे हारवर्ड चले गए, जहां उन्होंने लेखन कार्य किया और व्याख्यान दिया। 1975 में अंग्रेजी में उनकी पुस्तक 'पेडॉगॉगी आफ द आप्रेस्ड' के प्रकाशन के बाद उनके विचारों को अंतरराष्ट्रीय ख्याति मिली। 1970 में वे जेनेवा में विश्व चर्च परिषद में

शामिल हुए। वे यात्रा करते रहे, कार्यक्रमों के विकास में सहयोग करते रहे, लिखते रहे और लिखते रहे। 1980 में, जब ब्राजील में सत्ता परिवर्तन हुआ और 1964 के दमन के शिकार तमाम लोगों को आम माफी दे दी गयी थी, फ्रेरे अपने देश लौटे । तब तक वे विश्वप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री और अत्यंत लोकप्रिय तथा आदरणीय व्यक्ति बन चुके थे।

पाओलो ने माइल्स[2] के प्रति अपनी कृतज्ञता ज्ञापित की है कि उन्होंने उन्हें एलजा की मौत के विषाद से उबरने में मदद की । 1987 में जब वे माइल्स से मिले तो उन्होंने देखा कि उनसे 16 वर्ष बड़ा 82 वर्ष का व्यक्ति सामने खडा है, जो ऊर्जा और अंतर्द्रृष्टि से भरा-पूरा है। वे कहते हैं कि हाइलैडर में उन्होंने फिर से पढ़ना और लिखना शुरू किया। उन्होंने फिर से ब्राजील में हो रहे जन-आंदोलनों में हिस्सा लेना शुरू किया। 1988 में जब लोकप्रिय समाजवादी नेता साओ पाओलो को मेयर चुना गया, तो पाओलो शिक्षा सचिव बने और उन्होंने लैटिन अमेरिका के सबसे बड़े औद्योगिक नगर की पंरपरागत शिक्षा व्यवस्था को रूपांतरित करने की नई चुनौती स्वीकार की ।

1989 के जाड़े के मौसम में 29 वर्षो के बाद हुए पहले आम चुनाव में पाओलो ने लूला नाम से प्रसिद्ध वर्कर्स पार्टी के मजदूर नेता लूइस इनाकियो लूला डी सिल्वा का समर्थन किया। लूला इस राष्ट्रीय चुनाव में जीत के करीब थे। अगर वे चुनाव जीत जाते तो यह ब्राजील की राजनीति का नया ऐतिहासिक क्षण होता और पाओलो फ्रेरे फिर से शिक्षा मंत्री बनाये जाते, जिस पद पर पहले वे 1964 में देश निष्कासन से पहले आसीन थे। निर्वाचन के दौरान लिखी गई उनकी पुस्तक 'पैडागॉजी आफ दि आपप्रेस्ड (उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र) अंग्रेजी तथा अन्य अनेक भाषाओं में अनूदित होकर दुनिया भर में धूम मचा चुकी थी। इस बीच उन्होंने जिनेवा में रह कर वर्ल्ड काउंसिल आफ चर्चेज की शिक्षा शाखा के लिए कार्य किया

और लगभग संपूर्ण विश्व का भ्रमण किया, जिसके दौरान उन्होंने भारत की भी यात्रा की।

ब्राजील लौटे तो ब्राजील में उन्होंने कुछ रोचक और मजबूत ऐतिहासिक परिवर्तन महसूस किए, कुछ नये परिवर्तन, खासकर ईसाई मूल के समुदायों में। राजनीति के इतिहास दृष्टि से ब्राजील के लिए यह बिलकुल नई बात थी। ईसाई लोग अपने विश्वास के संदर्भ में अपनी स्थिति को बेहतर तरीके से जानने के लिए चर्च में आने लगे थे। पहले जहां वे पुजारियों को गॉसपेल्स पढते देख कुछ देर के लिए ठहर जाते थे और सुनते थे वहीं अब वे खुद गॉसपेल्स पढ़ने लगे थे। उन्होंने अपना अध्ययन केन्द्र शुरू किया, जहां वे अध्ययन करते थे, गॉसपेल्स पर विचार विमर्श करते थे और उन राजनीतिक तथा सामाजिक परिस्थितियों पर भी विचार करते थे जिनमें रहकर वे गॉसपेल्स की पुनर्व्याख्या कर रहे थे। इस प्रक्रिया में उन्होंने देश को बदलने की आवश्यकता महसूस की और उनमें नई ऐतिहासिक और राजनीतिक चेतना जागृत हुई। इसी के साथ साथ उन्होंने पुजारियों को यह पढ़ाया कि राजनीतिक और सामाजिक आंदोलनों आदि के बारे में कैसे पुनर्विचार किया जा सकता है। इस आदोलन में शामिल कई पुजारियों और कुछ अध्यापकों ने फ्रेरे की रचनाएं पढ़ रखी थीं। जब ब्राजील में अपनी पुस्तक 'पैडागॉगी आफ द ऑप्रेस्ड' प्रकाशित करना संभव नहीं था, तो लोगों ने इसके इतालवी, फ्रांसीसी और स्पेनी संस्करणों को पढ़ा । इन संस्करणों की सैकड़ों प्रतियां बनाई गयीं और लोग चुपके चुपके पढ़ने लगे। फ्रेरे कहते हैं - ''निर्वासित लोगों के साथ यह बड़ी समस्या होती है कि वे राजनीतिक रूप से मरना नही चाहते। मैं मरा नहीं क्योंकि मै ठेठ राजनीतिज्ञ नहीं था। मैं मुख्य रूप से एक अध्यापक था, जो एक राजनीतिज्ञ भी था। मैं कभी मरा नही । मैं अपनी पुस्तकों, लेखों और इसी प्रकार की अन्य चीजों की बदौलत ब्राजील में हमेशा जिंदा रहा।''[3] वे स्वीकार करते हैं कि उन्होंने मूल समुदायों के विकास में कोई भूमिका अदा नही की। लेकिन उन पर फ्रेरे के विचारों का अच्छा

खास प्रभाव था। ब्राजील में मजदूर वर्ग की राजनीतिक चेतना और दृष्टि स्पष्ट हो चुकी थी । इस राजनीतिक और सामाजिक प्रक्रिया को मजदूर वर्ग कई दृष्टियों और कई आयामों से देख रहा था । लामबंदी और संगठन की दृष्टि से काफी लोग भले ही हिस्सा न ले रहे हों परन्तु साओ पाओलो जैसे शहरों मे मजदूर संघों में मजदूर वर्गो की हिस्सेदारी काफी अधिक बढ़ गयी थी । इतिहास के मूलभूत आयामों से प्रभावित आंदोलन इसका प्रमाण था। जिस आंदोलन प्रक्रिया की बातचीत फ्रेरे करते हैं उसमें जरूरी नही कि बंदूकों का इस्तेमाल किया गया हो, परन्तु यह संघर्ष शोषकों के हितों के खिलाफ था। इसमें एक गुणात्मक अन्तर तब आया, जब मजदूर वर्ग के नेताओं को यह मालूम हुआ, जो बहुत स्पष्ट भी था कि समाज का प्रभु वर्ग जिस प्रकार की शिक्षा मजदूर वर्ग के लिए उपलब्ध करा रहा है, उससे केवल मजदूर ही पैदा हो सकते हैं। फ्रेरे यह स्वीकार करते हैं कि "हर बार शासक वर्ग मजदूर वर्ग को जो शिक्षा उपलब्ध कराता है, उससे केवल मजदूर ही पैदा होते है, ऐसा नही है । कभी कभी शिक्षा से वह नहीं प्राप्त होता, जिसे शासक वर्ग प्राप्त करना चाहते हैं। परन्तु शासक वर्ग की सोच यही होती है। यदि ऐसा न हो, तो सामाजिक जीवन के अन्तर्विरोधों को समझना कठिन हो जाए ।"[4]

1986 में उन्हें 'काजामार संस्थान परिषद' का अध्यक्ष चुना गया। काजामार एक क्षेत्र का नाम है। मजदूरों के कुछ समूहों को वहां एक इमारत मिल गई, जो पहले चैम्पिना जानेवाली सड़क पर एक बड़ी मॉटेल हुआ करता था। इस अद्‌भुत इमारत में उन्होंने मजदूर वर्ग, किसानों और शहरी मजदूरों को उनकी जिम्मेदारी संबंधी प्रशिक्षण देने या उन्हें आंदोलन के लिए तैयार करने के उद्‌देश्य से एक संस्थान बनाया। उनकी सहायता के लिए कुछ बुद्धिजीवी लोग भी कटिबद्ध थे, जो राजनीतिक दृष्टि से मजदूरों के साथ थे। और, इसमें ऐसे भी बुद्धिजीवी शामिल थे, जो यह नहीं सोचते थे कि उनके पास मजदूरों को देने के लिए कोई तथ्य है। यहां ऐसे भी बुद्धिजीवी थे, जो मजदूरों के जानकारी प्राप्त करने की प्रक्रिया का सम्मान

करते थे और मजदूरों के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने को तैयार थे। यहाँ मजदूर वर्ग के लिए हर सप्ताह एक गोष्ठी का आयोजन किया जाता है। इस संस्थान में आने वाले लोग यहां रह भी सकते है। यह बहुत बड़ी इमारत है, यहां मजदूर वर्ग से आने वाले शिक्षक भी हैं और विश्वविद्यालय में पढाने वाले शिक्षक भी मौजूद हैं। वे यहां आने वाले विद्यार्थियों को अपने देश का इतिहास, मजदूर वर्गो के आंदोलन आदि के बारे में कार्यक्रम आयोजित करने के साथ-साथ यह भी बताते हैं कि ब्राजील के इतिहास को कैसे आलोचनात्मक दृष्टि से देखना चाहिए ।

इस प्रकार इस संस्थान द्वारा मजदूर आंदोलन और जनता के संघर्ष में महत्वपूर्ण योगदान किया गया । यह संस्थान एक प्रकार से जन विश्वविद्यालय का बीज रूप है। फ्रेरे इसके बारे में कहते हैं "हमारे विश्वविद्यालय बहुत कमजोर हैं। मैं यह भी नही कहना चाहता कि विश्वविद्यालय के ढांचे की नकल की जाए या विश्वविद्यालय की औपचारिकता लागू की जाए। यह केन्द्र एक सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य बनना चाहता है, जिसके भीतर रहकर मजदूर इस परिप्रेक्ष्य के बाहर किए गये अपने कार्यों पर आलोचनात्मक दृष्टि से सोचें । मजदूर संघों में काम करते वक्त, मजदूर संघों की परिस्थिति में या किसी भी ठोस परिस्थिति में वे यही करते हैं। इसी की जरूरत पड़ती है। जब वे सैद्धान्तिक परिप्रेक्ष्य के भीतर होते हैं, तो बाहर के संघर्ष से उनकी दूरी बढ़ जाती है। जिसकी वजह से वे संघर्ष के कारणों को तथा संघर्ष करने के बेहतर तरीकों को समझ पाते हैं। और, यह भी समझ पाते हैं कि संघर्ष के तरीकों का चुनाव कैसे किया जाए। इसका मूल उद्देश्य समाज को बदलना है। इस संस्थान में यह बताया जाता है कि इसे आप कैसे करें। यह संस्थान बताता है कि संघर्ष के दौरान आपको अधीर नहीं होना है।" फ्रेरे के शब्दों में, जब आप बदलाव के लिए संघर्ष की प्रक्रिया में होते है, तब आपको बेचैन होकर भी धीरज रखना है।

फ्रेरे ने बहुत लिखा है । कुछ पुस्तकें उन्होंने स्वयं लिखी हैं और कई पुस्तकें उन्होंने दूसरों के साथ बातचीत करते हुए बोल कर लिखवाई हैं परन्तु उनकी

विश्वव्यापी कीर्ति का प्रमुख आधार 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र है', जो बीस-पच्चीस वर्षों में ही एक क्लासिक रचना बन गई है और जिसने शिक्षा के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि दर्शन, विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, राजनीति, साहित्य, शोध और आलोचना आदि अनेक क्षेत्रों में दुनिया भर के लोगों को बहुत अधिक प्रभावित किया है। फ्रेरे का 2 मई 1997 में देहान्त हो गया। देहावसान से कुछ समय पूर्व उनकी पुस्तक "पेडागॉजी आफ होप" प्रकाशित हुई थी ।

2.2 व्यक्तित्वः-

फ्रेरे ने सच्चे आचरण को जिस रूप में परिभाषित किया है, स्वयं उसे अपने जीवन में उतारते हुए इसका प्रत्यक्ष उदाहरण प्रस्तुत किया। वे मानवीय गुणों से ओत-प्रोत व्यक्तित्व रखते थे। वे सदैव बालक बने रहना चाहते थे, उतना ही सहज, सरल, सच्चा, विस्मयपूर्ण व जिज्ञासु, यद्यपि बचपन उनके लिए सुखद न था और वे जल्दी युवा हो कर अन्याय का सामना करने में सक्षम होने की व्यग्रता रखते थे।

बहुआयामी एवं विलक्षण व्यक्तित्व के स्वामी फ्रेरे में एक प्रबुद्ध चिन्तक, सच्चे शिक्षक, प्रतिबद्ध क्रान्तिकारी, यथार्थवादी व प्रगतिशील मानववादी विचारक, कर्मठ कार्यकर्ता तथा न्याय के संघर्ष के समर्पित नायक के समस्त गुण विद्यमान थे। जीवन संघर्षो में तपकर वे कुंदन की तरह निखरे। हीरे की भांति वे जितना काटे -छांटे गये उनकी चमक बढ़ती गयी। उनके चिंतन व कर्म में उनका व्यक्तित्व स्वतः उजागर होता है । उनके व्यक्तित्व-गुणों की चर्चा संक्षेप में ही यहां की गयी है।

संवेदनशीलता - फ्रेरे का हृदय भावुकता व संवेदनशीलता से परिपूर्ण था। मनुष्यता पर कोई चोट उन्हें सहन न थी। वे उत्पीड़कों की भी मुक्ति अर्थात उन्हें सच्चा मानव बनाने की भावना रखते थे। उनके जीवन पर दृष्टिपात करने से यह सहज अनुभव किया जा सकता है कि फ्रेरे, फ्रेरे बन ही सके अपने इसी गुण की अधिकता के कारण।

प्रेम व उदारता - फ्रेरे द्वारा जिस विश्व-व्यवस्था का स्वप्न देखा गया था, वह पारस्परिक प्रेम व विश्वास की नींव पर निर्मित होनी थी। वे स्वयं इसमें अटूट आस्था रखते थे। उन्हें उम्मीद थी कि उनका लेखन स्वयमेव इसका साक्षी होगा। वे कहते हैं - ''जनता पर मेरा भरोसा, और मनुष्यों में तथा एक ऐसे विश्व की रचना का मेरा विश्वास, जिसमें प्रेम करना आज की तुलना में अधिक आसान होगा।''[5]

परोपकारिता व अपनत्वः- फ्रेरे मानव मुक्ति में सक्रिय संलग्नता व बलिदान को ही सच्चा परोपकार मानते थे। मानव मात्र के लिए उनके हृदय में असीम प्रेम व अपनत्व की भावना थी। दूसरों के सुख-दुख की समानुभूति दूसरों की पीड़ा का अहसास करते हुए उसे दूर करने के लिए ही फ्रेरे ने सम्पूर्ण जीवन समर्पित किया।

विनम्रताः- एक विनम्र व्यक्ति ही दूसरों का सम्मान करता है, उनसे कुछ सीखता है। वह दूसरों को कुछ देता नहीं, उनसे बाँटता है, कदम से कदम मिला सहयात्री बनता है। फ्रेरे ऐसे ही व्यक्ति थे। अंहकारशून्यता, निराभिमानिता, त्रुटियों को स्वीकार करने का साहस, आलोचना सुनने व सुधार करने की भावना, उनके व्यक्तित्व के ऐसे गुण थे, जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। प्रखर मेघा व कर्मशीलता संघर्ष- शक्ति के होते भी फ्रेरे अत्यन्त विनम्र थे। पदों व सम्मान ने उन्हें अधिक विनम्र ही बनाया। वे यथार्थ से मुटभेड़ करते थे, जनता के सच्चे साथ थे। दूसरों को प्यार और सम्मान देना उनका स्वभाव था। निछलता व अंहकार शून्यता ही उन्हें दूसरों से जोड़ती थी।

फ्रेरे आत्म-उपलब्धि के गौरव को भी स्वीकार नहीं करते। अपने से भिन्न विचारों को रखने वाले शिक्षकों को भी मान्यता देना उन जैसे विनम्र व्यक्ति के लिए ही संभव था। वे कहते हैं - ''मैं अपने काम पर जरूरत से ज्यादा बल देना नहीं चाहता हूँ। ब्राजील में कई अध्यापकों ने काम किया है, जिनके विचार मुझसे अलग है पर मैं उन्हें भी मान्यता देता हूँ।''[6]

निरन्तर संघर्षपूर्ण जीवन व्यतीत करते हुए तथा अन्यायों के विरुद्ध लड़ते हुए भी यह कहना कि मैं नहीं जानता कि कैसे लड़ा जाता है, फ्रेरे की विनम्रता का ही द्योतक है। उन्हीं के शब्दों में "एक अध्यापक के रूप में इसे अन्याय के विरूद्ध लड़ने की मेरी प्रतिबद्धता की शुरूआत माना जा सकता है। बचपन को ही मैं इसकी शुरूआत मान सकता हूँ क्योंकि वहीं मैने सीखा था कि इसके खिलाफ लड़ना महत्वपूर्ण है। यह बात अलग है कि मैं आज तक यह नहीं जान पाया हूँ कि लड़ा कैसे जाता है।"[7]

निर्वासन के पश्चात् स्वदेश वापस लौट पाने का श्रेय भी वे अपने साथियों को देते हुए कहते है कि जब वे निर्वासन में थे तो उनके साथी संघर्ष करते रहे और उनके संघर्ष की बदौलत ही वे ब्राजील लौट सके।

कृतज्ञता - एकजुटता व सह अस्तित्व के लिए फ्रेरे विनम्रता के साथ-साथ कृतज्ञता को भी आवश्यक मानते थे। वे स्वयं विनम्रता की प्रतिमूर्ति थे। जिस विद्यालय में इन्हें पढ़ने का अवसर मिला उसके निदेशक के प्रति उनके ये शब्द उनकी असीम कृतज्ञता भावना के सूचक हैं।

"आज भी विद्यालय के निदेशक एल्जिवो अराउजो और उनकी पत्नी जेनेवो के प्रति मेरे मन में असीम सम्मान का भाव है। मैं हमेशा उनके प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्ति करता हूँ। मेरे लिए कृतज्ञता मनुष्य के जीवन का अहम हिस्सा है। मैं इस निदेशक और उनकी पत्नी के लिए जो कुछ कर सकता हूँ करूँगा।"[8]

मानवता - मानव मात्र के प्रति अपनत्व, प्रेम, सहानुभूति व करूणा से फ्रेरे का हृदय परिपूर्ण था। मानवीय स्वतंत्रता के वे प्रबल पक्षधर थे। मानवीय व्यक्तित्व की क्षमताओं एवं स्वतंत्रता व अधिकारों के सुन्दर समन्वय पर आधारित व्यवस्था को वे मानव के पूर्ण विकास के लिए परमावश्यक मानते थे।

सच्ची धार्मिकता:- जीसस क्राइस्ट ने मानव कल्याण के लिए जिस प्रकार आत्म-बलिदान किया, मानव मात्र के लिए उन्होंने जो व्याकुलता, प्रेम व सच्चाई दिखाई उसके फ्रेरे के मन पर अमिट प्रभाव थे। शोषण, उत्पीड़न तथा भेदभाव को उन्होंने व्यवस्था के दोष के रूप में पहचाना न कि ईश्वर या भाग्य की देन के रूप में। मुक्ति व मोक्ष की उनकी अवधारणायें इसी चिंतन से प्रभावित थीं।

क्रांतिकारी सोच - फ्रेरे का चिंतन क्रांतिकारी था। उत्पीड़न व शोषण के विरूद्ध उनके मन में बाल्यकाल से चिंगारी भड़क उठी थी और वे अन्यायपूर्ण व्यवस्था की गत्यात्मकता को समझने तथा उसमें बदलाव लाने के तौर-तरीकों हेतु गहन अध्ययन व चिन्तन मनन करने में जुट गये। यथार्थ को उन्होंने स्वयं भोगा, प्रत्यक्षतः जाना और उसे बदलने के लिए वांछनीय कर्म किये।

मानवीय गरिमा में आस्था व सम्मान - फ्रेरे मानवीय व्यक्तित्व की क्षमताओं में। उसकी सम्भावनाओं में पूर्ण आस्था रखते थे। मानव अधिकारों के प्रति उनका संघर्ष इसी आस्था का प्रतिफल था। उत्पीड़न की किसी भी स्थिति में हम उन्हें उत्पीड़ित के पक्ष में खड़ा पाते हैं। मानव को पूर्ण मानव बनाने अर्थात मानुषीकरण की दिशा में ही उनका समग्र चिन्तन व कर्म केन्द्रित था।

विकासोन्मुखता - फ्रेरे सदैव स्वयं को अपूर्ण अर्थात होने या बनने की प्रक्रिया में लगा हुआ मानते थे। एक के बाद एक चुनौती को स्वीकार करना तथा उस पर विजय प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयत्न करना उनके स्वभाव में शामिल था। वे सदैव 'अधिगमकर्ता थे। रुकना उनकी दृष्टि में मृत्यु था । स्वयं चलकर नयी राहें बनाना ही उन्हें प्रिय था, बनी बनाई आसान पगडंडियों पर चलना नहीं।

आत्म-मूल्यांकन की क्षमता - फ्रेरे अपने गुण-दोषों का वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन करने की क्षमता रखते थे। अपनी कमियों को उजागर करने, उन्हें स्वीकार करने का उनमें साहस था। इसलिए वे उन्हें दूर करने का प्रयास भी निरन्तर कर पाते थे।

समग्रतापूर्ण व्यापक दृष्टिकोण - फ्रेरे मानव-मानव में किसी भी भेदभाव के कट्टर विरोधी थे। धर्म, जाति, रंग-भेद, लिंग, वर्ग तथा वय के आधार पर छोटे-बड़े का कोई भेद तथा उसमें से उपजी पूर्वग्रह व पक्षपातपूर्ण भावना उन्हें स्वीकार न थी।

सृजनशीलता- फ्रेरे निर्माण व सृजन में आस्था रखते थे। स्वप्न देखने और उन्हें ठोस यथार्थ में बदलने के लिए जुट जाने में वे विश्वास रखते थे। एक के बाद एक बड़ी चुनौतियाँ उन्हें प्रिय थीं, जो उन्हें निरन्तर कर्म के लिए प्रेरित रखती थीं।

स्वतंत्रता में विश्वास - फ्रेरे स्वतंत्रता को, जीने के अधिकार को मनुष्य का मूल अधिकार मानते थे। उनका मानना था कि स्वतंत्रता में विश्वास भी एक स्वतंत्र व्यक्ति ही रख सकता है। इसके अभाव में व्यक्ति स्वतंत्रता को समझ ही नहीं सकता।

सरलता - फ्रेरे बड़े मनुष्य में भी बालक जैसी सरलता, स्वाभाविकता, सहजता, निष्कपटता, उत्सुकता, जिज्ञासा व विस्मयपूर्णता के गुणों का होना न केवल आवश्यक मानते थे अपितु स्वयं थे भी ऐसे ही। सभी प्रकार की बातों को समझने और अभिव्यक्त करने के लिए जैसा खुलापन बालक में होता है वैसा ही खुलापन वे सभी के लिए जरूरी मानते हैं। वे कहते हैं -

"हम जितना ही अपने को बच्चा बनाना चाहते हैं या बच्चे जैसा रहना चाहते हैं, उतना ही हम यह समझ सकते हैं कि क्यों हम दुनियां से इतना प्यार करते हैं और हम सभी प्रकार की बातों को समझने और अभिव्यक्त करने के प्रति खुले रहते हैं और जब हम अपने अंदर के बच्चे की हत्या कर देते हैं, तो हम कहीं के नही रह जाते।"[9]

बाह्य आडंबरपूर्णता, कृत्रिमता, व संकुचित दृष्टिकोण फ्रेरे को स्वीकार न थे। दूसरों से प्रेम करना, दूसरों की सहायता करना, आपसी सहयोग से अपना और

दूसरों का विकास करना, इन मूल्यों को पाओलो फ्रेरे ने अपने आचरण में तो उतारा ही स्वयं द्वारा प्रतिवादित शिक्षाशास्त्र की नींव भी इन्हीं पर रखी।

आशावादिता - फ्रेरे नये विश्व के निर्माण के प्रति पूर्णतः आशावादी थे, परन्तु इसके लिए वे मानवीय प्रयासों को आवश्यक मानते थे। उनका चिन्तन यथार्थ के ठोस धरातल से उपजा था। उनका लक्ष्य भले ही आदर्शवादी काल्पनिकता से परिपूर्ण परिलक्षित होता है, परन्तु उसे प्राप्त करने के साधन पूर्णतः यथार्थपरक थे। फ्रेरे स्वीकारते हैं -''मुझे लगता है कि हममे से कई लोग यह सीख रहे हैं कि इतिहास बनाना कितना मुश्किल है और यह जानना कितना महत्वपूर्ण है कि हमारा निर्माण भी इतिहास ने किया है, उस इतिहास ने किया है कि जिसका निर्माण सामाजिक प्रक्रिया के दौरान हमने किया। सौभाग्यवश मैं ठेठ आशावादी, आदर्शवादी नहीं हूँ। बल्कि मैं आलोचनात्मक आशावादी हूँ''[10]

आलोचना स्वीकार करने का साहस - अपनी पुस्तक 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' की भूमिका में फ्रेरे ने आलोचना को खुले हृदय से आमन्त्रित करते हुए अपनी स्थिति अत्यन्त सटीकता के साथ सरल भाव से स्पष्ट की है। वे कहते हैं-''यदि पुस्तक के पाठक गलतियों को सुधारने, गलतफहमियों को दूर करने, कही गई बातों को गहराई प्रदान करने, और मुझसे अनदेखे रह गये पक्षों को बताने के लिए खुलकर मेरी आलोचना करेंगे तो मुझे प्रसन्नता होगी। संभव है, कुछ पाठक कहें कि क्रान्तिकारी सांस्कृतिक कर्म की चर्चा करने का मुझे क्या अधिकार है, जिसका मुझे कोई ठोस अनुभव नहीं है। लेकिन यह तथ्य कि मैंने क्रान्तिकारी कर्म में व्यक्तिगत रूप से भाग नहीं लिया है, मुझे इस विषय पर विचार करने के अयोग्य सिद्ध नही करता। इसके अलावा, संवादात्मक और समस्या-उठाऊ शिक्षा का प्रयोग करते हुए जन-शिक्षण का मेरा जो अनुभव रहा है, और उसमें मैंने जो तुलनात्मक सामग्री-संपदा अर्जित की है, उसने मुझे चुनौती दी है कि मैं उन बातों को कहने को जोखिम उठाऊं जो इस पुस्तक में कही गई हैं।''[11]

जमीन से जुड़ाव - उच्च पद, सम्मान व लोकप्रियता प्राप्त करने के उपरान्त भी फ्रेरे में अहम् नाम मात्र को न था। वे सदैव जमीन के आदमी बने रहे। अपने प्रारम्भिक जीवन के कष्टों व संघर्ष को उन्होंने कभी विस्मृत नहीं होने दिया। संभवतः इसी कारण वे आजीवन उत्पीड़ितों के पक्ष में दृढ़ता से खड़े रह सके। माइल्स के साथ वार्तालाप में वे इस वाक्य में सारी बात कह देते हैं- ''मैं भी अपने शुरूआती दौर की चर्चा करना चाहता हूँ, जहां मैं अभी भी हूँ, क्योंकि मैं हमेशा आपकी तरह प्रारम्भ में होता हूँ।''[12]

2.3 कृतित्व- फ्रेरे द्वारा रचित कुछ ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं-

''कल्चरल एक्शन फॉर फ्रीडम'', हारमांड्सवर्थ, इंगलैण्ड, पेंगुइन 1972

''एडुकेशन एज द प्रैक्टिस ऑफ लिबर्टी, मैग्राहिल, 1973,

''एडुकेशन फॉर क्रिटिकल कान्ससनेस, न्यूयार्क, कन्टिन्यूयम, 1982

''एडुकेशन : दि प्रैक्टिस ऑफ फ्रीडम,'' लंदन : राइटर्स एण्ड रीड पब्लिशिंग, 1976

''पेडागॉगी इन प्रोसेस : द लेटर्स टू गिनी बिसाउ'' न्यूयार्कः सीबरी प्रेस, 1978

''पेडागॉगी ऑफ द ऑप्रेस्ड,'' न्यूयार्कः सीबरी प्रेस, 1970, ''दि पॉलिटिक्स ऑफ एडुकेशन : कल्चर, पॉवर एंड लिबरेशन'' साऊथ हैडली मासः बर्गीन एण्ड गर्वी, 1985

पाओलो फ्रेरे तथा डोनाल्ड मैशेडो द्वारा लिखितः ''लिटरेसी : रीडिंग द वर्ड एण्ड दी वर्ल्ड'' साऊथ हैलडी मैसाचुसेट्स वर्गीन एण्ड गर्वी, 1987

फ्रेरे द्वारा अन्य विद्वानों के साथ वार्तालाप में लिखी पुस्तकें -

'ए पैडागॉजी लिबरेशन' (1987), ईरा शोर के साथ

'लिटरेसी : रीडिग दि वर्ड एंड दि वर्ल्ड' (1987), डोनाल्डो मैकेडो के साथ

'लर्निंग टू क्वेश्चन : ए पैडागॉजी ऑफ लिबरेशन' (1989), एंटोनियों फोडेज के साथ

'वी मेक दि रोड बाई वाकिंग: कनवर्सेशन इन एजूकेशन एंड सोशल चेंज' (1990) माइल्स हॉर्टन के साथ

2.4 फ्रेरे का दार्शनिक चिन्तन-प्रमुख तत्व -

फ्रेरे के शिक्षा-दर्शन को समाज में व्याप्त द्वन्द्वात्मक अन्तर्विरोधों की भूमिका तथा उनके समाधान के परिप्रेक्ष्य में ही समझा जा सकता है। अतः यह दर्शन परिवेश, उसके कारण और प्रभाव के आंतरिक सबन्धों को स्पष्ट करता जाता है, और यह स्थापित करता है कि शिक्षा इन सम्बन्धों की कितनी महत्वपूर्ण देन है। फ्रेरे के शिक्षा-दर्शन की यह भी विशेषता है कि यह कोरे सिद्धान्त तक सीमित नहीं है, यह क्रियात्मक व्यवहार को भी प्रतिपादित करता है।

'उत्पीड़ितों का शिक्षा-शास्त्र' की भूमिका में फ्रेरे स्वयं स्वीकार करते हैं कि अपने राजनीतिक निर्वासन के दौरान उन्होंने अनेक प्रत्यक्ष अवलोकन किये जिनकी पुष्टि उनके ब्राजील के शिक्षा सम्बन्धी कार्यकलापों से भी हुई। उनका दर्शन केवल चिन्तन और अध्ययन पर आधारित नहीं है। इसकी जड़ें यथार्थ तथा वास्तविक स्थितियों में हैं। अपने शैक्षिक कर्म के मध्य प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उन्होंने जो कुछ देखा व अनुभव किया उसे ही एक सैद्धान्तिक ताना-बाना प्रदान किया। उनके शैक्षिक अनुभव कॉलेजों या विश्वविद्यालयों की चार-दीवारी की कैद में रहकार प्राप्त किये जाने वाले अनुभव नहीं थे। समाज की प्रकृति, गुण-दोषों, सामाजिक गत्यात्मकता को एवं उसके अन्तर्विरोधों को उन्होंने परिस्थितियों के मध्य रहकर ही अनुभव किया था, जिसमें उनके अपने जीवन का कटु यथार्थ भी शामिल थे। किसानों, श्रमिकों तथा मध्य वर्गीय लोगों के बीच अन्तः क्रिया करते हुए ही उनके चिंतन की दिशा निर्धारित हुई थी। फ्रेरे के दर्शन में यथार्थवाद, अस्तित्ववाद एवं वैज्ञानिक क्रान्तिकारी

मानववाद का तार्किक समन्वय दृष्टिगोचर होता है। वे मार्क्स से प्रभावित हैं परन्तु **दक्षिणपंथ का विरोध के साथ-साथ वामपंथ** की संकीर्णताओं की भी **मुखर आलोचना** करते हैं।

वैज्ञानिक क्रान्तिकारी मानववादी चिन्तन -

फ्रेरे इंसानी रिश्तों के मानवीयकरण के मजवूत पक्षधर के रूप में सामने आये हैं। 'पेडागॉगी' तथा 'ऐक्शन' में उन्होंने मानवीय संवेदनाओं को मुखरित करने का पूरा-पूरा प्रयास किया गया है। फ्रेरे की यह संवेदनात्मक दृष्टि उन्हें उन परम्परावादी एवं कठमुल्लावादी वामपंथियों से अलग कर देती है, जो नये समाज की रचना के दौरान इंसानी रिश्तों का यांत्रिकीकरण कर डालते हैं। फलतः वहां भी इंसान एक वस्तु (आब्जेक्ट) मात्र बन जाता है। फ्रेरे चाहते हैं कि जहां शिक्षा उत्पीड़ित मानव की सदियों पुरानी जकड़न की तोड़े वहीं उसकी मुक्ति की प्रक्रिया का भी मानवीयकरण करे। इंसानी रिश्तों का मानवीयकरण तभी सम्भव है जब एक "खुले समाज" या "मुखर समाज" की स्थापना हो, जिसमें मनुष्य और मनुष्य के बीच संवाद के लिए पूरा स्थान होगा। फ्रेरे मनुष्य को पूर्ण मानव बनाने का समर्थन तथा अमानुषीकरण की प्रक्रिया का घोर विरोध करते हैं। उनकी मानवीय प्रयासों में, उसके विवेक व चेतना शक्ति में पूर्ण आस्था है। चिंतन और कर्म से जनित आचरण के द्वारा व्यक्ति यथार्थ में हस्तक्षेप कर उसे अपने योग्य बनाता है। सच्चे प्रेम, उदारता, विश्वास, आशा, संवेदना, तथा समानुभूति से अनुप्राणित मानव एक ऐसे विश्व का सृजन करने में सक्षम होता है जहाँ उत्पीड़न या शोषण किसी भी रूप में टिक नहीं सकता। स्वतंत्रता, कर्त्तव्य व दायित्वों का बोध उसे सदैव एक उत्पीड़न रहित विश्व का निर्माण व पुनः निर्माण करने के लिए प्रेरित करता है।

रूपातंरकारी और सृजनात्मक प्राणियों के रूप में ही मनुष्य यथार्थ से अपने स्थायी सम्बन्ध बनाते हैं और इस प्रकार भौतिक चीजों को ही नहीं, अर्थात प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली चीजों को ही नहीं, बल्कि सामाजिक संस्थाओं, विचारों और

अवधारणाओं को भी उत्पन्न करते हैं। अपने निरन्तर जारी रहने वाले आचरण से मनुष्य साथ-साथ इतिहास भी बनाते चलते हैं और ऐतिहासिक-सामाजिक प्राणी बन जाते हैं। पशुओं में समय की चेतना नहीं होती, लेकिन मनुष्यों में होती है और उससे वे समय को त्रि-आयामी बना कर अतीत, वर्तमान और भविष्य में बाँटते हैं। इससे इतिहास बनता है, जो मनुष्यों का इतिहास होता है, क्योंकि वह उनके सृजन-कर्मों से बनता है। यह इतिहास रूपांतरण की सतत् प्रक्रिया में विकसित होता है, जिसमें युगीन इकाइयाँ मूर्त रूप धारण करती हैं। ये युगीन इकाइयाँ समय की कोई बंद अवधियाँ अथवा ऐसे खाने नहीं हैं, जिनमें मनुष्य कैद हो जाते हों। यदि ऐसा होता तो इतिहास न होता क्योंकि इतिहास की आधारभूत शर्त है उसकी निरन्तरता। युगीन इकाइयां तो इतिहास की निरन्तरता की गतियों की परस्पर संबद्ध करती हैं।

हिंसा उत्पीड़कों की देन हैं - फ्रेरे की दृष्टि में कोई भी स्थिति, जिसमें 'क' वस्तुपरक रूप से 'ख' का शोषण करता है या उसकी आत्म-अभिपुष्टि (सेल्फ-अफर्मेशन) में जान-बूझ कर बाधक बनता है, उत्पीड़न की स्थिति है। इस स्थिति में हिंसा स्वतः ही अंतर्निहित रहती है, भले ही उसे मिथ्या उदारता से मधुर बनाया जाता हो, क्योंकि यह स्थिति मनुष्य के पूर्णतर मनुष्य बनने के सत्तामूलक और ऐतिहासिक कर्त्तव्य में बाधा उत्पन्न करती है। उत्पीड़न का सम्बन्ध स्थापित होते ही हिंसा आरम्भ हो चुकी होती है। हिंसा का आरम्भ समूचे इतिहास में कभी उत्पीड़ितों की ओर से नहीं हुआ। फ्रेरे तर्क देते हैं कि जो स्वयं हिंसा की ही पैदावार हैं, वे हिंसा का आरम्भ करने वाले कैसे हो सकते हैं? जो चीज अपने जन्म से ही उनके अस्तित्व को उत्पीड़ितों का अस्तित्व बना देती है, उसका आरम्भ करने वाले वे कैसे हो सकते हैं? पराधीन बनाने वाली हिंसा की स्थिति पहले से ही मौजूद न हो तो कोई उत्पीड़ित होगा ही नहीं।

फ्रेरे का मत है कि हिंसा का आरम्भ तो करते हैं, जो उत्पीड़न करते हैं, शोषण करते हैं, जो दूसरों को मनुष्य नहीं मानते। इसका आरम्भ वे नहीं करते जो उत्पीड़ित हैं, शोषित हैं, जिन्हें मनुष्य नहीं माना जाता। मनमुटाव वे नहीं फैलाते, जो प्रेम से वंचित हैं, बल्कि वे फैलाते हैं जो प्रेम नहीं कर सकते, क्योंकि वे स्वयं से ही प्रेम करते हैं वे, जो हिंसक होते हैं और अपनी शक्ति के सहारे "जिंदगी से खारिज" लोगों को पैदा करने वाली ठोस स्थिति उत्पन्न करते हैं। निरंकुशता का स्रोत वे नहीं होते, जो अत्याचारों के शिकार होते हैं, उसके स्रोत होते हैं निरकुंश अत्याचारी। घृणा तिरस्कृत लोग नहीं, तिरस्कार करने वाले फैलाते हैं। मनुष्य का निषेध वे नहीं करते, जो मनुष्यता से वंचित कर दिये गये हैं। बल्कि वे करते हैं, जिन्होंने उनकी (और साथ ही अपनी भी) मनुष्यता का निषेध किया है। बल प्रयोग वे नहीं करते, जो बलशालियों की प्रबलता के अधीन निर्बल बना दिये गये हैं। बल प्रयोग उन्हें निर्बल बनाने वाले बलशाली करते हैं।

मुक्ति की कार्रवाई का आधार प्रेम है - उत्पीड़कों के लिए उत्पीड़ित ही जब वे उत्पीड़कों की हिंसा का विरोध करते हैं- 'हिंसक' बर्बर, 'दुष्ट' या 'क्रूर' होते हैं। उत्पीड़क लोग उत्पीड़ितों की 'उत्पीड़ित' कभी नहीं कहते, उन्हें 'वे लोग' या 'अंधी और ईर्ष्यालु जनता' या 'बहशी लोग' या 'आदिवासी लोग' या 'विद्रोही लोग' कहकर पुकारते हैं।

फ्रेरे उत्पीड़तों द्वारा की गयी मुक्ति की कार्रवाई को मानवीय एवं युक्तिसंगत ठहराते हैं। वे कहते हैं की भी, चाहे यह बात विरोधाभासपूर्ण ही लगे, उत्पीड़ितों की हिंसा के जवाब में की जाने वाली कार्रवाई में ही प्रेम की झलक दिखाई पड़ती है। जाने या अनजाने उत्पीड़ितों के विद्रोह का कर्म (जो हमेशा, या लगभग हमेशा, उत्पीड़कों की आरम्भिक हिंसा जितना ही हिंसक होता है) प्रेम का आरम्भ कर सकता है। जहां उत्पीड़कों की हिंसा उत्पीड़ितों को पूर्णतर मनुष्य बनने से रोकती है, वहां उत्पीड़ितों द्वारा उस हिंसा के विरूद्ध की जाने वाली जवाबी कार्यवाही का आधार है

मनुष्य बनने का अधिकार पाने की इच्छा। उत्पीड़क जब दूसरों को अमानुषिक बनाते हैं और उन्हें उनके अधिकारों से वंचित करते हैं तो वे स्वयं भी अमानुष हो जाते हैं। उत्पीड़ित लोग मनुष्य बनने की लड़ाई लड़ते हुए जब उत्पीड़कों की प्रभुत्व जमाने और दमन करने की शक्ति छीन लेते हैं, वे उत्पीड़िकों को उनकी वह मनुष्यता लौटा देते हैं, जिसे वे उत्पीड़न करते समय खो चुके होते हैं। उत्पीड़क-उत्पीड़ित के अंतर्विरोध के समाधान में यह अंतर्निहित है कि प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में उत्पीड़कों का अस्तित्व न रहे। भूतपूर्व उत्पीड़ितों द्वारा अपने उत्पीड़कों पर यदि ऐसे नियंत्रण लगाये जाते हैं कि वे पुनः उत्पीड़क न बन जाएं, तो फ्रेरे की दृष्टि में यह उत्पीड़न नहीं है। कोई काम तभी उत्पीड़नकारी होता है, जब वह मनुष्यों को पूर्ण मनुष्य बनने से रोके।

सामुदायिक अधिकार के नाम पर इस जीवन पद्धति पर लगाया जाना वाला कोई भी प्रतिबंध भूतपूर्व उत्पीड़कों को अपने निजी अधिकारों का गम्भीर उल्लंघन प्रतीत होता है -हालांकि पहले उन करोड़ों लोगों के लिए उनके मन में कोई आदर नहीं था, जो भूख, दुःख तकलीफ और हताशा के शिकार होकर मरते रहते थे। उत्पीड़कों के लिए मनुष्य का अर्थ होता है 'वे स्वयं'। दूसरे तो उनके लिए 'चीजें' हैं। उत्पीड़कों के लिए एक ही अधिकार का अस्तित्व होता है। उनके अपने सुख-चैन में रहने का अधिकार। उत्पीड़ितों के जिंदा रहने के अधिकार को भी वे अधिकार नहीं मानते। वे इसे अधिकार के रूप में मान्यता नहीं देते, बल्कि मजबूरी में स्वीकार करते हैं, और यह रियायत भी वे इसलिए देते हैं, कि उत्पीड़ितों का अस्तित्व स्वयं उनके अपने अस्तित्व के लिए जरूरी है।

विज्ञान का प्रयोग मानव कल्याण हेतु - अपने इस व्यवहार तथा विश्व और मनुष्यों को समझने के अपने इस ढंग की व्याख्या (जिसके कारण उत्पीड़क, अनिवार्यतः नई शासन प्रणाली की स्थापना का विरोध करते है) वे प्रभुत्वशाली वर्ग के रूप में अपने अनुभव के आधार पर करते हैं। हिंसा और उत्पीड़न की स्थिति एक बार बन जाये

तो वह स्वयं में फंसे हुए तमाम लोगों के लिए-अर्थात उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों प्रकार के सभी लोगों के लिए जीवन और व्यवहार की एक पद्धति उत्पन्न कर देती है। दोनों इस स्थिति में डूब जाते हैं और उत्पीड़न दोनों पर अपनी छाप छोड़ता है। उत्पीड़न किन स्थितियों में अस्तित्व में आया, इसका विश्लेषण करके फ्रेरे बताते हैं कि उसका प्रारम्भ हिंसा के किसी कृत्य से हुआ और वह हिंसा शक्तिशाली लोगों द्वारा शुरू की गयी थी। यह हिंसा, एक प्रक्रिया के रूप में, उन उत्पीड़कों द्वारा पीढ़ी-दर पीढ़ी की जाती रहती है, जो इसके उत्तराधिकारी बनते जाते हैं और इसी के वातावरण में ढलते रहते हैं। यह वातावरण उत्पीड़कों में एक जबरदस्त स्वामित्व-चेतना उत्पन्न करता है। अर्थात वे स्वयं को विश्व और मनुष्यों का स्वामी समझने लगते हैं। विश्व और मनुष्य के प्रत्यक्ष, ठोस, भौतिक स्वामित्व के बिना उत्पीड़क चेतना स्वयं को समझ नहीं सकती-यहां तक कि इसके बिना उसका अस्तित्व ही संभव नहीं। एरिक फ्रॉम ने इस चेतना के बारे में कहा है कि ऐसे स्वामित्व के बिना "विश्व से उसका सम्पर्क ही समाप्त हो जाएगा।" उत्पीड़क चेतना में अपने आसपास की हर चीज को अपने प्रभुत्व की वस्तु में बदल देने की प्रवृत्ति होती है। पृथ्वी, सम्पत्ति, उत्पादन, मनुष्यों का सृजन, स्वयं मनुष्य तथा समय-गोया कि हर चीज उसकी सेवा करने वाली वस्तु के स्तर तक सीमित होकर रह जाती है।

फ्रेरे घोषणा करते हैं कि मानव विज्ञान व प्रौद्योगिकी का गुलाम नहीं है। उत्पीड़क अवश्य ही इन्हें दमन व उत्पीड़न का औजार बना लेते हैं। एक क्रान्तिकारी मानववादी विज्ञान का प्रयोग 'सत्य की पहचान' के लिए, सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए ही करेगा। प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए उत्पीड़क चेतना जीवन को नष्ट करती है, क्योंकि वह जीवन की मूलभूत विशेषताओं -जिज्ञासा, सदा व्यग्र रहने वाली प्रेरणा और सृजनशक्ति को अवरूद्ध करती है। उत्पीड़क लोग अपने उद्देश्य के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अधिक से अधिक इस्तेमाल करते हैं, जो निस्संदेह बड़े ही शक्तिशाली औजार हैं, लेकिन उनका उद्देश्य क्या है? उद्देश्य है:

दमन और चालबाजी के जरिए उत्पीड़न की व्यवस्था का बनाए रखना, वस्तुओं (आब्जेक्ट्स) के रूप में, चीजों (थिंग्स) के रूप में व्यक्ति को बदल देना, उत्पीड़ितों का और कोई उद्देश्य नहीं होता, इसके अलावा कि उनके उत्पीड़क उनके लिए जो उद्देश्य निर्धारित कर दें, उस पर वे पूर्ण आस्था रखते हुए आँखें मूँदकर अमल करें।

विज्ञान का इस्तेमाल उत्पीड़िकों की अमानवीयता में भी किया जाता है और क्रान्तिकारियों के मानववाद में भी, लेकिन उत्पीड़क के हाथों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी मनुष्यों को 'चीजों' में बदल कर रख देने का साधन बनते हैं, जबकि क्रान्तिकारियों के हाथों उनका उपयोग मानुषीकरण के लिए होता है। लेकिन उत्पीड़ितों को मानुषीकरण की प्रक्रिया का कर्ता होना चाहिए, ताकि वे वैज्ञानिक रूचि की वस्तु मात्र न बने रहे जाएं।

जनता ज्ञानवान है - वैज्ञानिक क्रान्तिकारी मानववाद, क्रान्ति के नाम पर, उत्पीड़ितों को ऐसी वस्तुएं नहीं मान सकता, जिनका विश्लेषण किया जाना है और उस विश्लेषण के आधार पर जिन्हें व्यापार सम्बन्धी निर्देश दिये जाने हैं। ऐसा करने का मतलब होगा फ्रेरे के अनुसार उत्पीड़क विचारधारा के मिथकों में से एक परम अज्ञान के मिथक में फंस जाना। इस मिथक में किसी के द्वारा किसी को परम अज्ञानी मानने का निर्णय करने की बात शामिल है। जो व्यक्ति यह निर्णय करता है, वह स्वयं को और अपने वर्ग को ज्ञानी या जन्म से ही ज्ञान का अधिकारी समझता है। इस प्रकार वह दूसरों को विजातीय समझता है। अर्थात दूसरों को ज्ञानवान या ज्ञान का अधिकारी नहीं मानता। उसे अपने वर्ग के शब्द ही 'सच्चे' शब्द लगते हैं, जिन्हें वह दूसरों पर थोपता है या थोपने की कोशिश करता है। ये 'दूसरे' होते हैं उत्पीड़ित, जिनसे उनके शब्द चुरा लिए गए होते हैं। जो लोग दूसरे के शब्द चुराते हैं, वे दूसरों की क्षमताओं के प्रति अपने मन में गहरा संदेह उत्पन्न कर लेते हैं और उन्हें असमर्थ समझते हैं। जब-जब उन लोगों ने जिनको उन्होंने बोलने के अधिकार से वंचित कर रखा है, उनकी बात सुने बिना ही अपनी बात कहते हैं, तब-तब वे सत्ता के और

अधिक आदी होते जाते हैं। ऐसी सत्ता के अभ्यस्त हो जाने के बाद उन्हें ऐसा कोई अवश्य चाहिए, जिसे वे आदेश दे सकें, क्योंकि उसके बिना वे जी ही नहीं सकते।

फ्रेरे इस मिथक की भर्त्सना करते हुए कहते हैं कि वैज्ञानिक और मानववादी क्रान्तिकारी नेता जनता के अज्ञान सम्बन्धी मिथक में विश्वास नहीं कर सकते। उन्हें एक क्षण के लिए भी इस पर संदेह करने का अधिकार नहीं कि यह केवल एक मिथक है। वे यह विश्वास नहीं कर सकते कि वे और केवल वे ही ज्ञानवान हैं, क्योंकि इसका अर्थ होगा जनता पर संदेह करना। हालांकि उनका यह समझना ठीक हो सकता है कि उनकी क्रांतिकारी चेतना के कारण उनके क्रान्तिकारी ज्ञान का स्तर जनता के अनुभवजन्य ज्ञान के स्तर से भिन्न है, फिर भी स्वयं को और अपने ज्ञान को जनता पर थोप नहीं सकते। वे जनता को सिर्फ नारे नहीं दे सकते, उन्हें तो जनता से संवाद ही करना चाहिए, ताकि जनता का यथार्थ संबंधी अनुभवजन्य ज्ञान नेताओं के आलोचनात्मक ज्ञान से पोषित होकर, क्रमशः यथार्थ के कारणों के ज्ञान में बदल जाए।

फ्रेरे के अनुसार प्रभुत्वशाली अभिजन अपनी राजनीतिक गतिविधियों में बैंकीय अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं। इसके जरिए वे उत्पीड़ितों की 'डूबी हुई' चेतना की दशा से मेल खाने वाली उनकी निष्क्रियता को बढ़ाते हैं। वे उत्पीड़ितों की निष्क्रियता का लाभ उठाकर उनकी चेतना को ऐसे नारों से 'भर' देते हैं, जो उनमें पहले से अधिक 'स्वतंत्रता का भय' उत्पन्न करते हैं। यह व्यवहार सच्चे मुक्तिदायी कर्म से मेल नहीं खाता, जो उत्पीड़कों के नारों को एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करता है और उन नारों को अपने भीतर से 'निकाल फेंकने' में उत्पीड़ितों की मदद करता है। फ्रेरे कहते हैं कि आखिर मानववादियों का काम यह तो नहीं है कि वे अपने नारों को उत्पीड़कों के नारों में लड़ाएं और इसके लिए उत्पीड़ितों को परीक्षण का आधार बनाएं। इस प्रकार तो उत्पीड़ितों का काम केवल यह हो जाता है कि पहले वे एक समूह के नारों को अपने अंदर 'बसाएँ' और फिर दूसरे समूह के नारों

को। मानववादियों का काम है उत्पीड़ितों को इस तथ्य से अवगत कराना कि उत्पीड़िकों को अपने भीतर 'बसाए' रहने के कारण जब तक वे दोहरे प्राणी बने रहेंगे, तब तक वास्तविक मनुष्य नहीं बन पाएँगे।

इस काम में यह बात शामिल है कि क्रान्तिकारी नेता जनता के निकट उसके 'उद्धार का संदेश देने न जाएँ, बल्कि उसके साथ संवाद करने जाएँ जिससे वे जान सकें कि लोगों की वस्तुपरक स्थिति क्या है? और यह भी कि उस स्थिति की उनकी अभिज्ञा क्या है। अर्थात लोग स्वयं को और विश्व को, जिसके अंदर और जिसके साथ वे रहते हैं, कैसे देखते हैं और इस प्रत्यक्षीकरण के विभिन्न स्तर क्या हैं। फ्रेरे सावधान करते हैं कि लोग विश्व को कैसे देखते हैं, इसका ध्यान रखे बिना जो शैक्षिक या क्रान्तिकारी कार्यक्रम चलाया जाएगा, उससे सकारात्मक परिणामों की आशा नहीं की जा सकती। ऐसे कार्यक्रम के पीछे इरादे चाहे जितने नेक हों, वह एक सांस्कृतिक आक्रमण ही होगा।

अस्तित्ववादी चिन्तन :-

फ्रेरे मानवीय अस्तित्व में पूर्ण विश्वास रखते हैं। उनकी दृष्टि में मानवीय अस्तित्व ऐतिहासिक है जो ऐसे विश्व में है जिसका मानव द्वारा ही निरन्तर सृजन व पुनर्सृजन होता है। फ्रेरे का विश्वास है कि मनुष्य अपनी गतिविधि से और उस विश्व से, जिसमें वे रहते हैं, अवगत होते हैं। वे अपने लिए उद्देश्य निर्धारित करते हैं और उनके अनुसार काम करते हैं। वे अपने निर्णय स्वयं लेते हैं और उनकी यह निर्णय-क्षमता स्वयं उनके अंदर विश्व से उनके सम्बन्धों में, और अन्य मनुष्यों से उनके सम्बन्धों में निहित होती है। वे विश्व का रूपांतरण करते हैं और इसके द्वारा विश्व को अपनी सृजनात्मक उपस्थिति से अनुप्राणित करते हैं। पशुओं की भाँति वे केवल जीवित नहीं रहते, बल्कि अस्तित्ववान होते हैं, और उनका अस्तित्व ऐतिहासिक होता है। पशुओं का कोई 'विश्व' नहीं होता, केवल एक 'अवलम्ब' होता है, जिस पर वे टिके होते हैं, और उनका यह 'अवलम्ब' (आधार) कालरहित होता

है, समतल होता है, सर्वत्र एक -सा-होता है, जिस पर वे अपना जीवन जी डालते हैं। मनुष्य एक ऐसे विश्व में अस्तित्ववान होते हैं, जिसका वे निरन्तर पुनर्सृजन और रूपांतरण करते हैं। पशुओं के लिए 'यह विश्व' सिर्फ एक प्राकृतिक आवास है, जिसके संपर्क में वे रहते हैं, मनुष्यों के लिए 'यहां' का अर्थ एक भौतिक स्थान नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक स्थान है।

फ्रेरे की भाषा में कहें तो पशु के लिए 'यहां', 'अब', 'वहां', 'आने वाले कल' और 'बीते हुए कल' का कोई अस्तित्व नहीं होता, क्योंकि आत्मचेतना के अभाव में उसका जीवन पूर्णतः निश्चित है। पशु 'यहां', 'अब' या 'वहां' द्वारा थोपी गई सीमाओं के पार नहीं जा सकते, इन पर विजय नहीं पा सकते हैं।

मानवीय अस्तित्व का नियंता स्वयं मानव है - फ्रेरे का अभिमत है कि पशु समय व स्थितियों से सीमाबद्ध होते हैं। वे वातावरण से सिर्फ स्वयं को अनुकूलित करते हैं जबकि मानव उन परिस्थितियों या सीमाओं को पहचान कर जिसमें उसकी मानवीकरण की सम्भावनायें बाधित हो रही हैं, उन्हें बदलने के लिए अर्थात विश्व को अपने योग्य बनाने के लिए सक्रिय रूप से हस्तक्षेप कर सकता है।

मनुष्य सचेत प्राणी होने के कारण चूंकि स्वयं से और इस प्रकार विश्व से अवगत होते हैं, इसीलिए सीमाबद्धता और अपनी निजी स्वतंत्रता के द्वंद्वात्मक सम्बन्ध में अस्तित्ववान रहते हैं। जब वे विश्व को स्वयं से अलग करके उसे अपने चिन्तन और कर्म की वस्तु बनाते हैं, स्वयं को अपनी गतिविधियों से अलग करके देखते हैं, विश्व और अन्य मनुष्यों से अपने सम्बन्धों के बीच अपने निर्णयों का केन्द्र स्वयं को बनाते हैं, तो स्वयं को सीमित करने वाली स्थितियों पर विजय प्राप्त करते हैं। मनुष्य जब इन प्रतिबंधक-स्थितियों को बंधनों के रूप में, अपनी मुक्ति के मार्ग में उपस्थित बाधाओं के रूप में, देख लेते हैं तो ये स्थितियाँ अपनी पृष्ठभूमि में साफ उभर कर सामने आ जाती हैं और एक प्रदत्त यथार्थ के ठोस ऐतिहासिक आयामों के रूप में अपने वास्तविक चरित्र को खोल देती हैं। मनुष्य इन्हें चुनौतियों

के रूप में स्वीकार करते हैं और इनका जवाब अपने उन कर्मो से देते हैं, जिन्हें वायीरा पिंटो 'प्रतिबंध के कर्म' कहते हैं। ये वे कर्म हैं, जो 'प्रदत्त' को निष्क्रिय रूप से स्वीकार करने के बजाए उसका निषेध करने तथा उस पर विजय प्राप्त करने के लिए किये जाते हैं।

विश्व मानव के लिए चिंतन व कर्म की वस्तु है - फ्रेरे का मानना है कि 'प्रतिबंधक स्थितियाँ' अपने आप में आशाहीनता का वातावरण उत्पन्न करने वाली नहीं होतीं। वे हमें किस रूप में प्रभावित करती हैं, यह इस पर निर्भर है कि एक प्रदत्त ऐतिहासिक क्षण में हम उन्हें कैसे देखते हैं। अर्थात वे हमें तोड़े जा सकने वाले बंधनों के रूप में दिखाई देती हैं या अलंघ्य बाधाओं के रूप में। चूंकि आलोचनात्मक बोध कर्म के रूप में होता है, इसलिए उससे आशा और आत्मविश्वास का वह वातावरण बनता है, जो मनुष्यों को प्रतिबंधक स्थितियों पर विजय प्राप्त करने की दिशा में ले जाता है। प्रतिबंधक स्थितियां जिस ठोस ऐतिहासिक यथार्थ में पाई जाती हैं, उस पर कर्म करने से ही उन पर विजय पाई जा सकती है। जब यथार्थ का रूपान्तरण किया जाता है और इन स्थितियों को पार कर लिया जाता है, तो पुनः ऐसी नई स्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं, जो बदले में नए प्रतिबंधक कर्मो का आह्वान करती है।

फ्रेरे मानवीय चितंन व कर्म की क्षमता में पूर्ण आस्था रखते हैं। वे इस दृष्टि से आशावादी भी हैं कि यथार्थ को पहचान लेने पर मनुष्य उसका रूपान्तरण करने में सक्षम है और इस प्रकार वह परतंत्रता (प्रतिबन्धक स्थितियाँ या सीमायें) से मुक्ति प्राप्त करता है।

उत्पादों से अलग कर 'उन पर चिंतन व कर्म' करने की क्षमता - फ्रेरे के अनुसार मानव अपने 'उत्पादों' से बंधा नहीं होता है, वह उसका गुलाम नहीं है। मानव यदि देखता है कि उसके 'उत्पाद' स्वयं उसे ही नियन्त्रित करने लगे हैं। तो वह उनमें

परिवर्तन कर उन्हें अपने अनुकूल बनाता है, न कि स्वयं उनके सम्मुख आत्मसमर्पण कर उनका दास बनता है।

पशुओं के अवलंब-जगत में कोई प्रतिबंधक कर्म करने की क्षमता भी नहीं होती। वैसी क्षमता के लिए विश्व के प्रति एक निर्णायक रूख आवश्यक होता है, जिसका अर्थ है: विश्व का रूपान्तरण करने के लिए विश्व को स्वयं से अलग करके देखना और उसे अपने चिंतन एवं कर्म की वस्तु बनाना। पशु अपने अवलम्ब से जैव रूप में जुड़े रहते हैं, इसलिए वे स्वयं और विश्व में कोई भेद नहीं कर पाते। तद्नुसार, पशु ऐतिहासिक प्रतिबंधक स्थितियों से सीमित नहीं होते, बल्कि समूचे अवलम्ब से सीमित होते हैं और पशुओं के लिए उपयुक्त भूमिका यह नहीं है कि वे अपने अवलम्ब से अपना सम्बन्ध जोड़ें (ऐसा करने पर तो अवलम्ब विश्व बन जाएगा), उनकी उपयुक्त भूमिका है स्वयं को उसके अनुकूल बनाना। इस प्रकार पशु जब कोई घोंसला, छत्ता या बिल बनाते हैं तो किसी ऐसी चीज का 'उत्पादन' नहीं करते, जो प्रतिबंधक कर्मो, अर्थात रूपांतरकारी अनुक्रियायों का परिणाम हो। उनकी उत्पादक गतिविधियाँ एक शारीरिक जरूरत पूरी करने के लिए होती हैं और यह जरूरत चुनौतीपूर्ण नहीं, केवल उत्तेजक होती है। मार्क्स ने 1844 की पांडुलिपियों में लिखा है कि " एक पशु के उत्पाद का सीधा सम्बन्ध उसके भौतिक शरीर से होता है। जबकि मनुष्य स्वतंत्रतापूर्वक अपने उत्पाद का सामना करता है।'"

मानव संस्कृति व इतिहास का रचयिता है, स्वयं आचरण है- उत्पादन का एक संदर्भ होता है और उत्पाद उसे अर्थ का आयाम देकर विश्व बनाते हैं। लेकिन संदर्भ को अर्थ का आयाम देखकर विश्व बनाने वाले उत्पाद वे ही होते हैं, जो किसी प्राणी की गतिविधि का परिणाम होते हैं, किन्तु जिनका सीधा सम्बन्ध उसके भौतिक शरीर से नहीं होता (यद्यपि उन पर उसके भौतिक शरीर की छाप हो सकती है।) इस प्रकार का उत्पादन करने वाला प्राणी अनिवार्यतः स्वयं से अवगत होगा। वह 'अपने आप में' प्राणी नहीं, बल्कि 'अपने लिए प्राणी' होगा, अर्थात स्वाधीन प्राणी होगा। यह

प्राणी उस विश्व में, जिससे वह स्वयं को जोड़ता है, 'होने की प्रक्रिया' में ही हो सकता है। ठीक इसी तरह, यदि यह प्राणी नहीं होगा तो विश्व भी नहीं होगा। फ्रेरे पुनः मानव व पशु में भेद करते हुए कहते हैं कि पशुओं और मनुष्यों में फर्क यह है कि पशु (क्योंकि उनकी गतिविधि में प्रतिबंधक कर्म नहीं होते) स्वयं से मुक्त उत्पादों को उत्पन्न नहीं कर सकते, जबकि मनुष्य विश्व पर किये जाने वाले अपने कर्म से संस्कृति और इतिहास के परिमंडल की रचना कर सकते हैं। इस प्रकार दोनों में फर्क यह है कि पशु नहीं मनुष्य ही आचरण करने वाले प्राणी हैं। मनुष्य स्वयं ही आचरण हैं, क्योंकि आचरण वास्तव में यथार्थ का रूपांतरण करने वाला चिंतन और कर्म है, और यही ज्ञान तथा सृजन का स्रोत है। पशुओं की गतिविधि आचरण रहित होती है, अतः सृजनात्मक नही होती, इसके विपरीत मनुष्य की रूपांतरकारी गतिविधि सृजनात्मक होती है।

प्रामाणिक अस्तित्व के बोध हेतु स्वतन्त्रता के भय से मुक्ति आवश्यक है - फ्रेरे की मान्यता है कि उत्पीड़ित लोग एक प्रकार के द्वैत के शिकार होते हैं, जो उनके अंतरतम अस्तित्व में स्वयं को स्थापित किये रहता है। वे यह तो जानते हैं कि स्वतंत्रता के बिना उनका अस्तित्व प्रामाणिक अस्तित्व नहीं है, लेकिन प्रामाणिक अस्तित्व की इच्छा रखते हुए भी वे उससे डरते हैं। वे एक ही साथ 'स्वयं' भी होते हैं और 'उत्पीड़क' भी, वह उत्पीड़क जिसकी चेतना को वे आत्मसात किये रहते हैं। द्वंद्व इसमें होता है कि वे स्वयं अपने होने और विभाजित रहने में से क्या चुनें, अपने भीतर से उत्पीड़क को निकाल फेकें या उसे वहीं बना रहने दें, मानवीय एकजुटता को चुनें या अलगाव को, निर्देशों का पालन करें या अपनी अच्छा से काम करें, दर्शक बने रहें या कर्ता बनें, स्वयं सक्रिय हों या उत्पीड़कों के कर्म के जरिए सक्रिय होने का भ्रम पाले रहें, बोले या खामोश रहें, नपुंसक बने रहें या सृजन और पुनर्सृजन कर सकने वाली अपनी सत्ता से विश्व का रूपांतरण करें। फ्रेरे इंगित करते

हैं कि यही उत्पीड़ितों का वह त्रासद धर्मसंकट है, जिसका ध्यान उनकी शिक्षा में अवश्य रखा जाना चाहिए।

स्वामित्व की अनियंत्रित ललक के कारण उत्पीड़कों में यह दृढ़ धारणा विकसित हो जाती है कि वे हर चीज को अपनी क्रय शक्ति की वस्तु बना सकते हैं - अपने द्वारा खरीदी जा सकने वाली वस्तु में बदल सकते हैं। इसीलिए उनकी अस्तित्व सम्बन्धी अवधारणा नितांत भौतिकतावादी होती है। हर चीज का मापदंड है पैसा, और मुनाफा कमाना प्राथमिक लक्ष्य। उत्पीड़कों के लिए सार्थक बात सिर्फ एक है और वह यह कि उन्हें ज्यादा मिले-हमेशा ज्यादा मिले-चाहे इसके चलते उत्पीड़ितों को कम मिले या कुछ भी न मिले। उनके लिए 'अस्तित्व का अर्थ है स्वामित्व' और स्वामी वर्ग का होना।

फ्रेरे मानते हैं कि उत्पीड़न की स्थिति से लाभान्वित होने के कारण उत्पीड़कों को यह बोध नहीं होता कि यदि स्वामित्व ही अस्तित्व की शर्त है, तो यह शर्त सभी मनुष्यों पर लागू होती है। यही कारण है कि उनकी उदारता मिथ्या होती है। उनके लिए मनुष्यता भी एक 'चीज' है और वे उसके स्वामी हैं, पैतृक सम्पत्ति के अधिकार की तरह उस पर सिर्फ उनका ही अधिकार है। उत्पीड़क चेतना को 'दूसरों' का मानुषीकरण, जनता का मानुषीकरण, पूर्ण मनुष्य बनने का प्रयास नहीं लगता, बल्कि व्यवस्था विरोधी कार्य लगता है।

उत्पीड़क लोग अधिक के स्वामित्व के अपने एकाधिकार को ऐसे विशेषाधिकार के रूप में नहीं देखते, जो दूसरों को और स्वयं उनको भी अमानुषिक बनाता है। वे यह नहीं देख पाते कि स्वामी वर्ग के रूप में स्वामित्व के अपने अहंवादी प्रयास में वे अपनी संपदाओं के बीच घुटकर मर जाते हैं - कि उनका अस्तित्व समाप्त हो जाता है, केवल स्वामित्व रह जाता है। उनके लिए और अधिक पाना एक ऐसा अधिकार होता है, जिसे उनसे अलग नहीं किया जा सकता - एक ऐसा अधिकार, जिसे वे समझते हैं कि उन्होंने अपनी निजी 'प्रयास' से, जोखिम

उठाने के 'साहस' से प्राप्त किया है। अगर दूसरों के पास अधिक नहीं है तो इसलिए कि वे अयोग्य और आलसी हैं, और उनमें सबसे बुरी बात, जिसे कभी उचित नहीं माना जा सकता, यह है कि वे प्रभु वर्ग के 'उदारतापूर्ण कार्यों' के लिए कृतज्ञ नहीं होते। ठीक इसीलिए कि उत्पीड़ित लोग 'अकृतज्ञ' और 'ईर्ष्यालु' होते हैं, उन्हें ऐसे संभावित शत्रु माना जाता है, जिन पर हमेशा नजर रखी जानी चाहिए।

फ्रेरे मानते हैं कि उत्पीड़क वर्ग के लोग इससे भिन्न कुछ सोच ही नहीं सकते। यदि उत्पीड़ितों का मानुषीकरण व्यवस्था विरोध का सूचक है तो उनकी स्वतंत्रता भी व्यवस्था विरोधी हुई। अतः आवश्यक है कि उन्हें निरन्तर नियंत्रण में रखा जाए और उत्पीड़क जितना ही उत्पीड़ितों को नियंत्रित करते हैं उतना ही वे उन्हें प्रत्यक्षतः निर्जीव 'चीजों' में बदलते हैं। स्वामित्व की ललक के कारण उत्पीड़क चेतना में अपने सामने आने वाली हर चीज और हर मनुष्य को निर्जीव बना देने की प्रवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति निस्संदेह परपीड़न की प्रवृत्ति से मेल खाती है। 'दि हार्ट मैन' से फ्रॉम को उद्धृत करते हुए फ्रेरे स्पष्ट करते हैं-

"दूसरे व्यक्ति (या दूसरे किसी सजीव प्राणी) पर अपना सम्पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करने में मिलने वाला आनन्द ही परपीड़न वृत्ति का सार है। इसी बात को दूसरी तरह से यों कहा जा सकता है कि परपीड़न का उद्देश्य मनुष्य को एक चीज के रूप में बदलना है, सजीव को निर्जीव में बदलना है, क्योंकि पूर्ण और परम नियन्त्रण से सजीव प्राणी जीवन का एक सारभूत गुण खो देता है - स्वतंत्रता।"[13]

यथार्थवादी चिन्तनः-

फ्रेरे विश्व से उत्पीड़क -उत्पीड़न अन्तर्विरोध को समल समाप्त करते हुए सभी के मानुषीकरण को सर्वोपरि मानते हैं। ऐसे ही विश्व में जहां कोई न उत्पीड़क होगा, न उत्पीड़ित मानव व्यक्तित्व अपनी निहित सम्भावनाओं को पूर्णता से प्राप्त कर सकेगा। वे कहते हैं- "मुक्ति एक प्रसव है और प्रसव पीड़ादायक है। इससे जो

मनुष्य पैदा होता है, एक नया मनुष्य होता है, जिसका जीवित रहना तभी संभव है, जब उत्पीड़क-उत्पीड़ित के अंतर्विरोध के स्थान पर सभी मनुष्यों का मानुषीकरण हो जाए। अथवा, दूसरी तरह से कहें तो, इस अंतर्विरोध का समाधान उसी प्रसूति में जन्म लेता है, जिसमें नया मनुष्य पैदा होता है - ऐसा नया मनुष्य , जो न तो उत्पीड़क है न उत्पीड़ित बल्कि जो स्वतंत्रता प्राप्त करने की प्रक्रिया में है''[14] । साथ ही फ्रेरे यह भी स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि यह समाधान आदर्शवादी ढंग से नहीं किया जा सकता है। उत्पीड़ितों को अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष शुरू करने में समर्थ होने के लिए यथार्थवादी होना पड़ेगा। उन्हें उत्पीड़न के यथार्थ को ऐसी बंद दुनिया के रूप में हरगिज नहीं देखना चाहिए, जिससे निकल पाना संभव नहीं। उन्हें उसको ऐसी अवरोधक स्थिति के रूप में देखना चाहिए, जिसे वे बदल सकते हैं। यह बोध आवश्यक है, किन्तु अपने -आप में मुक्ति के लिए पर्याप्त नहीं है। इस बोध का मुक्तिदायी कर्म के लिए प्रेरित करने वाली शक्ति बनना आवश्यक है। उत्पीड़ितों का यह जान लेना भी अपने आप में मुक्ति नहीं है कि उनका अस्तित्व एक प्रतिपक्ष के रूप में उस उत्पीड़न के साथ द्वंद्वात्मक रूप से संबद्ध है, जिसका अस्तित्व उनके बिना संभव नहीं। उत्पीड़ित लोग जिस अंतर्विरोध में फंसे हुए हैं, उसे वे तभी दूर कर सकते हैं, जब उनका यह बोध उन्हें अपनी मुक्ति के संघर्ष में प्रवृत्त करे।

यथार्थ का बोध व रूपान्तरण मानवीय कार्यभार हैं - वस्तुतः वास्तविकता को पहचानने व यथार्थ के कारणों को चिन्हित करने में मनुष्य तभी सक्षम हो सकता है जब वह स्थितियों को प्रत्यक्ष रूप से, निकट से अनुभव करते हुए उन पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कर कर्म करे। फ्रेरे कहते हैं-

''मनुष्य वास्तव में आलोचनात्मक तभी होंगे जब वे अधिक से अधिक व्यवहार के धरातल पर आयें। अर्थात जब उनके कर्म में वह आलोचनात्मक चिंतन शामिल हो, जो उत्तरोत्तर उनके चिंतन को संगठित करता जाये और इस प्रकार उन्हें

यथार्थ के बिलकुल भोले ज्ञान से ऊपर एक उच्चतर स्तर पर ले जाये, जहां पहुँचकर वे यथार्थ के कारणों को देख सकें।''[15]

उनकी दृष्टि में जिस तरह वस्तुपरक सामाजिक यथार्थ का अस्तित्व कोई संयोग नहीं, बल्कि मानवीय कर्म का उत्पाद है, उसी तरह उसका रूपांतरण भी संयोग से नहीं होता। यदि मनुष्य सामाजिक यथार्थ को उत्पन्न करते हैं। (जो 'आचरण के उलट जाने' से उन्हीं के विरूद्ध हो जाता है और उन्हें अनुकूलित करता है) तो उस यथार्थ का रूपांतरण एक ऐतिहासिक कार्यभार है, मनुष्यों का कार्यभार है।

रूपान्तरण आचरण द्वारा ही सम्भव है- फ्रेरे के अनुसार जो यथार्थ उत्पीड़नकारी बन जाता है वह उत्पीड़ितों के परस्पर विरोध में परिणत हो जाता है। उत्पीड़ितों को, जिनका कार्यभार अपने प्रति सच्ची एकजुटता प्रदर्शित करने वाले लोगों के साथ मिल कर अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष करना है, उन्हें अपने अंदर इस संघर्ष के आचरण के जरिए उत्पीड़न की आलोचनात्मक समझ अवश्य पैदा करनी चाहिए। मुक्ति की प्राप्ति में सबसे बड़ी बाधाओं में से एक यह है कि उत्पीड़नकारी यथार्थ उन्हें भी अपने भीतर जज्ब कर लेता है और इसके जरिए उनकी चेतना को डुबो देता है। प्रकार्यात्मक रूप से उत्पीड़न पालतू बनाने का काम करता है। आदमी इसकी ताकत का शिकार न बना रहे, इसके लिए उसका इससे उबरना और इस पर ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा केवल आचरण के जरिए किया जा सकता है, जिसका अर्थ है विश्व के रूपांतरण के लिए उस पर चिंतन और कर्म करना।

उत्पीड़न बोध तीव्र व सच्चा हो - फ्रेरे के अनुसार उत्पीड़न की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने के लिए उत्पीड़न को और अधिक वास्तविक बनाना चाहिए। इसके लिए उत्पीड़न की चेतना में उसके अपयश को जोड़ना जरूरी है साथ ही उसे और ज्यादा बदनाम करना जरूरी है। 'वास्तविक उत्पीड़न में उत्पीड़न के अहसास को जोड़ कर उसे और अधिक उत्पीड़नकारी बनाना।' आत्मपरक और वस्तुपरक के द्वंद्वात्मक

सम्बन्ध से मेल खाता है। दोनों की इस परस्पर निर्भरता की स्थिति में ही वह प्रामाणिक आचरण संभव है, जिसके बिना उत्पीड़क-उत्पीड़ित के अंतर्विरोध का समाधान नहीं हो सकता। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए आवश्यक है कि उत्पीड़ित लोग यथार्थ का सामना आलोचनात्मक ढंग से करें और इसके साथ-साथ यथार्थ को वस्तुनिष्ठ बनाते हुए उसे बदलने का काम भी करें। इस आलोचनात्मक हस्तक्षेप के बिना कोरा यथार्थबोध वस्तुपरक यथार्थ के रूपांतरण की ओर नहीं ले जा सकता, क्योकि ऐसा यथार्थबोध सच्चा बोध होता ही नहीं। वह एक ऐसे व्यक्ति का शुद्ध आत्मपरकतावादी बोध होता है, जो वस्तुपरक यथार्थ को छोड़ देता है और उसका कोई मिथ्या स्थानापन्न गढ़ लेता है।

एक और तरह का मिथ्या बोध तब होता है, जब वस्तुपरक यथार्थ में होने वाले किसी परिवर्तन में बोधकर्ता के व्यक्तिगत या वर्गीय हितों के लिए खतरा होता है। पहली स्थिति में यथार्थ में कोई आलोचनात्मक हस्तक्षेप नहीं होता, क्योंकि वह यथार्थ न होकर एक मिथ्या यथार्थ होता है। दूसरी स्थिति में भी कोई आलोचनात्मक हस्तक्षेप नहीं होता, क्योंकि ऐसा हस्तक्षेप बोधकर्ता के वर्गीय हितों के विरुद्ध होता है। दूसरे मामले में बोधकर्ता की प्रवृत्ति 'स्नायुरोगी की तरह' व्यववहार करने की होती है। तथ्य का अस्तित्व होता है, लेकिन तथ्य और उसका संभावित परिणाम, दोनों उसके प्रतिकूल होते हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि वह तथ्य से इनकार तो न करे, लेकिन उसे भिन्न रूप में देखे। एक प्रतिरक्षा प्रणाली के रूप में अपनाई जाने वाली यह युक्ति अंततः आत्मपरकतावाद के ही समान होती है। किसी तथ्य के सत्यों को युक्तियुक्त बना देने से होता यह है कि तथ्य को यद्यपि नकारा नहीं जाता, लेकिन उसका वस्तुपरक आधार खो जाता है। तथ्य ठोस नहीं रहता, एक मिथक बन जाता है, जो बोधकर्ता के वर्ग की प्रतिरक्षा के लिए गढ़ा जाता है।

इसी चीज में उन मनाहियों और कठिनाइयों का एक कारण निहित है, जो जनता को यथार्थ में आलोचनात्मक हस्तक्षेप करने से रोकने के लिए तैयार की जाती

हैं। उत्पीड़क अच्छी तरह जानता है कि यह हस्तक्षेप उसके हित में नहीं होगा। उसके हित में जो 'होता है', वह यह कि जनता डूब की जिस स्थिति में है, उसी में पड़ी रहे, उत्पीड़नकारी यथार्थ के सामने नपुंसक बनी रहे। फ्रेरे उद्धरण देकर स्पष्ट करते है कि 'लेनाइन' में लुकाच ने क्रान्तिकारी दल के लिए यह जरूरी बताया है कि जनसाधारण को उनके अपने कर्म का अर्थ समझाया जाये और उनके अनुभवों के अनुवर्ती विकास को सचेत रूप से क्रियाशील बनाया जाए।

संकीर्णतावाद का विरोधः-

फ्रेरे शिक्षा के प्रति अपने 'रूख' में संकीर्णतावाद या कठमुल्लावाद से दूर रहे हैं। जहाँ वह दक्षिणपंथी शक्तियों की जन-विरोधी भूमिका को स्पष्ट करते हैं, वहाँ वह वामपंथी शक्तियों के संकीर्णतावाद की भी तीव्र आलोचना करते हैं। फ्रेरे की दृष्टि किसी भी क्षेत्र का संकीर्णतावाद मानव -मुक्ति के मार्ग बाधा है। वे कहते हैं-"संकीर्णतावाद, जो मतांधता पर पलता है, हमेशा नपुंसक बनाता है। आमूल परिवर्तनवाद, जो आलोचनात्मक भावना से पुष्ट होता है, हमेशा सृजनात्मक होता है। संकीणतावाद मिथक गढ़ता है और उससे अलगाव पैदा करता है, आमूल परिवर्तनवाद आलोचनात्मक होता है, इसलिए मुक्त बनाता है। आमूल परिवर्तनवादीकरण में अपने लिए चुने गये दृष्टिकोण के प्रति उत्तरोत्तर बढ़ती हुई प्रतिबद्धता शामिल है और इस इस प्रकार उसमें ठोस, वस्तुपरक यथार्थ का रूपांतरण करने के प्रयास में उत्तरोतर अधिक संलग्नता भी शामिल है। इसके विपरीत, संकीर्णतावाद चूंकि मिथक गढ़ता है और अविवेकी होता है, इसलिए यह यथार्थ को एक मिथ्या (और इसीलिए अपरिवर्तनीय) 'यथार्थ' में बदल देता है।''[16]

फ्रेरे का विश्वास है कि संकीर्णतावाद किसी भी क्षेत्र का हो, मानवमुक्ति में बाधक होता है। उसका दक्षिणपंथी रूप अपने स्वाभाविक प्रतिपक्ष क्रान्तिकारी के आमूल परिवर्तनवादीकरण को उत्पन्न करने वाला होना चाहिए, लेकिन दुर्भाग्य से ऐसा हमेशा होता नहीं। कई बार ऐसा भी होता है कि दक्षिणपंथी संकीर्णतावाद की

प्रतिक्रिया में क्रान्तिकारी लोग भी संकीर्णतावादी के शिकार होकर प्रतिक्रियावादी हो जाते हैं। मगर इस संभावना के कारण आमूल परिवर्तनवादी को अभिजनों का विनीत चाकर नहीं बन जाना चाहिए। मुक्ति की प्रक्रिया में संलग्न होने के कारण वह उत्पीड़क की हिंसा के सामने निष्क्रिय नहीं रह सकता।

दूसरी तरफ, आमूल परिवर्तनवादी कभी आत्मपरकतावादी नहीं होता। उसके लिए आत्मपरक पक्ष का अस्तित्व वस्तुपरक पक्ष के संदर्भ में ही होता है (अर्थात उस ठोस यथार्थ के संदर्भ में, जो उसके विश्लेषण की वस्तु है) इस प्रकार आत्मपरकता और वस्तुपरकता एक द्वंद्वात्मक एकता में परस्पर सम्बद्ध होकर कर्म के साथ ज्ञान को और ज्ञान के साथ कर्म को उत्पन्न करती है।

फ्रेरे का मानना है कि संकीर्णतावादी, चाहे वह किसी भी तरह का हो, अपने अविवेक से अंधा होने के कारण यथार्थ की गतिशीलता को देखता ही नहीं या देख ही नहीं सकता। या फिर वह उसकी गलत व्याख्या करता है। अगर वह द्वंद्वात्मक ढंग से सोचता भी है तो एक प्रकार की पालतू द्वंद्वात्मकता के साथ सोचता है। दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी, जिसे वे अपनी रचना 'एड़काकाओं कोमो प्रेटिका डा लिबडाडे' में जन्मजात संकीर्णतावादी' भी कहते है, ऐतिहासिक प्रक्रिया की गति धीमी कर देना चाहता है। वह समय को और इस प्रकार मनुष्यों को पालतू बना लेना चाहता है। वामपंथी से संकीर्णतावादी बना व्यक्ति द्वंद्वात्मक ढंग से यथार्थ और इतिहास की व्याख्या करने के प्रयास से पूरी तरह भटक जाता है और पतित होकर सारतः भाग्यवादी दृष्टिकोण अपना लेता है।

दक्षिणपंथी और वामपथी संकीर्णतावादी में अन्तर करते हुए वे कहते हैं कि दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी वर्तमान को पालतू बनाना चाहता है, ताकि (वह आशा करता है कि) भविष्य इसी पालतू वर्तमान को पुनरूत्पन्न करे, जबकि वामपंथी संकीर्णतावादी भविष्य को पूर्व स्थापित समझता है - एक प्रकार का अवश्यंभावी भवितव्य, सौभाग्य या नियति।

दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी के लिए अतीत से जुड़ा हुआ 'आज' एक प्रदत्त और अपरिवर्तनीय सी चीज होता है, जबकि वामपंथी संकीर्णतावादी के लिए 'आने वाला कल' पहले से ही नियत होता है, अटल रूप से पूर्व निर्धारित होता है। ऐसे दक्षिणपंथी और ऐसे वामपंथी दोनों प्रतिक्रियावादी होते हैं क्योंकि इतिहास की अपनी-अपनी मिथ्या दृष्टि से चल कर दोनों कर्म के ऐसे रूप विकसित करते हैं, जिससे स्वतंत्रता का निषेध होता है। उनमें से एक 'सभ्य, शिष्ट' वर्तमान की, और दूसरा पूर्वनिश्चित भविष्य की कल्पना करता है, तो इसका मतलब यह नहीं है कि वे दोनों हाथ पर हाथ रख कर बैठे हुए दर्शक बन जायें और (पहला वर्तमान के जारी रहने की अपेक्षा करता रहे तथा दूसरा पहले से ही ज्ञात भविष्य के आगमन की प्रतीक्षा)। इसके विपरीत, ये लोग स्वयं को 'अवश्यंभाविता के घेरों' में बंद करे, जिनमें से ये कभी नहीं निकल पाते, अपना-अपना सत्य बनाते हैं। यह उन मनुष्यों का सत्य नहीं होता, जो भविष्य का निर्माण करने के लिए संघर्ष करते हैं और उस निर्माण में निहित जोखिम उठाते हैं। न यह सत्य उन मनुष्यों का होता है जो इस संघर्ष में कंधे से कंधा मिला कर लड़ते हैं और सीखते हैं कि उस भविष्य का निर्माण कैसे किया जाता है, जो कोई प्रदत्त वस्तु न होकर मनुष्यों द्वारा रची जाने वाली चीज हैं। दोनों प्रकार के संकीर्णतावादी इतिहास के प्रति ऐसा भाव रखते हैं, जैसे वे इसके स्वामी हों, लेकिन इसका परिणाम यह होता है कि वे जनता से कट जाते हैं जो जनविरोधी हो जाने का ही एक तरीका है।

फ्रेरे मानते है कि दक्षिणपंथी संकीर्णतावादी 'अपने' सत्य में स्वयं को बंद कर लेता है तो वह और कुछ नहीं केवल अपनी स्वाभाविक भूमिका का ही निर्वाह करता है, लेकिन जब कोई वामपंथी संकीर्णतावादी बनता है तो वह अपने स्वभाव का ही निषेध करता है। लेकिन इन दोनों में से प्रत्येक चूंकि 'अपने' सत्य की ही परिक्रमा करता है, इसलिए उस सत्य पर प्रश्नचिन्ह लगने पर खतरा महसूस करता है। इस प्रकार उनमें से प्रत्येक 'अपने' सत्य के अलावा बाकी सब कुछ को झूठ समझता है।

शिक्षा के संदर्भ में सामाजिक पृष्ठ भूमि का विश्लेषण करते हुए वामपंथियों तथा दक्षिणपंथियों के संबंध में फ्रेरे पत्रकार मार्सियो मोरिया आल्वेज की इस टिप्पणी को उद्घृत करते हैं, ''वे दोनों (दक्षिण एवं वामपंथी) अति असंदिग्धता या संदेह की अनुपस्थिति के रोग से पीड़ित हैं''। दूसरे शब्दों में, हरेक यह मानकर चलता है कि जो वस्तु 'उसका सत्य' नहीं है, पह झूठ है। 'संक्षेप में' हरेक अपने ही सत्य के इर्द-गिर्द चक्कर लगाता है। यदि उसके सत्य पर कहीं से भी संदेह किया जाता है, तो वह भयभीत अनुभव करता है। मानवमुक्ति से प्रतिबद्ध आमूल परिवर्तनवादी 'अवश्यंभाविता के घेरे' का बंदी नहीं बनता, जिसमें बंद हो जाने वाला व्यक्ति यथार्थ को भी अपने साथ कैद कर लेता है। इसके विपरीत वह, जितना अधिक आमूल परिवर्तनवादी होता है, उतना ही अधिक वह यथार्थ में प्रवेश करता है, ताकि उसे बेहतर तौर पर जान कर उसका बेहतर रूपांतरण कर सके। विश्व का अनावरण होने पर वह उसे देखने,सुनने और उसका सामना करने से डरता है। वह जनता से मिलने ओर उससे संवाद करने से नहीं डरता। वह न तो स्वयं को इतिहास का या मनुष्यों का स्वामी समझता है, न उत्पीड़ितों का मुक्तिदाता, लेकिन वह इतिहास के अंतर्गत उनके पक्ष में लड़ने के लिए स्वयं को प्रतिबद्ध अवश्य करता है।

ऐसी स्थिति में फ्रेरे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि उत्पीड़ितों के शिक्षा-शास्त्र का कार्य ''संकीर्णतावादियों द्वारा नहीं किया जा सकता''।[17] उत्पीड़ितों की शिक्षा का कार्य उस व्यक्ति द्वारा संभव है जो मूलवादी है और मानव मुक्ति के प्रति प्रतिबद्ध है। इस प्रकार, फ्रेरे की इस घोषणा से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं प्रथम, वस्तुस्थिति में परिवर्तन के लिए शिक्षा एक क्रांतिकारी भूमिका निभा सकती है और उत्पीड़ित मानव की मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकती है। दूसरे, मानव- मुक्ति की इस महायात्रा में संकीर्णतावाद या सत्य को समझने की यांत्रिकी दृष्टि प्रतिगामी भूमिका निभायेगी। अतः एक एसी दृष्टि की आवश्यकता है जो उत्पीड़ित एवं संघर्षरत मानव के अनुभवों के आधार पर बनी हो तथा अनुभव और काल की गतिशीलता एवं

परिवर्तनवादी प्रवृत्ति को स्वीकार करे। इसी प्रकार की दृष्टि व्यक्ति को मूलवादी बनाती है। यही मूलवादी मानव एक "ऐसी दुनिया का निर्माण करेगा, जिसमें प्रेम सहज व सरल होगा"। गांधी जी भी शिक्षा के सम्बंध में यह मानते रहे हैं कि इसकी मुख्य भूमिका है, विश्व में प्रेम और शांति का वातावरण बनाना, जिसके लिए आज समस्त मानवता भूखी है।

यूटोपियन परन्तु यथार्थवादी अवधारणाः-

पाओलो फ्रेरे के यहां भर्त्सना और घोषणा की संकल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है। भर्त्सना का संबंध आलोचनात्मक क्षमता से है और घोषणा का यूटोपिया से। ये दोनों मिलकर ही विवेकीकरण को मुमकिन बनाते हैं जो सांस्कृतिक कार्यवाई की बुनियाद है। यह स्वयं में एक यूटोपियाई शिक्षा दर्शन है। इस तथ्य की वजह से ही यह आशा से परिपूर्ण है, यूटोपियाई होने की वजह से यह महज भाववादी या अव्यावहारिक नही है बल्कि भर्त्सना (डिनॅनसिऐशन) और घोषणा (एनॅनशिएशन) में संलग्न रहता है। फ्रेरे स्वीकार करते हैं मनुष्य और जगत के प्रति दृष्टिकोण के बिना यह शिक्षाशास्त्र कुछ नहीं कर सकता। यह एक वैज्ञानिक मानववादी अवधारणा को सूत्रबद्ध करता है जो ऐसे संवादात्मक आचरण में अभिव्यक्ति पाता है जिसमें अमानवीय यथार्थ के विश्लेषण के कार्य में शिक्षार्थी और शिक्षक एक साथ इस यथार्थ की भर्त्सना करते हैं और मनुष्य की मुक्ति के लिए इसके रूपांतरण की घोषणा भी करते हैं।

इसी कारण से फ्रेरे के इस यूटोपियाई शिक्षाशास्त्र में भर्त्सना और घोषणा खोखले शब्द मात्र नहीं हैं बल्कि एक ऐतिहासिक प्रतिबद्धता है। अमानवीय स्थिति की भर्त्सना आज इस स्थिति की स्पष्ट वैज्ञानिक समझ की बढ़ती हुई माँग करती है। इसी तरह इनके रूपांतरण की घोषणा रूपांतरणशील कार्रवाई की बढ़ती जरूरत को बताती है। फिर भी, स्वयं कर्म में भर्त्सना योग्य यथार्थ का रूपांतरण अथवा जिसकी घोषणा की गई है उस यथार्थ की स्थापना स्वतः ही अंतर्निहित नहीं होती। निःसंदेह,

ऐतिहासिक प्रक्रिया के एक क्षण के रूप में घोषित यथार्थ पहले से ही भर्त्सना और घोषणा की कार्रवाई में मौजूद होता है। फ्रेरे कहते हैं ''हमारे शैक्षिक सिद्धांत और व्यवहार का यूटोपियाई चरित्र इसी वजह से उतना ही स्थायी है जितनी स्वयं शिक्षा और जो हमारे लिए सांस्कृतिक कार्रवाई भी है''।[18] भर्त्सना और घोषणा की ओर इसका बढना खत्म नहीं हो सकता। आज जिस यथार्थ की भर्त्सना करते हैं वह कल उस यथार्थ के लिए अपना स्थान अर्पित कर देता है जिसकी घोषणा पहले की भर्त्सना में हुई थी। शिक्षा में यूटोपिया तब नही रहता जब इसमें भर्त्सना और घोषणा की नाटकीय एकता को सम्मिलित नहीं किया जाता। ऐसा तभी होता है जब या तो भविष्य मनुष्य के लिए अर्थवान नहीं रहता या फिर उस वर्तमान को जो पुराना पड़ चुका है, उस पर विजय प्राप्त करने वाले सर्जनात्मक भविष्य में जीने के खतरे से मनुष्य डरता हो।

आम तौर पर बाद वाला कारण ही इसकी ज्यादा सही व्याख्या करता है। भविष्य को पालतू बनाने के उद्देश्य से और वर्तमान के अनुरूप बनाए रखने के लिए, जैसा रखने का वे इरादा रखते हैं, कुछ लोग भविष्य में निहित सभी संभावनाओं का अध्ययन करते हैं। यदि निर्देशक समाज़ों में कोई व्यथा व्याप्त है जो उनकी ठंडी प्राविधिकी के आवरण के नीचे छिपी हो, तो, वह अपनी निराश दृढ़ता में से जाग उठती है जिसे कि उनका महानगरीय स्तर भविष्य में बनाए रखता है। फ्रेरे कहते हैं कि तीसरी दुनिया यदि इन महानगरीय समाजों से कुछ सीख सकती है तो यह उसकी बुनियाद है। जब इनका वर्तमान यूटोपिया वास्तविक तथ्य बन जाए तो उन समाजो का पुनरुपादन मत करो।

शिक्षा की ऐसी अवधारणा जिस हद तक यूटोपियाई है, उस हद तक स्पष्ट ही यथार्थवादी भी है। यानी कि जिस हद तक यह जो है, उस हद तक उसकी भर्त्सना की जाती है और इसीलिए इसके आचरण के समय इसकी भर्त्सना और इसके एहसास के बीच यह प्राप्त होती है। उस शिक्षा के बचाव में एक ऐसी शिक्षा

को सूत्रबद्ध करने की कोशिश की जा रही होती हैं जो खास तौर पर ऐतिहासिक मानव रूप से मेल खाती हो। फ्रेरे का मानना है कि बिना भर्त्सना के घोषणा नहीं हो सकती, इसी तरह भर्त्सना ही घोषणा को उत्पन्न करती है। इसके बिना आशा असंभव है फिर भी, एक यूटोपियाई दृष्टिकोण में, आशा हाथ पर हाथ धरे बैठकर इंतजार करना नहीं है। इंतजार सिर्फ तभी मुमकिन है जब आशाओं से भरा कोई व्यक्ति उस घोषित भविष्य को जो भर्त्सना में से जन्म लेता है, उसको चिंतनशील कर्म के जरिए प्राप्त करने की कोशिश करता है।

फ्रेरे स्पष्टतः कहते हैं "जैसा हमारा शिक्षाशास्त्र है वैसा ही भर्त्सना और घोषणा के यूटोपियाई शिक्षाशास्त्र को भी अक्षर ज्ञान और उत्तर अक्षर ज्ञान के स्तर पर भर्त्सना योग्य यथार्थ को जानने की क्रिया होना होगा"। इन दोनों में सांस्कृतिक कार्रवाई संघटित होती है। इसीलिए संकेतीकृत बिंबों में प्रतिरूपित शिक्षार्थियों की अस्तित्वपरक स्थितियों के निरंतर समस्या निरूपण पर इतना बल दिया गया है। समस्या निरूपण जिस हद तक आगे बढ़ेगा और समस्या निरूपित वस्तु के 'सत्व' में कर्ता जितना अधिक प्रवेश करेंगे, वे इस 'सत्व' को उजागर करने में उतने ही अधिक सक्षम होंगे। जितना अधिक वे इसे उजागर करेंगे, उतनी ही अधिक उनकी सजग चेतना गहन होगी। इस प्रकार यह प्रक्रिया गरीब वर्गों को विवेकीकरण की ओर ले जाएगी। उनका आलोचनात्मक आत्म-सन्निवेशन अर्थात उनका विवेकीकरण उदासीनता की उनकी दशा को, भर्त्सना और घोषणा की यूटोपियाई दशा में रूपांतरित कर देता है।

फ्रेरे सचेत करते हुए कहते हैं कि किसी को यह नहीं सोच लेना चाहिए कि पढ़ना-लिखना सीखना विवेकीकरण (कॉन्साइटिजेशन) या इसकी विपरीत स्थिति का प्रारंभ है। विवेकीकरण साक्षरता या उत्तर साक्षरता प्रक्रिया के साथ साथ प्रारंभ होता है। इसे ऐसा ही होना चाहिए। उनकी दी हुई शैक्षिक पद्धति में शब्द कोई स्थिर वस्तु नहीं होता, न ही वह मनुष्य के अस्तित्व संबंधी अनुभव से असंबद्ध होता है बल्कि

विश्व के बारे में अनकी विचार भाषा का एक आयाम होता है इसीलिए शिक्षार्थी जब अपने अस्तित्व संबधी अनुभव के साथ संबद्ध पहले जननशील शब्दों के विश्लेषण में आलोचनात्मक रूप से भाग लेते हैं, जब वे उन आक्षरिक परिवारों पर ध्यान केंद्रित करते हैं जो उस विश्लेषण के परिणाम हैं, जब वे अपनी भाषा के आक्षरिक संयोजन की क्रिया विधि को समझ लेते हैं तो, वे अपने खुद के शब्दों को अंततः संयोजन की विभिन्न संभावनाओं में खोज लेते हैं। शिक्षार्थी इन संभावनाओं को बढ़ाता हुआ, नए जननशील शब्दों पर अधिकार के जरिए अपना शब्द भंडार और अपनी सृजनात्मक क्षमता दोनों का विस्तार करता है।[19]

ज्ञान की अवधारणा-

फ्रेरे ज्ञान प्राप्ति के सुकरात व प्लेटो दोनों के ही सिद्धान्तों को गलत बताते हैं। उनका मानना है कि सुकरातीय बुद्धिवाद जिसने परिभाषित वस्तु के ज्ञान के लिए अवधारणा की परिभाषा और सद्गुण के रूप में इस ज्ञान को गलत ढंग से लिया था, वह संवादात्मक होने के बावजूद ज्ञान के सच्चे शिक्षाशास्त्र के रूप में संघठित नहीं हो पाया था। प्लेटो का संवाद सम्बन्धी सिद्धान्त भी ज्ञान के सुकरातीय सिद्धान्त से परे जाने में असफल रहा, हालांकि प्लेटो के अनुसार जानने की एक अनिवार्य शर्त थी कि मनुष्य विवेकशील बनने में सक्षम हो। हालांकि सत्य को अर्जित करने के हेतु मनुष्य के लिए क्षणिक ज्ञान (डोक्सा) से शाश्वत ज्ञान (लोगोस) तक का मार्ग अपरिहार्य है। प्लेटो के लिए, विवेकशीलता का सम्बन्ध मनुष्य जो जानता था, जो नहीं जानता था या संसार के साथ अपने द्वंद्वात्मक सम्बन्ध के बारे में जो गलत-सलत जानता था, उससे नहीं था। यह उस ज्ञान के बारे में था, जिसे मुनष्य पहले जानता था और अपने जन्म के साथ जिसे भूल गया। जानना भूले हुए ज्ञान को याद करना या उसे दोबारा एकत्र करना था। क्षणिक ज्ञान और शाश्वत ज्ञान दोनों की समझ और शाश्वत ज्ञान द्वारा क्षणिक ज्ञान पर विजय मानव जगत सम्बन्ध

में नहीं वरन विस्मृत शाश्वत ज्ञान को याद करने या पुनः खोजने के प्रयास में घटित होते हैं।

फ्रेरे द्वारा प्रस्तावित सच्चे ज्ञान की पद्धति के रूप में संवाद के लिए ज्ञानवान कर्ताओं को उन द्वंद्वात्मक संयोजनों की तलाश के क्रम में यथार्थ तक वैज्ञानिक ढंग से पहुंचना होगा, जो यथार्थ के रूप को व्याख्यायित करते हैं। इस प्रकार, किसी ऐसी वस्तु को जिसे मानव पहले जानता था और अब भूल गया है, को याद करना जानना नहीं है। न ही मनुष्य के अपने संसार के साथ द्वंद्वात्मक सम्बन्धों से अलग और संसार पर मनुष्य की चिंतनशील कार्रवाई से अलग, क्षणिक ज्ञान पर शाश्वत ज्ञान द्वारा विजय पायी जा सकती है।

ज्ञान स्थिर नहीं, गतिशील व निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है - फ्रेरे का मत है कि शिक्षण में विषयवस्तु को ही यथार्थ की शक्ति मानते हुए उसे व्यक्ति की तुलना में प्रमुखता देना उचित नहीं है। पढ़ाते समय शिक्षक जो कहता है सदैव वही सत्य हो, ऐसा नहीं है। शिक्षक भी कई बार गलत हो सकता है तथा जिसे पढ़ाया जा रहा है, वह सही हो सकता है। ज्ञान का निरन्तर सृजन व पुनर्सृजन मनुष्य द्वारा किया जाता है। ज्ञान का विस्तार होता है, उसका स्वरूप निरन्तर बदलता है।

फ्रेरे कहते हैं- 'मै अपनी ज्ञान की सीमाओं को जानता हूँ और यह जानता हूँ कि जानकारी कैसे प्राप्त की जाती है। मै यह भी जानता हूँकि जानने की प्रक्रिया ऐतिहासिक होती है और मनुष्य जाति के इतिहास को जाने बिना जानना या जानकारी असंभव है। यहां मैं धर्मशास्त्र पर विचार विमर्श नहीं करना चाहता हूँ कहने का तात्पर्य यह है कि इतिहास का सामाजिक अनुभव इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य के रूप में हमने ज्ञान सृजित किया है। इसी कारण बार बार हमारे सृजित ज्ञान का पुनर्सृजन होता है और नया ज्ञान सामने आता है। यदि ज्ञान की सीमाएं छोटी पड़ने लगती हैं, यदि नया ज्ञान सामने आता है, यदि कल का ज्ञान अप्रासंगिक होने लगता है, तब हमें नये ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। इसका मतलब यह हुआ

कि ज्ञान की ऐतिहासिकता होती है। ज्ञान कभी भी स्थिर नहीं होता। यह गतिशील है, इसकी प्रक्रिया हमेशा चलती रहती है।''[20]

ज्ञान, यथार्थ व सिद्धान्त परस्पर सहसम्बन्धित हैं। सिद्धान्त सदा-सर्वदा के लिए स्थायी या अपरिवर्तनीय नहीं होता है। नया सिद्धान्त विकसित होने पर पुराना स्वयं अपना महत्व खो देता है। यदि ज्ञान अर्जन की प्रक्रिया के इतिहास को देखें तो पायेंगे कि आज के ज्ञान और कल के ज्ञान में कितना अंतर है। ज्ञान में इतना परिवर्तन हो जाता है कि यथार्थ भी गतिशील बन जाता है और बदलने लगता है। सिद्धान्त भी उसके साथ-साथ बदलता रहता है। यह कोई स्थिर या अटल चीज नहीं है।

मूल्य मीमांसापरक चिन्तन-

मानव मात्र के प्रति संवेदना, प्रेम, दया, सहानुभूति, ममता, करुणा, आशा, विश्वास, अपनत्व व भ्रातृ-भाव तथा मानव मुक्ति के लिए प्रतिबद्धता व समर्पण भावना से फ्रेरे का व्यक्तित्व ओत-प्रोत था। मानुषीकरण उनके लिए एक गंभीर मूल्य मीमांसापरक विषय था।

मानुषीकरण :-

फ्रेरे के अनुसार मनुष्य का कर्तव्य मनुष्य बनना ही है। फ्रेरे का मानना है कि मूल्यमीमांसापरक दृष्टिकोण से यद्यपि अमानुषीकरण की समस्या सदैव ही से मनुष्य की केन्द्रीय समस्या रही है, लेकिन वर्तमान समय में इसका स्वरूप एक ऐसी चिंता का विषय हो गया है जिस पर विचार करना अपरिहार्य है। इस सम्बन्ध में फ्रेरे कहते हैं-

''मानुषीकरण (हयूमेनाइजेशन) की चिंता करते ही हम अमानुषीकरण (डिहयूमेनाइजेशन) को समझने लगते हैं। केवल इस रूप में नहीं कि अमानुषीकरण संभव है, बल्कि इस रूप में भी कि यह एक ऐतिहासिक वास्तविकता है। मनुष्य जब

अमानुषीकरण की व्याप्ति को देखता है, तो स्वयं से पूछता है, क्या मनुष्य बनने की कोई व्यवहार्य सम्भावना है? इतिहास के अंतर्गत, ठोस वस्तुपरक संदर्भो में वह मनुष्य जो अभी अपूर्ण है और अपनी अपूर्णता को जानता है, अगर अमानुषिक हो सकता है तो मनुष्य भी बन सकता है।''[21]

हालांकि मानुषीकरण और अमानुषीकरण के ये दोनो विकल्प फ्रेरे के अनुसार वास्तविक हैं, फिर भी वे मनुष्य का कर्तव्य मनुष्य बनना ही मानते हैं। इस कर्तव्य का निरंतर निषेध किया जाता है, लेकिन इसके निषेध से इसकी अभिपुष्टि ही होती है। इसे अन्याय, शोषण, उत्पीड़न तथा उत्पीड़कों की हिंसा से बाधित किया जाता है। लेकिन उत्पीड़ितों की स्वतंत्रता और न्याय की आकांक्षा से तथा अपनी खोई हुई मनुष्यता को पुनः प्राप्त करने के लिए किये जाने वाले संघर्ष से इसकी अभिपुष्टि भी होती रहती है।

फ्रेरे की दृष्टि में अमानुषीकरण अन्यायपूर्ण व्यवस्था का परिणाम है, एक विकार है। फ्रेरे बल देकर कहते हैं कि- अमानुषीकरण अधिक पूर्णता के साथ मनुष्य बनने के कर्तव्य में आड़े आने वाला एक विकार है। यह विकार अपनी छाप उन्हीं पर नहीं छोड़ता, जिनकी मनुष्यता को चुरा लिया गया है यह उन पर भी (हालांकि एक भिन्न तरीके से) अपनी छाप छोड़ता है, जिन्होंने दूसरो की मनुष्यता को चुरा रखा है। यह विकार इतिहास के अंतर्गत उत्पन्न होता है, किंतु यह कोई ऐतिहासिक कर्तव्य नहीं है। अमानुषीकरण को ऐतिहासिक कर्तव्य मान लेना तो वास्तव में मानवद्वेषी सनकीपन की ओर अथवा पूर्ण हताशा की ओर ले जायेगा। फिर तो मानुषीकरण के लिए, श्रम की विमुक्ति के लिए, अलगाव पर विजय पाने के लिए तथा व्यक्तियों के रूप में मनुष्यों की अभिपुष्टि के लिए किये जाने वाले संघर्ष का कोई अर्थ ही नहीं रह जायेगा। यह संघर्ष तो संभव ही इसलिए होता है कि अमानुषीकरण एक ठोस ऐतिहासिक तथ्य होते हुए भी कोई प्रदत्त नियति नहीं,

बल्कि उस अन्यायपूर्ण व्यवस्था का परिणाम है, जो उत्पीड़कों को हिंसक बनाती है और बदले में उनकी यह हिंसा उत्पीड़ितों को अमानुषिक बनाती है।

विवेकीकरणः-

पाओलो फ्रेरे के क्रान्तिकारी शिक्षा दर्शन का मूल आधार है, उत्पीड़ितों और दलितों का विवेकीकरण यानी उनमें यथार्थ के प्रति सजगता पैदा करना, उसे अपने पक्ष में बदलने के लिए संघर्ष का मार्ग तलाशना। बिना विवेकीकरण के अक्षर ज्ञान (साक्षर ज्ञान) अर्थहीन है, फ्रेरे के समूचे चिंतन में इस शब्द का केंद्रीय महत्व है, शिक्षा में अनेक प्रयोगों के दौरान उन्होंने इसके अर्थ का विकास किया है।

अनेक अर्थों के साथ शिक्षा के संदर्भ में इसका अर्थ उत्पीड़ित व्यक्ति को साक्षर बना कर परिवेश और उसमें क्रियाशील विभिन्न सामाजिक शक्तियों के प्रति उसे जागरूक और सक्रिय बनाना भी है। इस जागरूकता में वर्गीय चेतना का भाव भी समाया हुआ है, यानी विवेकीकरण का एक अर्थ वर्गीय चेतना का विकास भी है, जो अक्षर ज्ञान के साथ सामाजिक वास्तविकता से व्यक्ति का परिचय कराता है। उत्पीड़न के मूल कारकों की समझ और उसको बदलने की संकल्पशक्ति भी इसमें शामिल है। विवेकीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अंतविरोधों को समझना और यथार्थ के उत्पीड़क तत्वों के विरूद्ध कार्य करना समाहित है। फ्रेरे के शब्दों में विवेकीकरण से तात्पर्य है-विश्व के प्रति एक आलोचनात्मक और गतिशील दृष्टिकोण, जो यथार्थ पर पड़े परदे हटाने, मिथकीकरण के मुखौटे उतारने और मानवीय कार्यभार को सम्पूर्णतः सम्पन्न करने का प्रयास करता है, जिसका अर्थ होता है मनुष्यों की मुक्ति के लिए यथार्थ का स्थायी रूपांतरण।

वर्गीय चेतना की अनुभूति करते हुए उत्पीड़न की अवस्था से मुक्ति प्राप्त करना अर्थात स्वतंत्रता प्राप्त करना विवेकीकरण द्वारा ही संभव है। उत्पीड़ितों के

विवेकीकरण से जो लोग खतरा महसूस करते हैं या तो वे 'स्वतंत्रता के भय' से ग्रस्त होते हैं या उन्हें लगता है कि आलोचनात्मक चेतना अराजकता को जन्म दे सकती है। फ्रेरे इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

''विवेकीकरण के संभावित प्रभावों से सम्बन्धित शंका को, शंकालु व्यक्ति कई बार स्पष्ट नहीं करता, लेकिन उसकी शंका का आधार यह होता है: अन्याय के शिकार लोग स्वयं को अन्याय का शिकार न समझें तो बेहतर। तथ्य यह है कि विवेकीकरण (कानसिएंटाइजेशन) मनुष्यों को 'विध्वंसक मतांधता' की ओर नहीं ले जाता। इसके विपरीत विवेकीकरण से तो यह संभव होता है कि ऐसे लोग ऐतिहासिक प्रक्रिया में जिम्मेदार कर्ताओं के रूप में प्रवेश करें। विवेकीकरण उन्हें अपनी अभिपुष्टि (सेल्फ अफर्मेशन) की खोज में लगाता है और इस प्रकार उन्हें मतांधता से बचाता है। आलोचनात्मक चेतना का उदय सामाजिक असंतोषों की अभिव्यक्ति की ओर ले जाता है, क्योंकि ये असंतोष ही दरअसल किसी उत्पीड़नकारी स्थिति के असली संघटक होते हैं।''[22]

फ्रेरे मानते हैं कि यह आवश्यक नहीं कि स्वतंत्रता से भयभीत रहने वाला व्यक्ति इस भय के प्रति सचेत भी हो, लेकिन इसके कारण वह आंतकित अ़वश्य रहता है। ऐसा व्यक्ति वास्तव में सुरक्षा प्राप्त करने के प्रयास की शरण ले रहा होता है, जिसे वह स्वतंत्रता के लिए जोखिम उठाने से बेहतर समझता है। हेगेल ने 'फिनोमिनोलॉजी ऑफ माइंड' में इसको प्रमााणित करते हुए लिखा है कि स्वतंत्रता जान जोखिम में डाल कर ही पाई जा सकती है। वह व्यक्ति, जिसने अपना जीवन दाँव पर नहीं लगाया है, निःसंदेह एक व्यक्ति तो माना जा सकता है, लेकिन वह एक स्वाधीन आत्मचेतना के रूप में इस मान्यता के सत्य को उपलब्ध नहीं कर सकता है।

फ्रेरे कहते हैं कि लोग स्वतंत्रता के अपने भय को खुल कर स्वीकार नहीं करते । इसके बजाए वे उसे ढंकने या छिपाने की चेष्टा करते हैं और यह चेष्टा

कभी-कभी अनजाने ही स्वयं को स्वतंत्रता के रक्षकों के रूप में प्रस्तुत करके की जाती है। वे अपने संदेहों और आशंकाओं को ऐसी गुरू-गम्भीर मुद्रा में प्रस्तुत करते हैं कि लगता है, जैसे स्वतंत्रता के अभिरक्षक ये ही हैं। लेकिन वे स्वतंत्रता और यथास्थिति को बनाए रखने में फर्क नहीं करते, ताकि जब विवेकीकरण से यथास्थिति पर प्रश्नचिन्ह लगने का खतरा पैदा होने लगे तो ऐसा मालूम हो कि मानो स्वतंत्रता के ही लिए खतरा पैदा हो गया है।

सांस्कृतिक कार्रवाई और विवेकीकरण - फ्रेरे शिक्षा की भांति 'विवेकीकरण' को भी मानवीय प्रक्रिया के यप में देखते हैं। मनुष्य को वे एक ऐसा चेतस प्राणी मानते हैं जो सिर्फ संसार में होता भर नहीं हैं बल्कि अपने को दूसरें मनुष्यों के संग, संसार के साथ भी मानते होता है। केवल मनुष्य ही एक 'मुक्त' प्राणी होने के नाते अपने कार्य के द्वारा संसार का रूपांतरण करने और साथ ही अपनी रचनात्मक भाषा में विश्व -यथार्थ को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने की जटिल संक्रियाओं को अर्जित करने में समर्थ होता है।

वे कहते हैं कि मनुष्य संसार के साथ होने की जरूरी शर्त पूरी कर सकता है क्योंकि वह इससे वस्तुगत दूरी रखने में समर्थ है। इसी विषयीकरण में मनुष्य स्वयं को भी वस्तुपरक बनाता है। इस विषयीकरण के बिना मुनष्य में आत्म-ज्ञान और विश्व -ज्ञान दोनों का अभाव होगा और वह संसार में होने तक ही सीमित हो जायेगा साथ ही फ्रेरे यह भी सचेत करते हैं कि 'विवेकीकरण' में किसी जादुई शक्ति को देखना इसे मिथकीय रूप देना होगा। 'विवेकीकरण' क्रान्तिकारियों के लिए जादुई आकर्षण नहीं है बल्कि उनके चिंतनशील कर्म का आधारभूत आयाम है। यदि मनुष्य 'चेतस शरीर' नहीं होता, कर्म करने और उसे समझने में समर्थ नहीं होता, जानने और पुनर्सृजन करने में समर्थ नहीं होता, यदि वह अपने और विश्व के बारे में सजग नहीं होता, तो 'विवेकीकरण' के विचार का कोई अर्थ नहीं होता और तब, क्रान्ति के विचार का भी कोई अर्थ नहीं होता। प्रामाणिक क्रान्तियां मनुष्य को मुक्त

करने के लिए घटित होती हैं। स्पष्टतः इसलिए कि मनुष्य अपने उत्पीड़न को जान सकते हैं और उस उत्पीड़क यथार्थ जिसमें वे जीते हैं, उसके प्रति जागरूक हो सकते हैं।

मनुष्य की चेतना यथार्थ द्वारा अनुकूलित होती है, इसलिए 'विवेकीकरण' का सबसे पहला काम लोगों को यथार्थ की स्पष्ट समझ से रोकने वाली बाधाओं के बारे में प्रबुद्ध बनाना है। इस भूमिका में, जनता की जागरूकता को दिग्भ्रमित करने वाले और उन्हें संदिग्ध प्राणी बनाने वाले सांस्कृतिक मिथकों को उखाड़ फेंकने में 'विवेकीकरण' अपना प्रभाव डालता है।

मानव व पशु में भेद-विश्व के साथ और विश्व में अस्तित्व - फ्रेरे का मानना है मनुष्य से भिन्न, जानवर संसार में सिर्फ होता है। वह न तो स्वयं को और न ही संसार को वस्तुपरक बनाने में समर्थ होता है। वे समयरहित जीवन जीते हैं, यथार्थ के साथ पूरी तरह समायोजित और चिपके हुए, जीवन से उभरने की संभावना के बिना उसमें डूबे हुए जीते हैं। इसके विपरीत, मनुष्य इस संसक्ति से अलग हो सकता है और संसार में महज होने से परे जा सकता है। मनुष्य निर्माण द्वारा अपने जीवन में कुछ -न कुछ जोड़ते हैं , जिससे उनका अस्तित्व होता है। इस प्रकार, अस्तित्व का होना जीवन का एक ढंग है जो ऐसा प्राणी होने के उपयुक्त है जो रूपांतरण में, निर्माण में, निर्णय करने में, सृजन करने में और अपने को संप्रेषित करने में सक्षम हो।

फ्रेरे की दृष्टि में वे प्राणी जो सिर्फ जीते हैं वे संसार में जीते हुए अपने बारे में सोचने में और अपने को जानने में असमर्थ होते हैं। विद्यमान कर्ता, अस्तित्व की परिधि में ही अपने जीवन के बारे में सोचता है और संसार के साथ अपने सम्बन्ध पर सवाल करता है । उसके अस्तित्व की परिधि ही उसके कार्य, उसके इतिहास, उसकी संस्कृति, उसके मूल्य की परिधि होती है। इसी परिधि में, मनुष्य नियतिवाद और मुक्ति के बीच द्वंद्वात्मकता का अनुभव करता है।

यदि मनुष्य संसार के साथ अपनी संसक्ति को तोड़ नहीं पाते और ऐसी चेतना के रूप में उभरते हैं जो इसकी वस्तु के रूप में संसार की 'प्रंशसा' में निर्मित होती है, तो वे महज नियत होने वाले प्राणी होंगे, जिनके लिए अपनी मुक्ति के बारे में सोचना असंभव हो जाएगा। सिर्फ वे ही प्राणी जो इस तथ्य पर विचार कर सकते हैं कि वे कृतसंकल्प प्राणी हैं वे ही अपने को मुक्त करने में समर्थ होते हैं। उनकी चिंतनशीलता अस्पष्ट और अप्रतिबद्ध जागरूकता का नहीं बल्कि नियत होने वाले यथार्थ पर गहन रूप से परिवर्तनशील कर्म के निष्पादन का परिणाम होती है। इसीलिए यथार्थ की चेतना और उसके विषय में कर्म दोनों रूपांतरणशील कर्म के अविभाज्य घटक हैं जिसके द्वारा मनुष्य सम्बन्ध रखने वाला प्राणी बनता है। अपने विशिष्टतासूचक चिंतन, साभिप्रायता, समृद्धि और 'अनुभवातीतता' द्वारा मनुष्य की चेतना और कर्म, संसार के साथ जानवरों के संपर्क से भिन्न हो जाते हैं। जानवरों के संपर्क अनालोचनात्मक होते हैं, वे अनुभव के जरिए ऐंद्रिक बिंबों से परे नहीं जाते। वे एक -से होते हैं, अनेक -से नहीं। जानवर अपने लक्ष्यों की व्याख्या नहीं कर कर पाते, वे जीवन प्रवाह में बहते जाते हैं और इस प्रकार उनका जीवन अस्थायी होता है।

फ्रेरे तर्क देते है कि वचनबद्धता और वस्तुपरक दूरी, वस्तु के रूप में यथार्थ की समझ, वस्तुपरक यथार्थ के बारे में मनुष्य के कर्म के महत्व की समझ, भाषा के साधनों द्वारा वस्तु के बारे में रचनात्मक संप्रेषण, एकल चुनौती के बहुविध उत्तर ये विविध आयाम, संसार के साथ मनुष्यों के संबंधों में आलोचनात्मक चिंतन के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। संसार के विषय में मनुष्य के कर्म और उसके विषयीकरण की द्वंद्वात्मकता में ही चेतना संघटित होती है। तथापि, चेतना भौतिक यथार्थ की अभिव्यक्ति मात्र नहीं होती वरन उस यथार्थ के बारे में अभिव्यक्ति होती है।

मनुष्य ही परियोजना बना सकता है - फ्रेरे कहते हैं कि यदि यह सत्य है कि चेतना, चेतना को निर्मित करने वाले संसार के बिना असंभव है, तो यह भी समान रूप से सच है कि यह संसार भी असंभव है यदि स्वयं संसार चेतना के निर्माण में इसकी आलोचनात्मक अभिव्यक्ति की वस्तु नही होता। विवेकीकरण सिर्फ इस लिए संभव है क्योंकि मनुष्य की चेतना अनुकूलित होते हुए भी यह पहचान सकती है कि वह अनुकूलित है। चेतना का यह आलोचनात्मक आयाम उन लक्ष्यों के लिए उत्तरदायी होता है जिन्हें मनुष्य विश्व के बारे में अपने रूपांतरकारी कर्मों के लिए तय करता है। चूंकि मनुष्य ही प्रस्तावित कार्य शुरू करने से पहले ही अपने कार्य के परिणाम पर विचार करने में समर्थ होता है। जैसा कि मार्क्स ने कैपिटल (पूंजी) में स्पष्ट रूप से कहा है कि मनुष्य ऐसा प्राणी है जो परि-योजना बनाता है। फ्रेरे अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए मार्क्स द्वारा दिये गये उदाहरण को ही उद्धृत करते हैं।

मार्क्स कहता है कि एक मधुमक्खी अपनी कोशिकाओं के निर्माण में एक वास्तुकार की सी कुशलता दिखाती है। लेकिन एक निकृष्ट वास्तुकार और मधुमक्खियों में से सर्वाधिक कुशल मधुमक्खी में यह फर्क होता है कि वास्तुकार यथार्थ में संरचना खड़ी करने से पूर्व उसे अपनी कल्पना में खड़ी करता है। हालांकि निपुण विशेषज्ञ के रूप में मधुमक्खियां उस फूल की पहचान कर सकती हैं जो शहद बनाने के लिए जरूरी है, लेकिन उनकी विशेषज्ञता में विविधता नहीं होती । वे उपोत्पादन को उत्पादित नहीं कर सकतीं। संसार के बारे में उनके कर्म विषयीकरण द्वारा जुड़े नहीं होते, इनमें आलोचनात्मक चिंतन का आभाव होता है जो मनुष्य के कार्यों की पहचान है। जानवर जीवित रहने के लिए अपने को विश्व के साथ अनुकूलित करता है, जबकि मनुष्य 'और अधिक मनुष्य' होने के लिए संसार को बदलता है। विकल्पों के अभाव और लक्ष्यों को हासिल किए बगैर केवल जीने के लिए अपने अनुकूलन में जानवर संसार को जानवरीकृत नहीं कर सकता। जानवरीकरण गहरे रूप में जानवरों के जानवरीकरण से संबद्ध है और तब यह

मानकर चलना होगा कि जानवरों में यह जागरूकता है कि वे अधूरे हैं जो उन्हें स्थायी खोज में लगा देगी। यद्यपि मधुमक्खियां अपने छत्तों का निर्माण अत्यंत कुशलतापूर्वक कर लेती हैं और शहद का 'निर्माण' करती हैं फिर भी संसार के साथ अपने संपर्क में वे मधुमक्खियां ही रहती हैं। वे कम या ज्यादा मधुमक्खियां नहीं हो पातीं।

मानव इतिहास का सृजनकर्ता है - फ्रेरे मानते हैं कि आचरण कर सकने वाले प्राणियों के रूप में, मनुष्य संसार को मानवीकृत बनाने के लिए उसको रूपांतरित करता है। संसार को मानवीय बनाने पर भी यह आवश्यक नहीं कि मनुष्यों का मानवीकरण व्यक्त हो। इसका सीधा सा अर्थ यह हो सकता है कि संसार मनुष्य की उत्सुक और अन्वेषणीय उपस्थिति से व्याप्त है और उस पर उसके कार्यों की छाप अंकित है। संसार के रूपांतरण की प्रक्रिया जो मनुष्य की इस मौजूदगी को उजागर करती है, वह उसको मानवीकरण के साथ साथ अमानवीकरण की ओर, उन्नति या पतन की ओर ले जा सकती है ये विकल्प मनुष्य की समस्यात्मक प्रकृति को दिखाता है और उसके सम्मुख यह समस्या उपस्थित करता है कि उसे 'यह या वह' एक मार्ग चुनने की जरूरत है। रूपांतरण की यही प्रक्रिया प्रायः मनुष्य और उसकी मुक्ति को चुनाव में भटका देती है। फिर भी, अपनी चिंतनशील उपस्थिति के साथ मनुष्य और मुक्ति संसार में व्याप्त होते हैं, इसीलिए केवल मनुष्य इसे मानवीय और अमानवीय बना सकते हैं। मानवीकरण उनका यूटोपिया है, जिसकी घोषणा वे अमानवीकृत प्रक्रियाओं की भर्त्सना में करते हैं।

फ्रेरे का मानना है कि संसार के साथ मनुष्य के संबंधों की चितनशीलता और निर्णयात्मकता संभव नहीं होगी, यदि ये संबंध ऐतिहासिक होने के साथ साथ भौतिक संदर्भ में घटित नहीं हुए हों। आलोचनात्मक चिंतन के बिना निर्णयात्मकता नहीं होती, न ही घटनाओं की अबाधित, अल्पकालिक श्रृंखलाओं के बाहर निर्णयात्मकता का कोई अर्थ होता है। मनुष्यों के लिए, 'वहां की तुलना में यहां' कुछ

नहीं है जो अब, पहले ओर बाद से संबद्ध न हो। इस प्रकार संसार के साथ मनुष्य के संबंध स्वभावतः ऐतिहासिक होते है जैसा कि मनुष्य का संबंध अपने आपसे होता है। मनुष्य का निर्माण करने वाले इतिहास का ही निर्माण मनुष्य नहीं करता बल्कि वह एक दूसरे को बनाने वाले इतिहास का लेखा-जोखा भी रख रूकता है। जैसा कि टिलहार्ड द चार्दिन ने कहा है कि विकास की प्रक्रिया में गृहस्थी बनने से मनुष्य अपना जीवन इतिहास रखने में समर्थ होता है इसके विपरीत जानवर ऐसे काल में निमग्न होते हैं जो उनसे नहीं बल्कि मनुष्य से जाना जाता है।

मनुष्य 'कार्य' करता है, पशु क्रिया - संसार के साथ मनुष्य के संबंध और इससे जानवरों के संपर्क के बीच एक ओर बुनियादी फर्क यह होता है कि मनुष्य ही काम करता है। उदाहरण के लिए, मनुष्य क्रे लिए जो उचित है, घोड़े में उसका अभाव होता है, मधुमक्खियों के अपने उदाहरण में मार्क्स (दृष्टव्य -पूँजी) ने जिस ओर संकेत किया हैः 'प्रत्येक श्रम प्रक्रिया के अंत में, हम एक नतीजा हासिल करते है जो कि इस प्रक्रिया की शुरूआत के वक्त ही मजदूर की कल्पना में पहले से मौजूद रहता है, इस आयाम के बिना क्रिया काम नहीं होती। खेतों में और सर्कस में भी घोडों का प्रत्यक्ष कार्य मनुष्य के कार्य का ही प्रतिबिंबन हैं। क्रिया काम इसलिए ही नही है कि क्रियाशील अवयव द्वारा इसमें ज्यादा या कम शारीरिक ताकत लगाई गई है बल्कि इसलिए है कि कर्ता अपने प्रयास की चेतना भी रखता है। प्रयास की चेतना यानी कर्म की योजना बनाने की संभावना की, अपने और अपने कार्य की वस्तु के बीच मध्यस्थ के रूप में औजारों का निर्माण करने और उनका उपयोग करने की, उद्देश्य के होने की, परिणामों का पूर्वानुमान करने की चेतना। क्रिया का कार्य होने के लिए, यह भी जरूरी है कि इसका परिणाम सार्थक उत्पादों में निकले, जो क्रियाशील कारक से भिन्न हो, साथ ही उसे अनुकूल करे और उसके चिंतन की वस्तु बने। मनुष्य संसार में प्रभावशाली ढंग से क्रियाशील होता है और अपने कार्यो द्वारा इस बदलता है, तो उसकी चेतना 'आचरण के विपर्यय' के जरिए क्रमशः ऐतिहासिक रूप

से और सांस्कृतिक रूप से अनुकूलित होती है। इस अनुकूलन की गुणवत्ता के अनुसार, मनुष्य की चेतना सांस्कृतिक ऐतिहासिक यथार्थ के संदर्भ में विभिन्न स्तर प्राप्त करती है।

मनुष्य आत्म-निरीक्षण व मूल्यांकन में समर्थ है, पशु नहीं - फ्रेरे स्पष्टतया घोषित करते हैं कि समस्त अपूर्ण प्राणियों में मनुष्य ही एकमात्र प्राणी है, जो अपने कर्मो को ही नही अपने आप को भी अपने चिंतन की वस्तु बना सकता है। मनुष्य की यह क्षमता उसे पशुओं से भिन्न बनाती है। पशु स्वयं को अपनी गतिविधि से अलग नही कर सकते। मनुष्य और पशु का यह भेद ऊपर से बड़ा फालतू सा लगता है लेकिन गहराई से देखा जाए तो इसी भेद में वे चौहद्दियां दिखाई पड़ेंगी, जो इन दोनों के अपने अपने जीवन की व्याप्ति में इनके कर्म को सीमित करती हैं। चूंकि पशुओं की गतिविधि उनका अपना ही एक विस्तार होती है, इसलिए उस गतिविधि के परिणाम को भी उनसे अलग नही किया जा सकताः पशु न तो अपने कोई उददे्श्य निर्धारित कर सकते हैं और न ही प्रकृति में कोई ऐसा महत्वपूर्ण परिवर्तन कर सकते हैं, जो स्वयं प्रकृति से परे हो। फिर, इस गतिविधि के निर्णय भी उनके अपने नहीं, बल्कि उनकी नस्ल या प्रजाति के होते हैं। तदनुसार, पशु मूलतः 'अपने आप में प्राणी' हैं।

फ्रेरे[58] की दृष्टि में पशु अनैतिहासिक होते है, क्योंकि वे अपने लिए कोई निर्णय नहीं ले सकते, स्वयं को और अपनी गतिविधि को अपने चिंतन की वस्तु नहीं बना सकते, अपने लिए कोई उददे्श्य निर्धारित नहीं कर सकते, वे एक ऐसे विश्व में 'डूबे' रहते हैं, जिसे वे कोई अर्थ नहीं दे सकते, वे एक ऐसे सर्वाश्लेषी वर्तमान में रहते है, जिसमें कोई 'आज' या 'कल' नहीं होता। यदि विश्व शब्द को उसके बिलकुल ठीक अर्थ में लिया जाए तो पशुओं का अनैतिहासिक जीवन किसी विश्व में नहीं होता क्योंकि पशु के लिए विश्व उसे मैं से अलग कोई मैं नहीं बनकर उससे अलग नहीं हो सकता। मानवीय विश्व, जो ऐतिहासिक है, अपने आप प्राणी के लिए एक टेक या टिके रहने की जगह मात्र है। पशुओं के लिए वह एक समाकृति है, जो

उनका सामना तो करती है, लेकिन कोई चुनौती नहीं देती। उससे वे महज उत्तेजित होते हैं। उनका जीवन जोखिम उठाने वाला जीवन नहीं है, क्योंकि उन्हें पता ही नहीं चलता कि वे जाखिम उठा रहे हैं। उनके लिए जोखिम चिंतन के आधार पर अनुभूत चुनौतियां नही हैं, क्योंकि वे उन संकेतों को सिर्फ ग्रहण करते हैं, जिनसे जोखिमों का पता चलता है। इस तरह उन्हें निर्णय लेने की प्रक्रियाओं की जरूरत नहीं होती।

परिणामस्वरूप, पशु स्वयं को प्रतिबद्ध नहीं कर सकते। उनकी अनैतिहासिक स्थिति उन्हें इसकी इजाजत नहीं देती कि वे अपने जीवन को 'अपने हाथ में ले सकें'। चूँकि वे उसे अपने हाथ में नहीं ले सकते, उसके लिए स्वयं जिम्मेदार नहीं हो सकते, इसलिए वे उसका निर्माण नहीं कर सकते। वे यह भी नहीं जान सकते कि जीवन ने उन्हें नष्ट कर दिया है क्योंकि वे अपने आश्रय देने वाले विश्व का विस्तार एक अर्थपूर्ण, प्रतीकात्मक विश्व के रूप में नहीं कर सकते। ऐसा विश्व जिसमें संस्कृति होती है और इतिहास होता है। परिणामस्वरूप, जिस प्रकार मनुष्य विश्व को मानवीय अथवा अमानवीय बनाते हैं, पशु स्वयं को पाशविक बनाने के लिए विश्व रूपी अपनी समाकृति को पाशविक नहीं बनाते-न ही वे स्वयं को अपाशविक बनाते हैं। वे जंगल में भी 'अपने आप में' प्राणी होते हैं वैसे ही पशुवत, जैसे चिड़ियाघर में।

संवाद

संवाद फ्रेरे के चिन्तन का एक प्रमुख केन्द्रीय बिन्दु है। संवाद के सच्चे अर्थ को फ्रेरे ने बडे सटीक तरीके से स्पष्ट किया है तथा उसे आचरण के साथ जोड़ा है। उनके अनुसार संवाद एक मानवीय परिघटना (फेनोमेना) है। इस रूप में जब उसका विश्लेषण किया जाता है तब एक ऐसी चीज का पता चलता है, जो उसका सार है यह चीज है, शब्द। लेकिन शब्द संवाद को संभव बनाने वाला एक उपकरण मात्र नहीं, उससे कुछ अधिक भी है। शब्द के दो आयाम होते हैः चिंतन और कर्म। ये दोनों शब्द के अंदर ऐसी आमूल परिवर्तनवादी अन्योन्यक्रिया में रहते हैं कि इनमें से

एक को अंशतः भी त्याग दिया जाए तो दूसरा तुरंत क्षतिग्रस्त हो जाता है। ऐसा कोई सच्चा शब्द नहीं, जो शब्द के साथ ही कर्म न हो। [23]

फ्रेरे मानते हैं कि यदि शब्द के संघटक तत्वों को जबर्दस्ती अलग कर दिया जाए तो वह अप्रामाणिक हो जाता है। अप्रामाणिक शब्द यथार्थ का रूपांतरण करने में समर्थ नहीं रहता। जब किसी शब्द को उसके कर्म वाले आयाम से वंचित कर दिया जाता है जो तो चिंतन स्वयमेव क्षतिग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार शब्द एक निरर्थक बकबक में, शब्दाडंबर में, एक अलगावग्रस्त और अलगावकारी प्रलाप में बदल जाता है। वह खोखला शब्द बन जाता है। जो विश्व की भर्त्सना नहीं कर सकता, क्योंकि रूपांतरण की प्रतिबद्धता के बिना भर्त्सना असंभव है, और कर्म के बिना कोई रूपांतरण नहीं होता।

दूसरी तरफ यदि चिंतन को छोड़कर तथा उसको नुकसान पहुंचा कर केवल कर्म पर जोर दिया जाए तो शब्द सक्रियातावाद में बदल जाता है, जिसका अर्थ है कर्म के लिए कर्म, जो सच्चे आचरण का निषेध करके संवाद को असंभव बनाता है। अतः कर्म को चिंतन से या चिंतन को कर्म से अलग करने वाला कोई भी दो फांक वाला विभाजन अस्तित्व के अप्रामणिक रूपों को जन्म देकर चिंतन के अप्रामाणिक रूपों को जन्म देता है, जो उस विभाजन को और मजबूत बनाते हैं।

फ्रेरे स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि मानवीय अस्तित्व चुप नहीं रह सकता, लेकिन मिथ्या शब्दों से उसका पोषण नहीं किया जा सकता। उसका पोषण उन सच्चे शब्दों से ही किया जा सकता है, जिनसें मनुष्य विश्व का रूपांतरण करते हैं। मानवीय रूप में अस्तित्ववान होने का अर्थ है विश्व को कोई नाम देना, उसे बदलना। एक बार जब उसे कोई नाम दे दिया जाए तो विश्व नामकरण करने वालों के सामने पुनः प्रस्तुत होता है और इस बार एक समस्या के रूप में सामने आता है। इसके बाद उसे पुनः एक नया नाम देने की जरूरत पड़ती है। मनुष्य खामोशी में नहीं, बल्कि शब्द में, कार्य में, कर्म और चिंतन में निर्मित होते हैं।[24]

सच्चा शब्द बोलना विश्व में बदलाव लाना है - फ्रेरे के अनुसार एक सच्चा शब्द बोलना, जो कार्य है, आचरण है विश्व को रूपांतरण करना है। लेकिन उस शब्द को बोलना कुछ थोड़े से लोगों का विशेषाधिकार नहीं, बल्कि प्रत्येक मनुष्य का अधिकार है। परिणामतः कोई व्यक्ति सच्चे शब्द को अकेला नहीं बोल सकता, न ही वह उस शब्द को किसी और के लिए बोल सकता है। जो दूसरों से उनके शब्द छीन लेता है, निर्देश के रूप में, तो सच्चा शब्द उससे बोला ही नहीं जा सकता।

संवाद उन मनुष्यों के बीच होने वाली मुठभेड़ है, जिनकी मध्यस्थता विश्व करता है और जो विश्व को नाम देने के लिए एक दूसरे का सामना करते हैं। अतः जो विश्व को नाम देना चाहते हों और जो उसे नाम न देना चाहते हों, ऐसे लोगों के बीच संवाद नहीं हो सकता। संवाद उन लोगों के बीच भी नहीं हो सकता, जिनमें एक तरफ दूसरों को अपना शब्द बोलने का अधिकार न देने वाले हों, और दूसरी तरफ वे, जिनसे अपना शब्द बोलने का अधिकार छीन लिया गया हो। अपना शब्द बोलना मनुष्य का आद्य अधिकार है। जिन मनुष्यों से यह अधिकार छीन लिया गया है, उन्हें सबसे पहले अपने इस अधिकार को पुनः प्राप्त करना चाहिए और अमानुषिक बनाने वाले इस आक्रमण को जारी रहने से रोकना चाहिए।

फ्रेरे की दृष्टि में संवाद की बात करना, विश्व का रूपांतरण करने के लिए विश्व में मनुष्यों का साथ और सहभागी होना एक भोला और आत्मपरक ढ़ंग का आदर्शवाद नहीं है। वे मानते हैं कि इससे अधिक वास्तविक तथा ठोस कुछ और नहीं हो सकता कि मनुष्य विश्व में और विश्व के साथ हों, दूसरें मनुष्यों के साथ हों और कुछ मनुष्य उत्पीड़क वर्ग के रूप में तथा दूसरे मनुष्य उत्पीड़ित वर्ग के रूप में एक दूसरे के विरूद्ध हों।

संवाद एक अस्तित्वगत आवश्यकता, एक मुठभेड़ व सृजनात्मक कर्म है - फ्रेरे कहते है कि यदि अपना शब्द बोल कर मनुष्य विश्व का रूपांतरण करते हैं, तो संवाद स्वयं एक ऐसा तरीका बन जाता है, जिसमें मनुष्य अपने मनुष्य होने का अर्थ प्राप्त

करते हैं। इस प्रकार संवाद एक अस्तित्वगत आवश्यकता है और चूँकि संवाद एक मुठभेड़ है, जिसमें संवादकर्ताओं के संयुक्त चिंतन और कर्म उस विश्व को सम्बोधित होते हैं, जिसका रूपांतरण और मानुषीकरण होना है, इसलिए संवाद को न तो किसी एक व्यक्ति के विचारों को अन्य व्यक्तियों में 'जमा' करने के काम तक सीमित किया जा सकता है, और न ही यह विचारों का वह सामान्य आदान-प्रदान हो सकता है, जिसमें बहस करने वाले लोग विचारों का 'उपभोग' करते हैं। संवाद वह वाद -विवाद भी नहीं है, जिसमें भाग लेने वाले लोग न तो विश्व को कोई नाम देने के लिए प्रतिबद्ध हों, न ही सत्य की खोज के लिए प्रतिबद्ध, बल्कि अपने -अपने सत्य को दूसरों पर थोपना चाहते हों। फ्रेरे सचेत करते हैं कि चूंकि संवाद उन लोग की मुठभेड़ है, जो विश्व को नाम देना चाहते हैं, इसलिए यह स्थिति हरगिज ऐसी नहीं होनी चाहिए कि कुछ लोगों दूसरों के निमित्त विश्व को नाम देने का काम करें। संवाद एक सृजन-कर्म है। इसे एक मनुष्य पर दूसरे मनुष्य द्वारा प्रभुत्व जमाने का धूर्ततापूर्ण औजार कतई नहीं होना चाहिए। प्रभुत्व संवाद में भी अंतर्निहित होता है, लेकिन यह विश्व पर संवादकर्ताओं का प्रभुत्व होता है, क्योंकि मनुष्यों की मुक्ति के लिए उस विश्व पर विजय प्राप्त की जानी है।

संवाद का आधार है पारस्परिक विश्वास - फ्रेरे का मानना है कि प्रेम, विनम्रता और पर विश्वास पर और आधारित संवाद ही एक ऐसा समस्तरीय सम्बन्ध बन जाता है, जिसका तार्किक परिणाम होता है संवादकर्ताओं में एक -दूसरे पर भरोसा। यदि संवाद, प्रेममय, विनम्र और विश्वास से परिपूर्ण संवाद, ऐसे आपसी भरोसे का वातावरण नहीं बनाता जो विश्व को नाम देने में लगे हुए लोगों की साझेदारी को उत्तरोत्तर अधिक घनिष्ठ बनाए, तो अपने-आप में यह एक अंतर्विरोध होगा। वे कहते हैं कि ऐसा हो नहीं सकता। जाहिर है कि इसके विपरीत, बैंकीय पद्धति वाली शिक्षा के संवादविरोधी वातावरण में यह भरोसा होता है। संवाद के लिए मनुष्य में विश्वास एक पूर्वसिद्ध आवश्यकता है और भरोसा स्वयमेव पैदा नहीं होता है पैदा

किया जाता है यदि ऐसा नहीं हो रहा है, तो इसका कारण यह होगा कि संवाद की पूर्व शर्तें पूरी नहीं हुई हैं। मिथ्या प्रेम, झूठी विनम्रता और दुर्बल विश्वास से भरोसा पैदा नही होता। भरोसे के लिए जरूरी है कि एक पक्ष दूसरे पक्ष को अपने सच्चे और ठोस इरादों का सबूत दे। यदि उस पक्ष के शब्द उसके कर्मो से मेल नहीं खाते तो भरोसा पैदा नहीं हो सकता। कहना कुछ और, करना कुछ और- अर्थात अपने ही शब्दों को गम्भीरता से न लेना-दूसरों को आप पर भरोसा करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकता। जनवाद की महिमा गांना और जनता को बोलने न देना एक ढोंग है। मानववाद पर भाषण देना और मनुष्य का निषेध करना एक झूठ है। कथनी व करनी का यह भेद फ्रेरे की निगाह में जनता के साथ भारी धोखाधड़ी है।

संवाद आशा के बिना भी संभव नहीं - फ्रेरे का विश्वास है कि आशा की जड़ें मनुष्यों के अधूरेपन में होती हैं, जहां से वे एक अनवरत खोज में आगे बढ़ते हैं। यह पूर्णता की खोज है, जो अकेले-अकेले नहीं, अन्य मनुष्यों के साथ मिल-जुलकर ही की जा सकती है। आशारहित होना खामोशी का ही एक रूप है, शब्द को नकारने और उससे पलायान करने का एक रूप है। अन्यायपूर्ण व्यवस्था से उत्पन्न होने वाला अमानुषीकरण हताशा नहीं, बल्कि आशा पैदा करता है, जो अन्याय द्वारा नकारी गई मनुष्यता को पुनः प्राप्त करने के अनवरत् प्रयास की ओर ले जाती है। मगर यह आशा हाथ पर हाथ रख कर बैठ जाने और प्रतीक्षा करते रहने से पैदा नहीं हो सकती। फ्रेरे कहते हैं - ''प्रतीक्षा मैं तभी कर सकता हूँ, जब संघर्षरत रहूँ, आशा से प्रेरित रहूँ, मन में उम्मीद रख कर संघर्ष करता रहूं। पूर्णतर मनुष्य बनने की आकांक्षा वाले मनुष्यों की मुठभेड़ के रूप में होने वाला संवाद आशाहीनता के वातावरण में संभव ही नहीं। यदि संवाद के सहभागियों को यह लगे कि उनकी कोशिशें निष्फल जाएंगी, तो उनकी यह मुठभेड़ खोखली और निष्फल होगी, यह नौकरशाही वाली एक उबाऊ और थकाऊ चीज बन जाएगी।''[25]

संवाद एक अधिकार है - फ्रेरे का मत है कि जनता से संवाद करना न तो उसके साथ की जाने वाली कोई रियायत है, और न उसे दिया जाने वाला कोई उपहार। वह प्रभुत्व जमाने की कार्यनीति तो हरगिज नहीं है। संवाद विश्व को 'नाम' देने के लिए मनुष्यों की मुठभेड़ है, जो उनके सच्चे मानुषीकरण की बुनियादी शर्त है। वे गाजो पेट्राविक के इन शब्दों में को उद्धर्त करते हैं-

"स्वतंत्र कर्म वही हो सकता है, जिसके द्वारा एक मनुष्य अपने विश्व को और स्वयं को बदलता है। .... स्वतंत्रता की एक सकारात्मक शर्त है आवश्यकता की सीमाओं का ज्ञान, मानवीय सृजनात्मक संभावनाओं का बोध। एक स्वतंत्र समाज के लिए किया जाने वाला संघर्ष तब तक स्वतंत्र समाज के लिए किया जाने वाला संघर्ष नहीं है, जब तक उसके जरिए उत्तरोत्तर अधिक वैयक्तिक स्वतंत्रता का सृजन न होता हो"[26]

इस प्रकार संक्षेप में कहा जाये तो संवाद के लिए विनम्रता, उदारता, सहिष्णुता, प्रेम, विश्वास, आशा, स्वतंत्रता में आस्था एवं मानवीयता आवश्यक है। शिक्षा-शास्त्री फ्रेरे संवाद को सामान्य अर्थों में न लेकर उसे व्यवस्था-परिवर्तन के व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखते हैं। उनकी दृष्टि में गतिशील संवाद की जमीन तभी तैयार की सकती है, जबकि व्यक्ति में विवेचनात्मक चेतना का विकास हो। इसके लिए यह शर्त आवश्यक है कि शिक्षक-विद्यार्थी के पारस्परिक रिश्ते संवादात्मक हों, न कि सिर्फ 'ग्रहणात्मक' हों। वे मानते हैं कि विषमताओं के मध्य संवाद संभव नहीं। उनकी यह भी मान्यता है कि शिक्षा उत्पीड़ितों की मुक्ति तथा अमानवीयकरण की प्रक्रिया की समाप्ति का एक सशक्त शस्त्र है। अतः संवाद के माध्यम से मनुष्य को 'मनुष्य की महत्ता' प्राप्त होती है। इस प्रकार यह एक अस्तित्वात्मक आवश्यकता है। ऐसी स्थिति में संवाद को एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्ति में विचारों को जमा करने या चर्चा के दौरान भाग लेने वालों द्वारा विचारों की मात्रा ग्रहण करने की क्रिया तक ही सीमित नहीं किया जा सकता। वास्तव में संवाद एवं सर्जनात्मक प्रक्रिया है,

जिसे एक व्यक्ति द्वारा दूसरे पर शासन करने का हथियार नहीं बनाया जा सकता। यदि उत्पीड़ितों को दी जाने वाली शिक्षा में इस प्रकार के संवाद के लिए स्थान है, तो वे निश्चित ही मुक्त मानव का स्थान प्राप्त कर सकते हैं।

व्यावहारिक स्तर पर फ्रेरे संवाद को सम्प्रेषण तथा अन्तः सम्प्रेषण के रूप में देखते हैं। यह स्थिति इस प्रकार दिखाई जा सकती है -

संवाद

आत्मीय सम्बन्ध

क ⇄ ख

अन्तः सम्प्रेषण
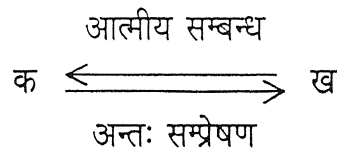
सम्बन्धः दो ध्रुवों के मध्य समानुभूति, जो कि एक संयुक्त सत्य की खोज में कार्यरत है।

उत्पत्ति स्थलः अनुरागी, विनम्र, आशावादी, विश्वासी तथा विवेचनात्मक।

जहां तक संवाद विरोधी स्थिति है, उसमें सम्प्रेषण के लिए कोई गुंजाइश नहीं है और न ही पारस्परिक प्रेम और विश्वास। यह स्थिति इस प्रकार दिखाई जा सकती है-

प्रति संवाद

बाहय औपचारिक सम्बन्ध

क..ख
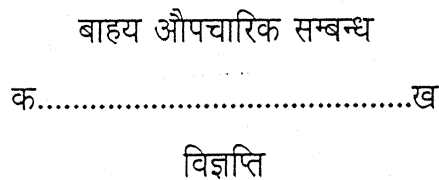
विज्ञप्ति

इसमें सहानुभूति के सम्बन्ध टूट गये हैं। उसके स्थान पर उत्पत्ति स्थल हैं- अनुरागहीनता, अंहकार, निराशा, अविश्वास तथा अविवेचनात्मक। इस प्रकार प्रतिसंवाद सम्प्रेषण में विश्वास न कर सिर्फ विज्ञप्ति जारी करने में विश्वास करता

है, जिसमें किसी भी वस्तु के परिवर्तन के लिए कोई स्थान नहीं रहता, बल्कि यथास्थितिवाद उसकी बुनियाद होता है।

वास्तविक संवाद की स्थिति पैदा करने के लिए यह आवश्यक है कि खामोशी की संस्कृति में पल रहे इंसानों की दी जाने वाली शिक्षा का जन्म उनकी ही जिन्दगी से हुआ हो। दूसरे शब्दों में, ऐसे विषयों को लिया जाये जिनका आधार वह स्थिति हो, जिनसे उनका रोजाना पाला पड़ता है। यह तभी सम्भव है, जब शिक्षक या प्रशिक्षक उत्पीड़ितों की स्थिति को समस्यात्मक ढंग से रखे और उसके प्रति उन्हें विवेचनात्मक स्तर पर जागरूक करे। इसके साथ ही वह यह भी सोचे कि किस प्रकार इस स्थिति को बदला जा सकता है और उत्पीड़न से मुक्ति किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है।

संवाद क्रान्तिकारी कर्म का सार है - फ्रेरे संवाद और क्रान्तिकारी कर्म में कोई द्विभाजन नहीं देखते हैं। उनके अनुसार ऐसा नहीं होता कि संवाद की एक अवस्था हो और क्रान्ति की दूसरी। इसके विपरीत, संवाद तो क्रान्तिकारी कर्म का सार है। इस कर्म के सिद्धान्त में संवादकर्ता अंतर-आत्मपरक ढंग से उस वस्तु पर (अर्थात उस यथार्थ पर, जो उनके बीच उपस्थित होता है) कर्म करते हैं और उनका उद्देश्य होता है मनुष्य का मानुषीकरण जो उस यथार्थ का रूपांतरण करके किया जाता है।

उत्पीड़नकारी कर्म के सिद्धान्त में, जो सारतः संवादविरोधी होता है, उपर्युक्त योजना सरल हो जाती है, क्योंकि यहां कर्म करने वालों के सामने दो वस्तुएं होती हैं, जिन दोनों पर उन्हें कर्म करना होता है, यथार्थ और उत्पीड़ित जनता और उनका उद्देश्य होता है। उत्पीड़नकारी यथार्थ को बनाये रख कर उत्पीड़न को बनाए रखना।

फ्रेरे कहते हैं कि उत्पीड़ितों की मुक्ति का संघर्ष चाहे किसी भी अवस्था में हो, उनके साथ संवाद अवश्य चलाया जाना चाहिए- ऐसा संवाद, जो आलोचनात्मक और मुक्तिदायी हो और जिसमें कर्म को पहले से ही आवश्यक मान कर चला जाये।

इस संवाद की अंतर्वस्तु ऐतिहासिक परिस्थितियों और उत्पीड़ितों के यथार्थबोध के स्तर के अनुसार बदल सकती है, और बदलनी भी चाहिए, लेकिन संवाद की जगह एकालाप, नारों और विज्ञप्तियों के जरिए उत्पीड़ितों की मुक्ति का प्रयास कभी नहीं **करना चाहिए, क्योंकि ये मुक्ति के नहीं बल्कि उन्हें पालतू बनाने के औजार हैं।** मुक्ति के कर्म में उत्पीड़ितों की विचारपूर्ण सहभागिता के बिना ही उनकी मुक्ति के लिए प्रयास करना उन्हें ऐसी निर्जीव चीजें मान लेने के समान है, जिन्हें मानों जलते हुए मकान में से निकाल कर बचाना हो। ऐसा करना उन्हें अंधलोकवाद के गड्ढे में गिराना और ऐसे लोगों में बदलना है, जिनके साथ अवसर मिलने पर चालबाजी की जा सकती है।

संवाद मुक्तिदायी कर्म का सतत् सक्रिय पक्ष हैं - फ्रेरे संवाद को एक निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया मानते हैं । उनके अनुसार ऐसा इसलिए है चूंकि मुक्तिदायी कर्म स्वभावतः संवादात्मक होता है, इसलिए संवाद उस कर्म के बाद की चीज नहीं, बल्कि उस कर्म का सहवर्ती होता है और चूंकि मुक्ति को एक स्थायी परिस्थिति होना चाहिए, इसलिए संवाद मुक्तिदायी कर्म का निरन्तर जारी रहने वाला पक्ष बन जाता है।

खामोशी की संस्कृति -

फ्रेरे के शिक्षा-दर्शन में ''खामोशी की संस्कृति''एक महत्वपूर्ण विषय-वस्तु है। जब तक इस विषय-वस्तु को समझ नहीं लिया जाता, तब तक फ्रेरे का शिक्षा-संसार अधखुला रहेगा। फ्रेरे का 'खामोशी की संस्कृति' से परिचय सर्वप्रथम उस समय हुआ, जब उन्हें अपने जीवन के प्रारम्भिक काल में गरीबी के दौर से गुजरना पड़ा। फ्रेरे की यह 'खामोशी की संस्कृति' सिर्फ ब्राजील तक ही सीमित नहीं है। वस्तुतः समस्त तीसरा विश्व इसकी गिरफ्त में है।

फ्रेरे का मत है कि ''खामोशी की संस्कृति शासित और शासक के बीच मौजूद संरचनात्मक सम्बन्धों का परिणाम है'' इन सम्बन्धों में बुनियादी अंसतुलन निहित है। इस प्रकार, फ्रेरे के अनुसार दो प्रकार की संस्कृतियाँ सामने आती हैं, शासितों की संस्कृति (खामोशी की संस्कृति) तथा शासकों की संस्कृति, जिनके पास ''आवाज'' है। अतः जो समाज शासित एवं आश्रित है, वह बुनियादी तौर पर ''खामोशी '' से ग्रस्त समाज है। फ्रेरे का यह निष्कर्ष है कि दो समाजों के बीच के संरचनात्मक सम्बन्ध एक स्वतंत्र प्रक्रिया नहीं हैं। ये ऐतिहासिक, आर्थिक एवं राजनीतिक प्रक्रियाओं से विकसित होते हैं। ऐसी स्थिति में संस्कृति के चरित्र का निर्धारण विभिन्न सांस्थानिक शक्तियों के व्यापक वृत्त से संचालित है। फ्रेरे इस संदर्भ में यह मानते हैं कि जब असन्तुलन पर आधारित सम्बन्ध होते हैं, तब आश्रित समाज के आन्तरिक ढाँचे का रूप-निर्धारण -नियन्त्रक समाज (शासक) की इच्छा के विभिन्न प्रतिबिम्बों में से एक होता है, एक खास संस्कृति शासित एवं आश्रित पर थोप दी जाती है। यही ''खामोशी की संस्कृति'' बन जाती है। शासकों की संस्कृति को ''आक्रमण की संस्कृति'' के रूप में भी देखा जा सकता है। आक्रमण की संस्कृति शासितों की मूल्य -व्यवस्था पर तेजी से आघात करती है, क्योंकि यह सांस्थानिक शक्तियों से लैस होती है। आक्रमण को तीन चरणों से गुजरना पड़ता है-बाहरी, अन्तर्वती सतह और आन्तरिक सतह।

असंतुलन-ग्रस्त संरचनात्मक सम्बन्धों के मोटे तौर पर दो वृत्त सामने आते हैं-बाहरी और आन्तरिक। यद्यपि सतही तौर पर दोनों वृतों के दो भिन्न अस्तित्व दिखाई देंगे, परन्तु दोनों में प्रकृति एवं प्रभाव के संदर्भ में अन्तनिर्हित सम्बद्धता है। फेनोन की मान्यता है कि तीसरी विश्व का शासक वर्ग प्रथम विश्व के शासक वर्ग की नकल मात्र है। ''खामोशी की संस्कृति'' के भी दो वृत्त सामने आते हैं- प्रथम विश्व के समक्ष तीसरे विश्व की सामूहिक ''खामोशी की संस्कृति'' (बाहरी) तथा तीसरे विश्व के अन्तर्गत शासक वर्ग के समक्ष शासित वर्ग की ''खामोशी की

संस्कृति'' (आंतरिक)। **यह कहा जा सकता है कि ''खामोशी की संस्कृति'' की धारा** ऊपर से नीचे की ओर जाती है। वास्तव में दो विपरीत संस्कृतियों का समानान्तर अस्तित्व है, एक नियन्त्रक समाज की संस्कृति और दूसरी नियंत्रित समाज की। संस्कृतियों के बाहरी एवं आन्तरिक द्विभागीकरण को इस प्रकार दर्शाया जा सकता है।

ऐतिहासिक अनुकूलन एवं चेतना के स्तर -फ्रेरे का मत है कि चेतना के स्तरों को यदि आधारिक संरचना (इन्फ्रास्ट्रक्चर) के रूप में देखा जाये तो सांस्कृतिक-ऐतिहासिक यथार्थ को अधिरचना (सुपर स्ट्रक्चर) के रूप में देखा जाना होगा। इसी ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विन्यास को फ्रेरे ने 'खामोशी की संस्कृति' कहा है। इस तरह की संस्कृति अधिरचनात्मक अभिव्यक्ति है जो चेतना के एक विशेष रूप को अनुकूलित करती है। जैसा कि अल्थूसर बताता है कि यह उस आधारिक संरचना को 'अतिनिर्धारित' करती है जिसमें कि उसकी उत्पत्ति होती है।

निर्देशक या महानगरीय तथा निर्भर समाज के पारस्परिक सम्बन्धों की प्रकृति- फ्रेरे[27] के अनुसार 'खामोशी की संस्कृति'को समझना तभी संभव है जब इसे पूर्णता में ग्रहण किया जाये जो स्वयं बृहद् सम्पूर्ण का भाग है। इस बृहद सम्पूर्ण में उस संस्कृति या संस्कृतियों को पहचान भी जरूरी है जो 'खामोशी की संस्कृति' के स्वर को निर्धारित करती है। वस्तुतः 'खामोशी की संस्कृति' ऐसा तत्व नहीं जो महानगरों द्वारा विशेषीकृत प्रयोगशालाओं में बनाया जाता है और तीसरी दुनिया को भेज दिया जाता है। लेकिन यह भी सच नहीं है कि यह स्वतः स्फूर्त उत्पादन द्वारा सामने आती है। तथ्य यह है कि 'खामोशी की संस्कृति' का जन्म तीसरी दुनिया और महानगरों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध से होता है। यह शासक नहीं है जो एक संस्कृति की रचना करता है और उसे शासितों पर थोपता है। यह संस्कृति शासकों और शासितों के बीच संरचनात्मक रिश्तों का परिणाम होती है। इस तरह, 'खामोशी की संस्कृति' को समझने के लिए जरूरी है, सम्बन्धात्मक परिघटना के रूप में निर्भरता का

विश्लेषण करना। यह सम्बंधात्मक परिघटना 'खामोशी की संस्कृति' और वह संस्कृति जो आवाज रखती है, उनके होने, उनके सोचने, उनकी अभिव्यक्ति के विभिन्न रूपों को उत्पन्न करती है।

फ्रेरे इंगित करते हैं कि - सामाजिक संरचना की द्वद्वांत्मकता को समझने हेतु दो दृष्टिकोणों से बचना होगा। वस्तुनिष्ठता, जो यांत्रिकता की ओर ले जाती है और भाववाद जो अहंमात्रवाद की ओर ले ज़ाता है। इसके अलावा अधिरचना के आदर्शीकरण के विरुद्ध, आधारिक संरचना से इसकी द्वैतता की रक्षा भी करनी होगी अधिरचना को या आधारिक संरचना को कम करके आंकने में से सामाजिक संरचना की व्याख्या करना असंभव हो सकता है। सामाजिक संरचना अमूर्त नहीं होती, यह अधिरचना और आधारिक संरचना के बीच द्वंद्वात्मकता में मौजूद रहती है। इस द्वंद्वात्मकता को समझने में असफल होने पर सामाजिक संरचना की अभिव्यक्ति के रूप में परिवर्तन और स्थायित्व की द्वंद्वात्मकता को भी समझ पाना कठिन है।[28]

जिन संबंधों के द्वारा मनुष्य के कार्य दुनिया का रूपांतरण करते हैं, उनसे रचित आधारिक संरचना अधिरचना को उत्पन्न करती है। साथ ही मनुष्य द्वारा मध्यस्थ अधिरचना जिसमें उसके मिथक भी घुले मिले होते हैं, पुनः आधारिक संरचना पर निर्भर हो जाती है और इसे 'अतिनिर्धारित' करती है। यदि आधारिक संरचना इन अस्थिर संबंधों की गतिशीलता के लिए नहीं होती जिनमें मनुष्य का अस्तित्व है और वह संसार में कार्य करती हैं, तो न तो सामाजिक संरचना, न ही मनुष्य और न ही मानव जगत के बारे में कुछ कर पाना संभव हो सकेगा। होने, सोचने और अभिव्यक्ति के अपने-अपने निजी तरीकों के स्रोत के रूप में महानगरीय समाज और निर्भर समाज के बीच सम्बन्ध पर विचार करना जरूरी है। महानगरीय समाज और निर्भर समाज दोनों अपने में पूर्ण हैं और उस बृहद् सम्पूर्ण यानी आर्थिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भ के हिस्से हैं, जिसमें वे पारस्परिक सम्बन्धों को विकसित करते हैं। यद्यपि जिस संदर्भ में ये समाज एक

दूसरे से सम्बन्ध बनाते हैं, वह समान है, लेकिन सम्बन्ध की गुणवत्ता प्रत्येक मामले में स्पष्ट रूप से भिन्न होती है और जो उस भूमिका द्वारा निर्धारित होती है जिसे अपने पारस्परिक सम्बन्ध के पूर्ण सम्बन्ध में वे निभाते हैं। निर्भर समाज के बारे में महानगरीय समाज की कार्रवाई का चरित्र निर्देशात्मक होता है, जबकि वस्तु समाज की कार्रवाई, चाहे वह किसी प्रतिक्रिया में हो या खुद एक शुरूआत हो, उसका चरित्र निर्भरता का चरित्र होता है।

फ्रेरे की मान्यता है कि शासक और शासित के बीच के सम्बन्ध, चाहे वे औपचारिक रूप से जिस प्रकार व्यक्तिगत क्यों न हो, बृहद सामाजिक संदर्भ को प्रतिबिंबित करते हैं। ऐसे सम्बन्धों में शासक के सांस्कृतिक मिथकों का शासितों द्वारा समावेश अंतर्निहित होता है। इसी प्रकार निर्भर समाज महानगरीय समाज के मूल्यों और जीवन पद्धति को समाविष्ट करता है। क्योंकि महानगरीय समाज की संरचना निर्भर समाज को आकार देती है। निर्भर समाज की द्वैतता, उसकी अस्पष्टता, उसका स्वयं में होना और न होना, और निर्भरता के उसके लम्बे अनुभव की द्वैध वृत्ति में उसका परिणाम सामने आता है, जो द्वैध वृत्ति महानगरीय समाज द्वारा आकृष्ट भी होती है और उसे अस्वीकार भी करती है।

निर्भर समाज की आधारिक संरचना निर्देशक समाज की इच्छा द्वारा आकार ग्रहण करती है। इसीलिए परिणामी अधिरचना आधारिक संरचना की अप्रामाणिकता को प्रतिबिंबित करती है। जबकि महानगर इसकी विचारधारात्मक चीखों को आर्थिक सत्ता के तंत्र और उच्च्व विकसित प्रौद्योगिकी के जरिए जज्ब कर लेता है। निर्भर समाज की संरचना हलकी -सी लोकप्रिय अभिव्यक्ति के समर्थन के लिए भी काफी कमजोर होती है। यह कमजोरी निर्भर संरचना के निरन्तर सख्त रवैये के लिए जिम्मेदार होती है। अपनी परिभाषा में निर्भर समाज एक खामोश समाज होता है। इसकी आवाज प्रामाणिक आवाज नहीं होती है बल्कि हर तरीके से महानगरों की

आवाज की प्रतिध्वनि होती है। महानगरीय समाज बोलते हैं और निर्भर समाज सुनते हैं।

निर्देशक समाज के संदर्भ में वस्तु समाज की खामोशी स्वयं वस्तु समाज में मौजूद संबंधों में दोहराई जाती है। यह अभिजात वर्ग को शक्ति देता है, महानगरों के सामने खामोश रहता है और अपने लोगों को खामोश रखता है। जब निर्भर समाज के लोग खामोशी की संस्कृति को तोड़ते हैं और अपने बोलने के अधिकार को हासिल कर लेते हैं यानी जब मूलगामी परिवर्तन निर्भर समाज को रूपांतरित करता है, तभी वह अपनी पूर्णता में एक ऐसा समाज होता है जिसने निर्देशक समाज के सामने खामोश रहना बंद कर दिया है।

दूसरी ओर, एक समूह जब सैनिक विद्रोह द्वारा सत्ता हथिया लेता है और राष्ट्रवादी आर्थिक और सांस्कृतिक सुरक्षाा उपायों को लागू करने की शुरूआत करता है, तो इसकी नीति निम्नलिखित परिणामों में से किसी एक के साथ नए अंतर्विरोध पैदा करती है। सबसे पहले, नई शासन व्यवस्था खुद अपने इरादों से आगे बढ़ सकती है और आंतरिक और बाहरी दोनों रूपों में खामोशी की संस्कृति को निर्णायक ढंग से तोड़ने को विवश हो सकती है । दूसरे, जनता के आधिपत्य से डरकर, यह पीछे हट सकती है और वापस जनता पर खामोशी लाद सकती है। तीसरे, सरकार एक नए तरह के लोकप्रियतावाद को बढ़ावा दे सकती है। पहले जनता को राष्ट्रवादी उपायों द्वारा उत्तेजित किया जाता है, ताकि डूबी जनता में यह भ्रम पैदा हो सके कि वे अपने समाज के रूपांतरणों में भाग ले रहे हैं, जबकि वास्तव में वे बहुत चतुराई से मनचाहे ढंग से हांके जाते हैं। इस प्रकार लोकप्रियतावादी दृष्टिकोण सत्ता समूह के लिए गंभीर अंतर्विरोध को पैदा करने के साथ समाप्त होता है । अन्ततः यह या तो खामोशी की संस्कृति को तोड़ने या उसे दोबारा कायम करने के लिए बाध्य होगा।

तीसरी दुनिया या लैटिन अमरीका के निर्भर या बंद समाजों की पहचान हैः एक सख्त श्रेणीबद्ध सामाजिक संरचना, अंदरूनी बाजारों का अभाव, बाहर से नियंत्रित होने वाली अर्थव्यवस्थाएं, किसी भी प्रक्रिया में अपनी बात कहे बिना कच्चे माल का निर्यात और उत्पादित मालों का आयात, अनिश्चित और चयनात्मक शैक्षिक प्रणाली जिसके स्कूल यथास्थिति को बनाए रखने के औजार हैं, निरक्षरता और रोग की ऊंची दरें, उच्च शिशु मृत्यु दर, प्रायः मानसिक शक्तियों पर अपूरणीय प्रभावों के साथ कुपोषण, निम्न औसत आयु दर, और अपराध की उच्च दर।

चेतना के विभिन्न स्तर - अल्प निमग्न चेतना, अर्ध अकर्मक चेतना और चेतना के विभिन्न स्तरों का उल्लेख पाओलो फ्रेरे ने शासित मनुष्य की चेतना के स्तरों को व्यक्त करने के लिए किया है। शासित मनुष्य की चेतना, शासक चेतना से कितनी मुक्त है या कितनी प्रभावित है, इसका संबंध विवेकीकरण की प्रक्रिया से भी है जो शासित चेतना को शासक चेतना से मुक्त करती है।

फ्रेरे के अनुसार चेतना का एक रूप ऐसा होता है जो निर्भर समाजों के ठोस यथार्थ के सदृश होता है। यह एक ऐसी चेतना है जो सामाजिक संरचनाओं द्वारा ऐतिहासिक रूप से अनुकूलित होती है। जिस समाज की संरचना से यह चेतना जितना मेल खाती है, उस पर वह उतनी ही निर्भर होती है। इस चेतना की मुख्य विशेषता वस्तुनिष्ठ यथार्थ से अल्प संसक्ति (क्वाशि-एडहिंरस) या यथार्थ में अल्प-निमग्न (क्वाशि-इमर्शन) होना है। उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र (पेड़ागॉजी आफ दि आप्रेस्ड) में फ्रेरे ने स्पष्ट किया है कि शासित चेतना आलोचनात्मक ढ़ंग से यथार्थ को जानने के उद्देश्य से इसे इंद्रियगोचर बनाने के लिए इससे पर्याप्त दूरी नहीं रख पाती। चेतना के इस रूप को फ्रेरे अर्ध-अकर्मक (सेमी-इंट्रांसिटिव) कहते हैं। अर्ध-अकर्मक चेतना बंद समाजों की विशिष्टता है। ठोस यथार्थ में अल्प निमग्न रहने की वजह से यह चेतना यथार्थ की बहुत सी चुनौतियों को ग्रहण करने में असफल होती है, या उन्हें विकृत ढ़ंग से ग्रहण कर पाती है। इसकी अर्ध-अकर्मकता एक तरह

का विरूपण है जो वस्तुनिष्ठ स्थितियों पर थोपा गया है । इस विरूपण की वजह से केवल उन आंकड़ों को शासित चेतना ग्रहण करती है जो इसके अनुभव के दायरे में आते हैं। इस तरह की चेतना रोजमर्रा जिंदगी के तथ्यों और समस्यात्मक स्थितियों को वस्तुपरक नहीं बना पाती। वह मनुष्य जिसकी चेतना 'अल्प-निमग्न' स्तर पर रहती है, उसमें संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य के अभाव में, मनुष्य अपने जीवन में ऐसे तथ्यों और स्थितियों के स्त्रोतों को या तो कुछ अतियथार्थ या कुछ को अपने आप में उत्तरदायी मान लेता है। हर स्थिति में वस्तुपरक यथार्थ के बाहर ही वह कारण की खोज करता है। यहाँ कुछ स्थितियों में मनुष्य द्वारा भाग्यवादी रवैयों को अपनाने के मूल उद्‌गम को पहचानना बहुत मुश्किल नहीं है। यदि उन स्थितियों की व्याख्या किसी दैवीय सत्ता में या मनुष्य की स्वाभाविक अक्षमता में निहित है तो यह स्पष्ट है कि उनके कार्य परिवर्तनशील यथार्थ की ओर अभिमुख नहीं होंगे बल्कि समस्यात्मक स्थिति के लिए जिम्मेदार दैवीय सत्ताओं की ओर या मान्य अक्षमता की ओर होंगे। अतएव, रक्षात्मक जादू-टोना या चिकित्सीय जादू टोना उनके कार्य की पहचान होते हैं। इस प्रकार, पैदावार से पहले या बुवाई के समय, लैटिन अमरीका के किसान और आम तौर पर तीसरी दुनिया के किसान समन्वयात्मक धार्मिक प्रकृति के जादुई अनुष्ठान करते हैं। यहां तक कि जब वे अनुष्ठान सांस्कृतिक परंपराओं में घुलमिल जाते हैं, तो भी वे उक्त अवसर के लिए सहायक बने रहते हैं। जादुई अनुष्ठानों का परंपरा की अभिव्यक्ति में, रूपांतरण अचानक घटित नहीं होता। एक बार फिर, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें वस्तुनिष्ठता और आत्मनिष्ठता के बीच द्वंद्वात्मकता शामिल होती है।

सामाजिक परिवर्तन एवं चेतना स्तरों में बदलाव - किन्हीं कारणों से एक बार जब संरचना में दरारें पड़ने लगती हैं और जब समाज संक्रमण के दौर में प्रवेश कर जाते हैं, तो पहले आंदोलनों के उभार के साथ, अब तक आत्मलीन और खामोश जनता अपने आपको अभिव्यक्त करना शुरू कर देती है। यद्यपि, इसका अर्थ यह नहीं है

कि इन आंदोलनों का उभार स्वतः ही खामोशी की संस्कृति को तोड़ देता है। महानगरों के साथ अपने संबंध में संक्रमणशील समाज खामोश समग्रताओं के रूप में बना रहता है। यद्यपि उनके अंतर्गत जनता के उभार की परिघटना सत्ता अभिजात को बाध्य करती है कि वे जनता को खामोशी में बनाए रखने के लिए नए तरीकों का प्रयोग करें। क्योंकि जनता के उभार को प्रोत्साहित करने वाले संरचनात्मक परिवर्तन भी जनता की अल्प निमग्न और अर्ध अकर्मक चेतना को बदल देते हैं।

बंद समाज के संरचनात्मक घटकों में से एक घटक यानी उसकी आधार सामग्री जनता की खामोशी है। यह खामोशी कभी कभार, प्रभावहीन विद्रोहों के द्वारा टूटती है। जब यह खामोशी यथार्थ के बारे में जनता की भाग्यवादी समझ से मेल खाती है, तो जनता पर खामोशी थोपने वाला सत्ता अभिजात अपवाद रूप में ही सवाल के दायरे में आता है। हालांकि जब बंद समाज टूटना शुरू होता है तो नई आधार सामग्री जनता की अपेक्षित उपस्थिति बन जाती है। खामोशी अब अपरिवर्तनीय नहीं रह जाती बल्कि ऐसे यथार्थ का परिणाम नजर आती है जिसे बदला जा सकता है, जिसे बदला जाना चाहिए।

प्रभुत्व की संरचना में जनता की खामोशी का अस्तित्व तब तक नहीं होता जब तक कि सत्ताधारी अभिजन वर्ग उन्हें खामोश नहीं रखता और सत्ताधारी अभिजात वर्ग का अस्तित्व जनता के अस्तित्व के बिना संभव नहीं है। जब जनता वह देखना शुरू कर देती है जो उसने पहले नहीं देखा था तो उनके बीच उचित ही आश्चर्य की भावना उत्पन्न होती हे, लेकिन इसके साथ ही सत्ता में जो अभिजात वर्ग हैं वे भी जनता द्वारा अपनी असलियत पहचान लिए जाने से आश्चर्यचकित रह जाते हैं। इस दोहरे परदाफाश से जनता और सत्ताधारी अभिजन दोनों में व्यग्रता बढ़ जाती है। जनता मुक्ति के लिए व्यग्र हो उठती है, उस खामोशी पर विजय प्राप्त करने के लिए व्यग्र हो उठती है जिसमें वे हमेशा रहे हैं। अभिजात वर्ग यथास्थिति को बनाये रखने के लिए व्यग्र रहता है। इसके लिए वह ऐसे बनावटी रूपांतरणों की

अनुमति देता है जो सत्ता पर उनके अधिकार में किसी वास्तविक चुनौती से बचने के लिए बनाए गए हों।

संक्रमण की प्रक्रिया में 'बंद समाज' का प्रमुखतः स्थिर चरित्र धीरे धीरे सामाजिक जीवन के सभी आयामों में गतिशीलता उत्पन्न कर देता है। अंतर्विरोध सतह पर आ जाते हैं। जो संघर्ष को उकसाते हैं, जिससे लोकप्रिय चेतना ज्यादा-से-ज्यादा माँग करने लगती है और जो अभिजात वर्ग के लिए ज्यादा-से-ज्यादा चिंता का कारण बन जाता है। ऐतिहासिक संक्रमण के वे रास्ते जितने अधिक तेजी से सामने आते हैं, उतने ही निर्भर समाज में निहित अंतर्विरोध साफ होते जाते हैं। अधिकार प्राप्त अभिजात वर्ग से वास्ता रखने वाले बुद्धिजीवी और छात्र सामाजिक यथार्थ की तलाश में जुट जाते हैं और आयातित योजनाओं और पूर्वनिर्मित समाधानों के अस्वीकार की ओर झुकने लगते हैं। धीरे धीरे कला समृद्ध बुर्जुआ वर्ग की आसान जिंदगी की अभिव्यक्ति बंद कर देती है और अपनी प्रेरणा जनता के कठिन जीवन से प्राप्त करना शुरू कर देती है। कवि अपने खोए प्यार से कुछ ज्यादा लिखने लगते हैं और यहां तक कि खोए प्यार की विषयवस्तु भी कम भावुक और ज्यादा वस्तुपरक और गीतात्मक हो जाती है। वे अब खेतों में हल चलाते किसानों और कारखानों में काम करते मजदूरों के बारे में लिखते हैं, अमूर्त और आधिभौतिक संकल्पनाओं के रूप में नही बल्कि ठोस जीवन जीते लोगों के रूप में।

हालांकि खामोशी में से जनता का उभार पहले के बंद समाज की राजनीतिक शैली को जारी रखने की इजाजात नहीं देता। इसका मतलब यह भी नहीं है कि जनता अपने लिए स्वयं बोलने में असमर्थ हो जाती है। वे महज अल्पनिमग्न दशा से जागरूकता की निष्कपट सकर्मक दशा तक पहुंचते हैं। इस प्रकार लोकप्रियतावादी नेतृत्व ऐतिहासिक प्रक्रिया में जनता की नई उपस्थिति का पर्याप्त उत्तर हो सकता है।

लेकिन यह एक छल प्रपंच वाला नेतृत्व है, जनता से छल प्रपंच करने वाला नेतृत्व न कि अभिजात वर्ग के साथ, क्योंकि वह अभिजात वर्ग के साथ ऐसा नहीं कर सकता।

फ्रेरे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि जनता के साथ लोकप्रियतावादी छल प्रपंच को दो भिन्न दृष्टियों से देखना होगा। एक ओर यह निर्विवाद रूप से एक प्रकार की राजनीतिक अफीम है जो न सिर्फ उदीयमान चेतना की निष्कपटता को बनाए रखती है, बल्कि दूसरों के द्वारा निर्देशित होने की जनता की आदत को भी बनाए रखती है। दूसरी ओर, यह जिस हद तक जन विरोध और जनता की मांगों का इस्तेमाल करता है, उस हद तक राजनीतिक छल प्रपंच विरोधाभासी रूप में उस प्रक्रिया को तेज भी करता है जिसके द्वारा जनता यथार्थ को अनावृत्त करती है। यह विरोधाभास लोकप्रियता के संदिग्ध चरित्र को सामने रखता है, यह छल प्रपंच वाला होता है, लेकिन साथ ही जनवादी लामबंदी का एक घटक भी होता है।

इस प्रकार संक्रमणशील समाजों में राजनीतिक जीवन की नई शैली जनता और अभिजात वर्ग के बीच मध्यस्थता करने वाले इसके नेताओं की छल-प्रपंच वाली भूमिका तक सीमित नहीं रहती। वास्तव में, राजनीतिक कर्म की लोकप्रियतावादी शैली युवा समूहों और बुद्धिजीवियों के लिए जनता के साथ मिलकर राजनीतिक भागीदारी को व्यवहार में लाने के लिए परिस्थितियां पैदा करती है। फ्रेरे की दृष्टि में यद्यपि यह छल-प्रपंचवादी पितृसत्तावाद का उदाहरण है, फिर भी वे मानते हैं लोकप्रियतावाद स्वयं छल-प्रपंच की राजनीति के आलोचनात्मक विश्लेषण का मौका देता है। अंतर्विरोधों और अनिश्चितताओं के इस पूरे खेल में संक्रमणशील समाजों में जनता का उभार जनता को अपनी निर्भर स्थिति के प्रति सचेत होने के लिए तैयार करता है।

अर्ध अकर्मक दशा से चेतना की निष्कपट सकर्मक दशा की ओर जनता का गमन, अभिजात वर्ग के लिए भी जागरूक चेतना का क्षण होता है, और प्रगतिशील समूहों की आलोचनात्मक चेतना के लिए संकल्प का क्षण भी होता है। सबसे पहले

बुद्धिजीवियों के उन छोटे समूहों की बीच क्षणिक जागरूकता के रूप में उभरता है, जो अभी भी संपूर्ण समाज की सांस्कृतिक विच्छिन्न्ता के रूप में पहचाने जाते हैं। विश्वविद्यालय की शिक्षा ने इनकी इस विच्छिन्नता को और मजबूत किया है। संक्रमण से गुजरने वाले समाज के अंतर्विरोध जैसे जैसे स्पष्ट रूप से सामने आते हैं, ये समूह उसी रूप में बढ़ते जाते हैं और अपने समाज को जैसा बनाना है, उसे अधिकाधिक साफ तौर पर पहचानने लगते हैं। भिन्न भिन्न तरीकों से जैसे साहित्य, रूपंकर कला, रंगमंच, संगीत, शिक्षा, खेलकूद और लोक कला के जरिए जनता में शाामिल होने की ओर ये बढ़ने लगते हैं। जो महत्वपूर्ण है वह है, जनता के साथ सहभागिता जिसे इनमें से कुछ समूह हासिल करने में कामयाब हो जाते हैं।

फ्रेरे के अनुसार इस मुकाम पर, जनता के उभार की निष्कपट सकर्मकता से उठ, इन प्रगतिशील समूहों की बढ़ती आलोचनात्मक चेतना, सत्ता अभिजात की चेतना के लिए चुनौती बन जाती है। वे समाज जो इस ऐतिहासिक चरण में से गुजर रहे होते हैं, उन्हें उस पूर्णता, जिसके वे हिस्से हैं, उसके आलोचनात्मक बोध के बाहर नहीं समझा जा सकता। वे समाज क्रांति- पूर्व के माहौल में जीते हैं, जिसका द्वंद्वात्मक अंतर्विरोध सैनिक विद्रोह है।

दृष्टव्यः

1. माइल्स हार्टन एवं फ्रेरे- शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन, राह बनाकर चलते हम- प्राक्कथन, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली xxvii
2. पूर्वाक्त पृ0- 110
3. पूर्वोक्त- पृ0 159
4. पूर्वोक्त- पृ0-160
5. पूर्वाक्त- पृ0 175
6. पूर्वोक्त- पृ0 157
7. पूर्वोक्त- पृ0 180
8. पूर्वोक्त- पृ0 50
9. पूर्वोक्त- पृ0 48
10. पूर्वोक्त- पृ0 162-163
11. पाओलो फ्रेरे- उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, भूमिका, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली-1997, पृ0-5
12. हार्टन एवं फ्रेरे- शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन, राह बनाकर चलते हम- प्राक्कथन, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली xxvii
13. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, भूमिका, पृ0-21
14. पूर्वोक्त- पृ0 12
15. पूर्वोक्त- पृ0 15
16. पूर्वोक्त- भूमिका, पृ0 03
17. पूर्वोक्त- भूमिका, पृ0 05
18. फ्रेरे पाओलो, प्रौढ़ शिक्षा-मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली-1997, पृ0-28
19. पूर्वोक्त- पृ0- 29
20. राह बनाकर चलते हम, पृ0-147
21. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, पृ0-07
22. पूर्वोक्त- पृ0- 30
23. पूर्वोक्त- पृ0- 48
24. पूर्वोक्त- पृ0- 48
25. पूर्वोक्त- पृ0- 52
26. पूर्वोक्त- पृ0- 51
27. प्रौढ़ शिक्षा-मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई पृ0-46
28. पूर्वोक्त- पृ0- 47

अध्याय-तृतीय

पाओलो फ्रेरे के शैक्षिक विचार

अध्याय तृतीय

पाओलो फ्रेरे के शैक्षिक विचार

पूर्व अध्याय में पाओलो फ्रेरे के शिक्षा दर्शन सम्बन्धी प्रमुख तत्वों की चर्चा करने के उपरान्त प्रस्तुत अध्याय में शिक्षा व्यवस्था के विभिन्न अंगो पर उनके विचारो का विवेचन अधोलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत किया जा रहा है।

3.1 शिक्षा का अर्थ एवं आवश्यकता-

शिक्षा की अवधारणा पर विचार करते समय उसके प्रत्यय के साथ उसके सभी अंगों पर भी विचार करना आवश्यक है। इस समग्रतापूर्ण चिन्तन से ही शैक्षिक प्रक्रिया का स्वरूप स्पष्टता प्राप्त करता है। इस ओर इंगित करते हुए फ्रेरे कहते हैं-

''जब शिक्षा के विषय में विचार करना होता है तो यह एक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक पक्ष के रूप में उभरता है। यह बहुत जटिल है, आप जानते हैं, उदाहरण के लिए, जव हम यह सोचते हैं कि बिना अध्यापकों के और बिना विद्यार्थियों के कोई शिक्षा नहीं हो सकती, इसी तरह दी जाने वाली जानकारी, पढ़ाई जाने वाली सामग्री, सिखाए जाने वाले विषय के बिना शैक्षिक परिवेश नहीं बन सकता। मैं इसे जानना और पुनः जानना कहना ज्यादा पसन्द करूंगा। बिना उद्देश्य के कोई भी शिक्षा नहीं हो सकती और इसे उक्त परिस्थिति से आगे भी जाना ही होगा। हमारे पास विषय सामग्री पर विमर्श करने और विद्यार्थियों से प्रगाढ़ सम्बन्ध स्थापित करने के अनेक तरीके हैं। कुछ तरीके ऐसे भी हैं जो विद्यार्थियों को पास लाने की बजाये उन्हें दूर कर देते हैं।''[1] फ्रेरे की धारणा है कि- शैक्षिक परिवेश में प्रविधियों और तकनीकों की जरूरत पड़ती है। और इन सबको मिलाकर एक प्रक्रिया की शुरूआत होती है, या इनमें प्रक्रिया निहित होती है। शिक्षक को कार्यक्रम की

विषय-वस्तु पर महारत होनी चाहिये। यहां सवाल यह जानने का है कि कार्यक्रम कैसे तैयार किंया जाये, विषय-वस्तु का चयन कैसे किया जाये, किसके पास कार्यक्रम चुनने की क्षमता हैं? विषय-वस्तु को संगठित करने का क्या तरीका है? कौन कहता है कि क, ख और ग से जान पहचान होनी चाहिये? कौन यह घोषित करता है कि विद्यार्थियों को कुछ नहीं आता? कौन कहता है कि शिक्षक का यह कर्तव्य नहीं बनता हैं कि वह सबसे पहले विद्यार्थियों के पूर्व ज्ञान का जायजा ले? फ्रेरे मानते हैं कि इन सब सवालों का जवाब मिलना चाहिये। सबसे पूर्व फ्रेरे शिक्षा की व्युत्पत्ति पर प्रकाश डालते हुए कहते हैं-

''शिक्षा की व्युत्पत्ति पर एक नजर डालना भी कम रोचक न होगा। संक्षेप में यह बिल्कुल बाहर से अन्दर और अन्दर से बाहर आवागमन की एक प्रक्रिया है। जीवन में इस आवागमन का अनुभव प्रभुत्व और स्वतंत्रता के संबंधों का अनुभव है।''[2]

शिक्षा को उसके शाब्दिक रूप में एडूकेयर, एडूकेटम व एडूसीयर तथा व्युत्पत्ति (ई + डयूको) के सन्दर्भ में देखे जाने पर इसका अर्थ है-अंदर से बाहर निकालना, विकसित करना, प्रशिक्षित करना। परन्तु फ्रेरे इसे बाहर से भीतर व भीतर से अन्दर आवागमन की एक प्रक्रिया के रूप मे ंदेखते हैं।

शिक्षा संप्रेषण एवं संवाद है -

फ्रेरे की दृष्टि में शिक्षा शिक्षक द्वारा छात्रों को ज्ञान का हस्तान्तरण नहीं है। यदि शिक्षा को ज्ञान का हस्तान्तरण माना जाये तो यह पूर्व धारणा रखनी होगी कि ज्ञान पर शिक्षक का एकाधिपत्य है, उसने ही जाना है जबकि छात्र ज्ञान शून्य हैं, न ही वे जानने की प्रक्रिया से गुजरे हैं। अतः जो नहीं जानते हैं (छात्र) उन्हें ज्ञान उनके द्वारा ही दिया जा सकता है जो जानते हैं (शिक्षक)। शिक्षा की यह अवधारणा छात्र अर्थात अधिगमकर्ता की सम्भावनाओं में, उसकी क्षमताओं में विश्वास न रख

उसके पूर्व अनुभवों को, और इस प्रकार उसके अस्तित्व को भी नहीं व्यक्तित्व को भी नकारती है। इस प्रकार यह पूर्ण अधिनायकवादी है। फ्रेरे छात्र के व्यक्तित्व में, उसके द्वारा यथार्थ को समझते हुए विश्व का अनावरण करने की क्षमता में पूर्ण आस्था रखते हैं। अतः उनकी दृष्टि में शिक्षा सूचनाओं का एकमार्गी प्रवाह न बनकर शिक्षक व छात्र के मध्य विचारों का द्विमार्गी आदान-प्रदान बन जाती है। जो साथ ही साथ कर्म के रूप में भी परिणत भी होता है। वस्तुतः यह यथार्थ का बोध प्राप्त करने का एक संयुक्त प्रयास होता है। सत्य को शिक्षक व छात्र दोनों साथ-साथ अनुभव करते हैं दोनों एक ही धरातल पर चिन्तन व कर्म करते हुए अनुभव प्राप्त करते हैं। इसमें शिक्षक अपना ज्ञान व अनुभव छात्र पर थोपता नहीं है।

शिक्षा तटस्थ नहीं हो सकती है- फ्रेरे यह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि शिक्षा को व्यावहारिक समम्याओं का सामना करना पड़ता है क्योंकि शिक्षा में तटस्थता की बात नहीं हो सकती।

शिक्षा समाज का अविभाज्य अंग है। वह समाज से प्रभावित होती है तथा उसे प्रभावित करती है। समाज के रूपान्तरण की आवश्यकता का बोध होने पर शिक्षा द्वारा उसमें हस्तक्षेप किया जाना अत्यावश्यक है। इस हस्तक्षेप में अनेक चुनौतियां व समस्याएं उसके सम्मुख आती हैं। उन पर विजय प्राप्त करके ही वह सामाजिक बदलाव के अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है।

शिक्षा एक महा संरचना है- फ्रेरे मानते हैं कि ''शिक्षा वस्तुतः एक महासंरचना है और एक प्रमुख विचारधारा का सृजनात्मक ढंग से पुनर्प्रस्तुतिकरण है।''[3] शिक्षा की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि के रूप में दर्शन विशेष की विचारधारा होती है। शिक्षा इसे क्रियान्वित करने का माध्यम है। परन्तु विचारधारा को प्रचारित - प्रसारित करने के उपकरण के रूप में ही शिक्षा को समझा जाना सत्ताधारी दलों की नासमझी हो सकती है। सत्ता में 'आने से पूर्व या बाद में' जैसी अवस्थाओं में शैक्षिक कर्म को विभाजित करना अनुचित है। यह निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है।

फ्रेरे वामपंथी दलों और समूहों का ठोस उदाहरण देते हुए कहते हैं कि कुछ साल पहले तक किस प्रकार उन्होंने लामबन्दी और संगठित करने की प्रक्रिया के दौरान शिक्षा पर गंभीरता से ध्यान नहीं दिया और उसे मात्र राजनीतिक प्रक्रिया के रूप में देखा। वस्तुतः यह साथ ही साथ शैक्षिक प्रक्रिया भी है सत्तर के दशक में प्रमुख विचारधारा के उत्पादक के रूप में शिक्षा की खूब चर्चा की गयी। इसीलिए वामपंथी दल और समूह हमेशा यह सोचते रहे कि लैटिन अमेरिका में सत्ता प्राप्त करने के बाद ही शिक्षा पर ध्यान दिया जा सकता है। इस विचारधारा में स्कूली व्यवस्था और इस व्यवस्था के बाहर होने वाली गतिविधियों के बीच का अंतर भी नहीं समझा जा सका। वस्तुतः इन सबके बावजूद शिक्षा अभी भी, शिक्षा की उपव्यवस्था में भी, केवल प्रमुख विचारधारा का वाहक नहीं बन पायी थी। शासक वर्ग शिक्षकों से यही अपेक्षा रखता है कि वे उनकी विचारधारा को प्रचारित-प्रसारित करें। परन्तु फ्रेरे के मतानुसार अध्यापक के रूप में दूसरी पद्धति भी अपनाई जा सकती है। प्रमुख विचारधारा के वाहक बनने की बजाए वह जोखिम उठाकर उसे नकार भी सकता है। यह कहना बहुत आसान नहीं है परन्तु शिक्षा कभी भी प्रमुख विचारधारा की उपव्यवस्था का पुनरुत्पादक बन कर नहीं रह सकती है। सैद्धांतिक रूप में भी ऐसा नहीं हो सकता है। फ्रेरे कहते हैं कि-

''जब हम लामबंदी और संगठन करने की प्रक्रिया में होते हैं तो इसे भी शैक्षिक समस्या की प्रक्रिया और उत्पाद के रूप में देखा जाता है, क्योंकि निसंदेह सत्ता पाने से पहले लामबंदी के दौरान एक अलग ढंग की शिक्षा मिलती है और इसमें एक निरंतरता भी होती है। पहले से एक गलती की जाती रही है कि संगठन बनने के बाद शिक्षा का आगमन होना चाहिये। शिक्षा पहले भी होती है, चलती भी रहती है और बाद में भी होती है। यह प्रक्रिया है और एक स्थाई प्रक्रिया है और इसका संबंध मानव अस्तित्व तथा जिज्ञासा से है।''[4]

शिक्षा सामाजिक रूपान्तरण का साधन है- फ्रेरे का कहना है कि समाज में बदलाव पलक झपकते ही नहीं आ जाता हैं। समाज का आमूल परिवर्तनकारी रूपांतरण एक प्रक्रिया है। शिक्षा सामाजिक रूपांतरण के लिए किया जाने वाला नैतिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक कर्म है, जिसमें शिक्षक (क्रांतिकारी नेता) और छात्र (जनता) परस्पर संवाद और संप्रेषण करते हुए यथार्थ पर चिंतन और कर्म (आचरण) करते हैं। फ्रेरे द्वारा समर्थित शिक्षा की इस पद्धति और प्रक्रिया में शिक्षक 'छात्रों का शिक्षक' नहीं रहता और छात्र 'शिक्षक के छात्र' नहीं रहते, दोनों एक-दूसरे को शिक्षित करने वाले तथा शिक्षित होने वाले 'शिक्षक-छात्र' और 'छात्र-शिक्षक' बन जाते हैं। इस प्रकार दोनों एक-दूसरे के साथ अपना तथा समाज का रूपांतरण करते हैं।

इसका आधारभूत विचार यह है कि जिस समाज में प्रभुत्वशाली अभिजनों का एक अल्पतंत्र बहुसंख्यक जनता पर शासन करता है, वह अन्यायपूर्ण तथा उत्पीड़नकारी समाज होता है। ऐसे समाज की व्यवस्था मनुष्यों को वस्तुओं में बदल कर उन्हें अमानुषिक बनाती है, जबकि मनुष्यों का ऐतिहासिक और अस्तित्वमूलक कर्तव्य पूर्णतर मनुष्य बनना है। ऐसी व्यवस्था में उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों होते हैं। दोनों का मानुषीकरण आवश्यक है, किन्तु उत्पीड़कों का अस्तित्व चूंकि प्रभुत्व पर ही निर्भर होता है, वे प्रभुत्व को त्याग नहीं सकते बल्कि उसे कायम रखने का प्रयास करते हैं और इस प्रयास में अमानुषीकरण को और अधिक बढ़ाते हैं। अतः अपने तथा उत्पीड़कों के भी मानुषीकरण की ऐतिहासिक जिम्मेदारी फ्रेरे की दृष्टि में उत्पीड़ितों पर है, जो स्वयं को अमानुषीकरण से मुक्त करते हुए उत्पीड़कों को भी उससे मुक्त करेंगे। उत्पीड़ितों की मुक्ति सामाजिक रूपांतरण से होगी और सामाजिक रूपांतरण में शिक्षा की क्रांतिकारी भूमिका है, क्योंकि शिक्षा महज ज्ञान का लेन-देन नहीं, बल्कि ऐतिहासिक रूप से आवश्यक राजनीतिक गतिविधि तथा क्रांतिकारी सांस्कृतिक कर्म है। शिक्षित होने का मतलब उत्पीड़नकारी व्यवस्था में ही अपनी एक जगह बना लेना नहीं, बल्कि मनुष्य बनना है

और पूर्णतर मनुष्य तभी बना जा सकता है, जब अमानुषिक बनाने वाले उत्पीड़न कारी यथार्थ को बदला जाये।

फ्रेरे सामाजिक रूपान्तरण को एक आसान काम नहीं मानते। यह एक प्रकार से इतिहास का नव-निर्माण है। शिक्षा चूंकि विचारात्मक आधार रखती है, अतः इसकी दिशा मोड़ना एक और भी श्रम साध्य कार्य है। वे कहते हैं-

''अगर हम अपने समाज को वैसे ही बदल सकते जैसे हम अपने घरों के फर्नीचर को रखने की जगह बदलते हैं, तो गजब होता। परन्तु इसमें तो बस शारीरिक शक्ति की जरूरत होगी। जैसे मैंने एक कुर्सी उठायी और यहाँ से वहाँ रख दी। दस मिनट में सब कुछ बदल गया। इतिहास में ऐसा कुछ नहीं होता। इतिहास को इतिहास बनने में समय लगता है। आप इसे तुरन्त नहीं बना सकते, बल्कि समाज की जिन्दगी के सभी आयामों और दिशाओं में परिवर्तन होने लगता है। इसके बावजूद समाज की किसी ऐतिहासिक सड़क के किसी किनारे यह आसान हो सकता है। एक दूसरे किनारे पर यह कुछ कम आसान हो सकता है। शिक्षा का किनारा बदलना इतना आसान नहीं है क्योंकि वहाँ मजबूत तथा भारी विचारधारात्मक सामग्री रखी गयी है, जिसे क्रांतिकारियों तक भी पहुंचाया गया है।''[5]

फ्रेरे का मानना है कि- ऐतिहासिक रूप से समाज का रूपांतरण यांत्रिक नहीं हो सकता। यह केवल अलग दिखने या चाहने का प्रश्न नहीं है। जाहिर है, इसमें एक राजनीतिक निर्णय शामिल होता है, परन्तु इसमें परिवर्तन के लिए समय के सदुपयोग की स्पष्ट क्षमता की भी जरूरत होती है। ऐतिहासिक विकास के दौरान और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में शिक्षा दी जा सकती है परन्तु इसका एक समय होता है। समय से पहले और समय के गुजर जाने के बाद ऐसा नहीं हो सकता। फ्रेरे के मतानुसार सभी बातों का एक समय होता है।

शिक्षा मुक्ति के लिए सांस्कृतिक कार्रवाई के रूप में- फ्रेरे का अभिमत है कि यदि हमारा विकल्प मनुष्य के लिए है, तो शिक्षा मुक्ति के लिए सांस्कृतिक कार्रवाई है और इसीलिए शिक्षा जानने की क्रिया है न कि कंठस्थ करने की। इसकी जटिल पूर्णता की वजह से इस कार्य को यांत्रिक सिद्धान्त द्वारा व्याख्यायित नहीं किया जा सकता। आम तौर पर जानने की क्रिया के रूप में शिक्षा को और खास तौर पर प्रौढ़ साक्षरता को ऐसा सिद्धान्त ग्रहण नहीं कर पाता। यह सिद्धान्त, शैक्षिक व्यवहार को ऐसी जटिल तकनीकों में सीमित कर देता है, जिन्हें सहज ही निष्पक्ष मान लिया जाता है और जिनकी मदद से शैक्षिक प्रक्रिया को एक निष्प्राण कर्म और नौकरशाही की कार्रवाई के दौरान मानकीकृत कर दिया जाता है।

शैक्षिक प्रक्रिया को ज्ञान देने व ग्रहण करने अथवा व्यवहार परिवर्तन करने की किसी यांत्रिक पद्धति में परिवर्तित करने की चेष्टा शिक्षा की जीवन्त व सक्रिय प्रक्रिया को जीवन-विहीन कर देती है। नौकरशाही जिस प्रकार अन्य बातों को मानकीकृत व नियमबद्ध करती है, वैसा ही प्रयास वह शिक्षा के मामले में भी करती है। प्रौढ़ शिक्षा के सन्दर्भ में यदि इसे फ्रेरे की नज़र से देखें तो पायेंगे कि नौकरशाही शिक्षा को मुक्ति की कार्रवाई के रूप में न लेकर इसे मात्र औपचारिक तरीके से अक्षर ज्ञान देने की कार्यवाही में बदल देती है।

बैकिंग शिक्षा बनाम स्वतंत्रतावादी शिक्षा

फ्रेरे शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा के प्रतिवाद में स्वतंत्रतावादी समस्या -उठाऊ शिक्षा की अवधारणा प्रस्तुत करते हैं। इसे पूर्णतया समझने से पूर्व शिक्षा की परम्परागत बैंकिग अवधारणा पर चर्चा करना प्रासंगिक होगा।

शिक्षा की बैकिंग अवधारणा:-

फ्रेरे मानते हैं कि तीसरे विश्व में शिक्षा की भूमिका केवल सूचनाओं, विवरणों तथा वृत्तान्तों आदि को जमा करने तक ही सीमित रह गयी है। इस शिक्षा

की प्रमुख विशेषता शब्दों की निनादिता होती है न कि उनकी रूपांतरकारी शक्ति। ''चार चौके सोलह होते हैं'' ''बिहार की राजधानी पटना है।'' छात्र इन बातों को सुनता है, रटता है और यह जाने बिना इन्हें दोहराता रहता है कि 'चार चौके सोलह' का वास्तव में क्या अर्थ है। या 'बिहार की राजधानी पटना है,' में, राजधानी का असली मतलब क्या है, अर्थात बिहार के लिए पटना का और भारत के लिए बिहार का क्या अर्थ है।

शिक्षक वर्णनकर्ता के रूप में छात्रों को वर्णित वस्तु को यांत्रिक ढंग से रट लेने की ओर ले जाता है। इससे भी बुरी बात यह है कि वह छात्रों को 'पात्र' या बर्तन बना देता है, जिन्हें शिक्षक द्वारा भरा जाना होता है। जो इन पात्रों को जितना ज्यादा भर सके, वह उतना ही अच्छा शिक्षक। जो जितने ज्यादा दब्बूपन के साथ स्वयं को भरने दें, वे उतने ही अच्छे छात्र हैं।

इस प्रकार शिक्षा बैंक में पैसा जमा करने की भांति छात्रों में ज्ञानराशि जमा करने का काम बन जाती है। जिसमें शिक्षक जमाकर्ता होता है और छात्र जमादार (डिपोजिटरी) होते हैं। इसमें शिक्षक संप्रेषण व संवाद करने के बजाए विज्ञप्तियां जारी करता है। वह जिन चीजों को 'जमा करता' है छात्र उन्हें धैर्यपूर्वक ग्रहण करते हैं, रटते हैं और दोहराते हैं।

फ्रेरे ने इस प्रकार की शिक्षा-व्यवस्था को ''शिक्षा की बैंकिग अवधारणा'' के रूप में परिभाषित किया है। अंग्रेजी में जहां बैंक का अर्थ अधिकोष है, वहीं क्रिया के प्रयोग में उसका अर्थ विश्वास करना या आश्रित (अन्य पर) होना भी है। इस प्रकार कर्ता के '' स्वतन्त्र अस्तित्व'' का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है। अतः बैंकिंग यहां शिक्षा के व्यापक चरित्र को परिभाषित करती है।

बैकिंग शिक्षा में छात्रों की सक्रियता के लिए सिर्फ इतनी गुंजाइश होती है कि वे जमाओं को ग्रहण कर लें, फाइल कर लें और संभाल कर रखे रहें। इस प्रकार यह

तो सच है कि वे जिन चीजों को जमा रखते हैं, उनके संग्राहक और सूचीकार बनने का अवसर पाते हैं, लेकिन अंततः वे इस व्यवस्था में, जिसे (सर्वोत्तम शब्दों में भी) विभ्रांत व्यवस्था ही कहा जा सकता है, मनुष्य नहीं रहते और सृजनात्मकता, रूपांतरण तथा ज्ञान के अभाव में स्वयं ही फाइल होकर रह जाते हैं। फ्रेरे की दृष्टि में कारण यह है कि जिज्ञासा के बिना, चिन्तन और कर्म से युक्त आचारण के बिना, मनुष्य सचमुच मानवीय नहीं बन सकते। ज्ञान होता है अविष्कार और पुनराविष्कार करने से, उस बेचैन, अधीर सतत् और आशायुक्त जिज्ञासा से, जिसकी पूर्ति के लिए मनुष्य विश्व में, विश्व के साथ, एक-दूसरे के साथ सक्रिय होते हैं।

शिक्षा की बैकिंग अवधारणा (बैकिंग कॉनसेप्ट) में ज्ञान एक उपहार होता है, जो स्वयं को ज्ञानवान समझने वालों के द्वारा उनको दिया जाता है, जिन्हें वे नितांत अज्ञानी मानते हैं, दूसरों को परम अज्ञानी बताना उत्पीड़न की विचारधारा की विशेषता है। वह शिक्षा और ज्ञान को जिज्ञासा की प्रक्रिया नहीं मानती। शिक्षक अपने छात्रों के समक्ष स्वयं को एक आवश्यक विलोम के रूप में प्रस्तुत करता है, उन्हें परम अज्ञानी मान कर वह अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करता है। छात्र, हेगेलीय द्वंद्ववाद में वर्णित दासों की भांति, अलगाव के शिकार होने के कारण अपने अज्ञान को शिक्षक के अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करने वाला समझते हैं -लेकिन इस फर्क के साथ कि दास तो अपनी वास्तविकता को जान लेता है (कि मालिक का अस्तित्व उसके अस्तित्व पर निर्भर है) लेकिन ये छात्र अपनी इस वास्तविकता को कभी नहीं जान पाते कि वे भी शिक्षक को शिक्षित करते हैं।

बैंकीय शिक्षा समग्र रूप में उत्पीड़न को प्रतिबिंबित करने वाले निम्नलिखित रवैयों और रिवाजों के जरिए उसे बढ़ाती भी है।[6]

1. शिक्षक पढ़ाता है और छात्र पढ़ाये जाते हैं।

2. शिक्षक सब कुछ जानता है और छात्र कुछ भी नहीं जानते।

3. शिक्षक सोचता है और छात्रों के बारे में सोचा जाता है।

4. शिक्षक बोलता है और छात्र सुनते हैं, चुपचाप।

5. शिक्षक अनुशासन लागू करता है और छात्र अनुशासित होते हैं

6. शिक्षक अपनी मर्जी का मालिक है, वह अपनी मर्जी चलाता है और छात्रों को उसकी मर्जी के मुताबिक चलना पड़ता है।

7. शिक्षक कर्म करता है और छात्र उसके कर्म के जरिए सक्रिय होने के भ्रम में रहते हैं।

8. शिक्षक पाठ्यक्रम बनाता है और छात्रों को (जिनसे पाठ्यक्रम बनाते समय कोई सलाह नहीं ली जाती) वही पढ़ना पड़ता है।

9. शिक्षक अपने पेशेवर अधिकार को ज्ञान का अधिकार समझता है, स्वयं को अपने विषय का अधिकारी विद्वान समझता है और उस अधिकार को छात्रों की स्वतंत्रता के विरुद्ध इस्तेमाल करता है।

10. शिक्षक अधिगम की प्रक्रिया का कर्ता होता है और छात्र महज अधिगम की वस्तुएं।

बैकिंग शिक्षा की अन्य प्रमुख विशेषतायें अग्रलिखित हैं

मनुष्य को अनुकूलनीय व प्रबन्धकीय मानना- शिक्षा की बैंकीय अवधारणा में मनुष्यों को अनुकूलनीय और प्रबंधनीय माना जाता है। छात्र स्वयं को दी जाने वाली जितनी अधिक 'जमाओं' का संग्रह करते हैं, उतनी ही कम उनकी वह आलोचनात्मक चेतना विकसित हो पाती है, जो विश्व का रूपान्तरण करने वालों के रूप में विश्व में उनके हस्तक्षेप का परिणाम होती है। स्वयं पर थोप दी गई निष्क्रियता की भूमिका को वे जितनी अधिक पूर्णता के साथ स्वीकार करते हैं, उतनी ही सरलता के साथ वे विश्व से -वह जैसा भी है- और यथार्थ के उस विखंडित

दृष्टिकोण से, जो उनके अंदर जमा कर दिया गया होता है, स्वयं को अनुकूलित कर लेते हैं।

विवेकीकरण, आलोचनात्मक चिंतन तथा छात्रों की सृजनात्मकता को अवरूद्ध करना-

फ्रेरे का निश्चित अभिमत है कि बैंकीय शिक्षा छात्रों की सृजनात्मक शक्ति को न्यूनतम कर देती है या समाप्त कर देती है और झट से विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है। इसलिए वह उत्पीड़कों का हित -साधन करती है, जो न तो यह परवाह करते हैं कि विश्व की वास्तविक स्थिति लोगों के सामने आए और न यह चाहते हैं कि विश्व का रूपान्तरण हो। उत्पीड़क अपने 'लोकोपकारवाद' का इस्तेमाल एक लाभकारी स्थिति को बनाए रखने के लिए करते हैं। अतः वे लगभग नैसर्गिक रूप से, शिक्षा में किये जाने वाले ऐसे किसी भी प्रयोग का विरोध करते हैं, जो छात्रों की आलोचनात्मक क्षमताओं को बढ़ाये और वे यथार्थ के एकांगी दृष्टिकोण से संतुष्ट न रह कर हमेशा उन सम्बन्धों को देखने की कोशिश करें, जो एक बात को दूसरी बात से और एक समस्या को दूसरी समस्या से जोड़ते हैं।

वास्तव में उत्पीड़कों का हित, जैसा कि सिमोन द बुवा ने कहा है, इसमें होता है कि ''उत्पीड़ितों की चेतना को बदला जाए, न कि उनका उत्पीड़न करने वाली स्थिति को'' क्योंकि उत्पीड़ितों को जितना ही उस स्थिति से अनुकूलित होने की दिशा में ले जाया जाएगा, उतनी ही आसानी से उन पर प्रभुत्व जमाया और उसे बरकरार रखा जा सकेगा। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पीड़क शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा को एक पैतृकवादी सामाजिक कर्म के तंत्र के साथ इस्तेमाल करते हैं, जिसके अंदर उत्पीड़ितों को 'कल्याण प्रापक' की श्रुतिमधुर उपाधि प्राप्त होती है। इस तंत्र में उत्पीड़ितों को एक वर्ग, समुदाय अथवा आम जनता के रूप में नहीं, बल्कि निजी मामलों के रूप में देखा जाता है और उनके साथ ऐसे सीमांतीय मनुष्य का सा व्यवहार किया जाता है, जो मानो एक 'अच्छे संगठित और न्यायपूर्ण' समाज के सामान्य संगठन से विचलन करके स्वयं ही हाशिए पर चले गये हों। उत्पीड़ितों को

स्वस्थ समाज की एक विकृति माना जाता है। अतः समाज का कर्तव्य यह बताया जाता है कि वह इन 'अक्षम और आलसी' लोगों की मानसिकता को बदले और इन्हें अपने नमूनों के मुताबिक ढाल कर समायोजित करे। इस सीमांतीय लोगों को उस स्वस्थ समाज में 'संघटित करना,' 'शामिल करना' आवश्यक है, जिसका इन्होंने 'परित्याग' कर रखा है।

इस अवधारणा का विरोध करते हुए फ्रेरे कहते हैं कि सच तो यह है कि उत्पीड़ित लोग सीमांतीय अथवा हाशिए पर के लोग नही हैं। वे ऐसे मनुष्य नहीं हैं, जो समाज के बाहर रहते हों। वे हमेशा भीतर रहे हैं- उस संरचना के भीतर, जिसने उन्हें 'दूसरों के लिए जीने वाला' बना रखा है। उनकी समस्या का समाधान उत्पीड़न की संरचना में उन्हें 'संघटित' करना नहीं, बल्कि उस संरचना को बदलना है, ताकि वे 'स्वाधीन प्राणी' बन सकें। निश्चय ही ऐसा बदलाव उत्पीड़कों के प्रयोजनों की जड़ खोदने वाला होगा। यही कारण है कि वे छात्रों के विवेकीकरण से डरते हैं और इस खतरे को टालने के लिए शिक्षा की बैंकीय अवधारणा का इस्तेमाल करते हैं।

फ्रेरे एक उदाहरण के द्वारा इस बात को स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि प्रौढ़ शिक्षा में बैंकीय दृष्टिकोण छात्रों को यह कभी नहीं बतायेगा कि वे यथार्थ पर आलोचनात्मक ढंग से विचार करें। इसके बजाए वह ऐसे अनावश्यक प्रश्न उठायेगा कि 'रोजर ने बकरी को हरी घास डाली' या 'रोजर ने खरगोश को हरी घास डाली' और आग्रह करेगा कि छात्र इस बात को जान लें और याद कर लें। बैंकीय दृष्टि का 'मानववाद' मनुष्यों को स्वचालित यंत्र बनाने की कोशिश पर परदा डालता है-जो पूर्णतर मनुष्य बनने के उनके सत्तामूलक प्रयास का ही निषेध है।

अमानुषीकरण की प्रक्रिया है- बैंकीय दृष्टिकोण का उपयोग करने वाले लोग जान-बूझ कर या अनजाने ही (अनजाने इसलिए कि ऐसे असंख्य बैंक -क्लर्कनुमा शिक्षक होते हैं, जो यह नहीं समझते कि वे जो कुछ कर रहे हैं, वह केवल अमानुषिक बनाने वाला काम है) यह देखना भूल जाते हैं कि उनकी 'जमाओं' में

यथार्थ के बारे में अंतर्विरोध भरे हुए हैं। लेकिन ये अंतर्विरोध छात्रों को, जो अभी तक निष्क्रिय थे, देर सबेर स्वयं को पालतू बनाये जाने के विरुद्ध और यथार्थ को अपने वश में करने की दिशा में जे ला सकते हैं। अपने अस्तित्वगत अनुभव से वे इस सत्य को खोज सकते हैं कि उनके जीवन के वर्तमान ढंग और उनके पूर्णतर मनुष्य बनने के प्रयास में कभी सामंजस्य नहीं हो सकता। वे यथार्थ से अपने सम्बन्धों के जरिए यह देख सकते हैं कि यथार्थ वास्तव में एक प्रक्रिया है, जो निरन्तर बदलती रहती है। फ्रेरे मानव चेतना में विश्वास रखते हुए दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि मनुष्य अन्वेषक हैं और उनका सत्तामूलक उद्देश्य मानुषीकरण है, अतः आज नहीं तो कल वे उस अंतर्विरोध को जान सकते हैं, जिसमें बैंकीय शिक्षा उन्हें बनाये रखना चाहती है, और तब वे अपनी मुक्ति के संघर्ष में संलग्न हो सकते हैं।

मनुष्य को विश्व से पृथक मानना:- फ्रेरे के अनुसार बैंकीय अवधारणा में यह मान्यता अंतर्निहित है कि मनुष्य और विश्व अलग-अलग हैं: मनुष्य विश्व में है, विश्व के या अन्य मनुष्यों के साथ नहीं। मनुष्य केवल दर्शक है, पुनर्सजक नहीं। इस दृष्टि के अनुसार मनुष्य सचेत प्राणी नहीं, बल्कि एक चेतना का स्वामी है, एक खाली 'मस्तिष्क' है, जो निष्क्रिय रह कर बाह्य विश्व से आने वाली यथार्थ की 'जमाओं' को ग्रहण करता रहता है। उदाहरण देते हुए वे कहते हैं कि ''मेरी मेज, मेरी पुस्तक, मेरा कॉफी का प्याला, आदि जो सभी वस्तुएं मेरे सामने हैं- मुझे घेरे रहने वाले विश्व के टुकड़ों के रूप में -ठीक वैसे ही मेरे 'अंदर' होगीं, जैसे इस समय मैं अपने अध्ययन कक्ष के अंदर हूँ यह दृष्टि 'चेतना में प्रवेश्य' और 'चेतना में प्रविष्ट' के बची कोई भेद नहीं करती। लेकिन यह भेद तात्विक है और अवश्य किया जाना चाहिए। जो वस्तुएं मुझे घेरे हुए हैं, वे महज मेरी चेतना में प्रवेश हैं, उसके भीतर स्थित नहीं हैं। मुझे उनका भान है, लेकिन वे मेरे भीतर नहीं है।''[7]

शिक्षा व्यवस्था छात्रों को साँचों में ढालने की दृष्टि से निर्मित- बैंकीय शिक्षा व्यवस्था इस ढंग से निर्मित की जाती है कि जिसके द्वारा मनुष्य की चेतना को अवरुद्ध कर

उसे वस्तु की भांति एक खास सांचे में ढाल दिया जाये। चेतना की बैंकीय धारणा का तर्क इस निष्कर्ष पर पहुँचाना है कि शिक्षक की भूमिका विश्व को छात्रों के भीतर 'घुसाने' के तरीके का नियमन करने की है। उसका काम उस प्रक्रिया को संगठित करना है, जो पहले से स्वतः परिवर्तित ढंग से चल रही है। इस प्रक्रिया में शिक्षक सूचना की उन 'जमाओं' से, जिन्हें वह सच्चा ज्ञान समझता है, छात्रों को भरता रहता है। इस प्रकार मनुष्य चूंकि विश्व को निष्क्रिय चीजों के रूप में 'ग्रहण करते हैं, इसलिए शिक्षा उन्हें और ज्यादा निष्क्रिय बनाती है तथा विश्व से अनुकूलित करती है। शिक्षित मनुष्य अनुकूलित मनुष्य होता है, क्योंकि वह विश्व के लिए अधिक 'फिट' होता है। फ्रेरे के अनुसार यह अवधारणा व्यवहार में आने पर उत्पीड़कों के प्रयोजनों के लिए बड़े काम की होती है, क्योंकि उनका सुख -चैन इसी पर निर्भर करता है कि उनके द्वारा निर्मित विश्व में मनुष्य कितनी अच्छी तरह 'फिट' होते हैं और उसके बारे में कितने कम सवाल उठाते हैं।

बैंकीय शिक्षा छात्रों को निर्देशों का पालनकर्ता बनाती है और यथा संभव तरीकों से उनकी चेतना को, चिंतन शक्ति को कुंद कर देती है। प्रभुत्वशाली अल्पसंख्यक वर्ग अपने प्रयोजनों को पूरा करने का निर्देश बहुसंख्यक लोगों को देता है। और इस प्रकार उन्हें अपने प्रयोजनों को पूरा करने के अधिकार से वंचित कर देता है। बहुसंख्यक लोग स्वयं को उसके प्रयोजनों से जितना अधिक अनुकूलित करते हैं, उतनी ही अधिक आसानी से अल्पसंख्यक शासक वर्ग उन्हें निर्देश देता रह सकता है। बैंकीय शिक्षा का सिद्धान्त और व्यवहार उसके इस उद्देश्य को बड़ी निपुणता से पूरा करता है। शब्दाडंबर वाले पाठ, पाठ्यक्रमों का निहित स्वार्थों की दृष्टि से ऊलजलूल निर्धारण, निहित स्वार्थो की दृष्टि से 'ज्ञान' के मूल्यांकन की पद्धतियां, शिक्षक और छात्र के बीच की दूरी, परीक्षा पास करने से सम्बन्धित मापदंड - अर्थात इस तैयारशुदा दृष्टि की हर चीज चिंतन को अनावश्यक बनाती है।

जीवन का निषेध करने वाली प्रक्रिया- बैंकीय शिक्षा चूंकि मनुष्यों को वस्तुओं के रूप में मान कर चलने की मिथ्या समझ से शुरू होती है, इसलिए वह 'जीवन-प्रेम' के विकास को बढ़ावा नहीं देती, बल्कि इसकी विपरीत चीज 'शव-प्रेम' पैदा करती है। फ्रॉम ने 'दि हार्ट ऑफ मैन' में कहा है कि जीवन की विशेषता है संरचनात्मक और प्रकार्यात्मक ढंग से होने वाली वृद्धि लेकिन शव से प्रेम करने वाला व्यक्ति उस सबसे प्रेम करता है, जिसमें वृद्धि नहीं होती, जो यांत्रिक होता है। शव से प्रेम करने वाला व्यक्ति सजीव को निर्जीव में बदलने की इच्छा से, जीवन को यांत्रिक ढंग से देखने की इच्छा से प्रेरित होता है, जैसे तमाम जीवित मनुष्य चीजें हों। उसके लिए मूल्य अनुभव का नहीं, स्मृति का होता है, अस्तित्व का नहीं, स्वामित्व का होता है। शव से प्रेम करने वाला व्यक्ति किसी वस्तु से -चाहे वह फूल हो या मनुष्य - अपना सम्बन्ध तभी जोड़ पाता है, जब वह उसका स्वामी हो। अतः उसके स्वामित्व के लिए पैदा होने वाला खतरा स्वयं उसी के लिए खतरा बन जाता है। स्वामित्व समाप्त हो जाये तो विश्व से उसका संपर्क समाप्त हो जाता है। उसे नियंत्रण से प्रेम होता है, और नियंत्रण करने की क्रिया में वह जीवन की हत्या करता है।

फ्रेरे कहते हैं कि उत्पीड़न-अर्थात अत्यधिक नियंत्रण-शव से प्रेम करना है। वह जीवन-प्रेम से नही बल्कि शव -प्रेम से प्रेरित होता है। शिक्षा की बैंकीय अवधारणा भी, जो उत्पीड़न का हित साधन करती है, शव प्रेमी होती है। चेतना के यांत्रिकतावादी, जड़ प्रकृतवादी, और हवाई दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण वह छात्रों को मात्र ग्रहण करने वाली वस्तुओं में बदल देती है। वह चिंतन और कर्म को नियंत्रित करने का प्रयास करती है, मनुष्यों को विश्व से समझौता करने के लिए प्रेरित करती है, और उनकी सृजनात्मक शक्ति को अवरुद्ध करती है।[8]

फ्रेरे के मत में, वास्तव में बैंकिंग -सिद्धान्त पर आधारित शिक्षा का उद्देश्य उत्पीड़कों की व्यवस्था एवं मूल्यों को उत्पीड़ितों के बीच सुदृढ़ बनाना है। वे मानते हैं कि विद्यार्थी की रचनात्मक शक्ति को कम से कम करने या उसे समाप्त करने तथा

उनके भोलेपन या सहज विश्वसनीयता को बढ़ाने की जो क्षमता बैंकिंग-शिक्षा में है, उससे उत्पीड़िकों के हितों की पूर्ति की जाती है। इन उत्पीड़कों को न तो इस बात की चिंता है कि यह दुनिया खुले रूप में सामने आये और न ही वे इसे बदली हुई देखना चाहते हैं। उत्पीड़क अपने मानवतावाद का इस्तेमाल भी अपनी लाभदायक स्थिति को सुरक्षित करने में करते हैं। इसलिए जब शिक्षा के क्षेत्र में कोई ऐसा प्रयोग किया जाता हे, जो मनुष्य में विवेचनात्मक ऊर्जा को उद्दीप्त करता है, तो उत्पीड़क आदतन उसका विरोध करते हैं। क्योंकि इस प्रकार का प्रयोग वास्तविकता के आंशिक पक्ष तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि वह एक बिन्दु से दूसरे बिन्दु तक, एक समस्या से दूसरी समस्या के बीच सम्बन्ध सूत्रों की भी खोज करता है।

छात्रों में अन्धानुकरण व प्रभुवर्ग पर सहज विश्वास करने की प्रवृत्ति को बढ़ावाः

प्रभुत्व जमाने और कायम रखने के काम आने वाली शिक्षा छात्रों के अंदर प्रभु वर्ग की बातों पर झट से विश्वास कर लेने की प्रवृत्ति को बढ़ाती है, जिसका विचाराधारात्मक उद्देश्य (जो शिक्षकों को अक्सर दिखाई नहीं देता) यह होता है कि छात्रों को उत्पीड़न की दुनिया के अनुकूल बनना सिखाया जाये। फ्रेरे के द्वारा यह आरोप इस भोली आशा से नहीं लगाया जा रहा है कि महज इतने से ही प्रभुत्वशाली अभिजन अपने इस व्यवहार को छोड़ देंगे। इसका उद्देश्य सच्चे मानववादियों का ध्यान इस तथ्य की ओर खींचना है कि वे मुक्ति के प्रयास में बैंकीय शिक्षा की पद्धतियों को इस्तेमाल नहीं कर सकते, क्योंकि उसकी पद्धतियां उनके इस प्रयास का ही निषेध करने वाली होती हैं। कोई क्रान्तिकारी समाज भी उत्पीड़क समाज की विरासत इन पद्धतियों को स्वीकार नहीं कर सकता। जो क्रांतिकारी समाज बैंकीय शिक्षा को अपनाता है, वह या तो दिग्भ्रमित समाज है, या मनुष्यों पर भरोसा न करने वाला समाज। दोनों ही स्थितियों में ऐसे समाज पर प्रतिक्रिया के प्रेत का खतरा मँडराता रहता है।

फ्रेरे इसे दुर्भाग्य मानते हैं कि मुक्ति का उद्देश्य लेकर चलने वाले लोग स्वयं भी उस वातावरण से घिरे रहते हैं और प्रभावित होते हैं, जो बैंकीय अवधारणा को उत्पन्न करता है। फ्रेरे का मानना है कि उन्हें अक्सर इसके वास्तविक अर्थ का या इसकी अमानुषीकरणकारी शक्ति का बोध नहीं होता। अतः वे विरोधाभासी ढंग से, अलगाव के इस औजार का इस्तेमाल उस चीज के लिए करते हैं, जिसे वे मुक्ति का प्रयास समझते हैं। सच तो यह है कि कुछ 'क्रान्तिकारी' बैंकीय शिक्षा को चुनौती देने वालों को भोले, स्वप्नजीवी और यहां तक कि प्रतिक्रियावादी भी घोषित कर देते हैं। लेकिन मनुष्यों की मुक्ति उन्हें अलगाव का शिकार बना कर नहीं हो सकती। सच्ची मुक्ति -जो मानुषीकरण की प्रक्रिया है-मनुष्यों में की जाने वाली एक और 'जमा' नहीं है। मुक्ति एक आचरण है, मनुष्यों द्वारा अपने विश्व का रूपांतरण करने के लिए उस पर किया जाने वाला चिंतन और कर्म। फ्रेरे के अनुसार जो लोग सचमुच मुक्ति से प्रतिबद्ध हैं, वे न तो चेतना की उस यांत्रिक अवधारणा को स्वीकार कर सकते हैं, जिसके अनुसार चेतना एक खाली बर्तन है जिसे भरा जाना है, और न वे मुक्ति के नाम पर प्रभुत्व की पद्धतियों (प्रचार, नारों, अर्थात 'जमाओं') को अपना सकते हैं।

प्रसिद्ध शिक्षा -शास्त्री इवान इलिच[9] भी वर्तमान शिक्षा-पद्धति की निरर्थकता के संदर्भ में फ्रेरे से सहमत हैं। उनके अनुभव भी लैटिन देशों की जमीन से जुड़े हैं, तथापि फ्रेरे की भांति इलिच वर्ग-अन्तर्विरोधों के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा की भूमिका का विश्लेषण नहीं करते। परन्तु इनता अवश्य मानते हैं कि वर्तमान शिक्षा -केन्द्र, जो कि उपभोक्ता संस्कृति के शिकार हैं, मानव स्वतंत्रता के मार्ग में बाधक हैं। वे यह भी स्वीकारते हैं कि " वर्तमान विश्वविद्यालय विरोध का विशेषाधिकार भी उन्हीं लोगों को देता है जो परखे जा चुके हैं तथा ठोस धन-अर्जक या सत्ताधारी हैं। "शिक्षा की बैंकिंग अवधारणा" के स्थान पर वे शिक्षा के संस्थानिकीकरण, विभेदीकरण, उपभोक्ताकरण आदि के माध्यम से उसकी गतिहीनता व्यक्त करते हैं। उनके शब्दों

में जिस प्राणी की स्कूलों में आवश्यकता एक ''ग्राहक'' के रूप में है, उसके पास न तो कोई स्वायतत्ता है, और न ही स्वयं विकसित होने के लिए कोई प्रेरणा। यहां वे फ्रेरे के कर्ता एवं पात्र (शिक्षक एवं विद्यार्थी) के पूर्व नियोजित एवं पूर्व नियन्त्रित पारस्परिक सम्बन्ध के निष्कर्ष से सहमत दिखाई देते हैं। फ्रेरे के अनुभवों से सहमत होते हुए वे मनुष्य के ''विवेचनात्मक एव सृजनात्मक साधनों को मुक्त कराने की आवाज उठाते हैं। शिक्षा की बैकिंग अवधारणा ज्यां पॉल सार्त्र द्वारा उल्लिखित ज्ञान की 'पाचकवादी अवधारणा' के समान है, जिसमें ज्ञान को निरक्षरों की 'मानसिक खुराक' या 'आत्मा का भोजन' माना जाता है तथा यह ज्ञान रूपी भोजन उन्हें दूसरों के द्वारा दिया जाता है। निरक्षरों का कार्य उसे 'खाना व पचाना है। 'अक्षरों के भूखे व 'शब्दों के प्यासे' अनपढ़ों की निरक्षरता के रोग का उपचार करने हेतु उन्हें शब्दों का भोजन दिया जाता है और शैक्षिक कुपोषण से उनकी रक्षा की जाती है। उन्हें क्या भोजन दिया जाये यह भी डाक्टरों (राजनीतिज्ञों, शिक्षकों, विशेषज्ञों) द्वारा तय किया जाता है। देखा जाता है कि साक्षरता कार्यक्रमों की विषयवस्तु व प्रक्रिया इसी पोषणवादी दृष्टिकोण पर आधारित होती है।

स्वतन्त्रतावादी समस्या उठाऊ शिक्षा :-

फ्रेरे दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि जो लोग सचमुच प्रतिबद्ध हैं, उन्हें शिक्षा की बैंकीय अवधारणा को अवश्य खारिज करना चाहिए और उसे उसकी संपूर्णता में खारिज करना चाहिए। इसकी जगह उन्हें इस अवधारणा को अपनाना चाहिए कि मनुष्य सचेत प्राणी है और चेतना विश्व को समझने तथा बदलने की चेतना है। उनके लिए यह निहायत जरूरी है कि वे 'जमा' करने वाले शैक्षिक उद्‌देश्य को त्यागें और उसकी जगह मनुष्यों की समस्याओं को विश्व से उनके संबंधों की समस्याओं के रूप में उठाना ही शिक्षा का उद्‌देश्य मानें। 'समस्या-उठाऊ' शिक्षा चेतना के सार संकल्पशीलता को स्वीकार करते हुए विज्ञप्तियों को खारिज करती है और संप्रेषण का मूर्त रूप होती है। वह चेतना की इस विशिष्ट विशेषता का प्रतीक

है कि चेतना केवल वस्तुओं की बाह्य चेतना नही होती, बल्कि जास्परीय विभाजन के रूप में स्वयं अपनी भी चेतना होती है - अर्थात चेतना की चेतना ।

स्वतंत्रता का व्यवहार करने वाली शिक्षा प्रभुत्व का व्यवहार करने वाली शिक्षा के विपरीत मनुष्य को अमूर्त, अलग-थलग, अकेला और विश्व से असंपृक्त मानने से इनकार करती है। वह विश्व को मनुष्यों से अलग कोई और यथार्थ मानने से भी इनकार करती है। प्रामाणिक चिंतन न तो मनुष्य को अमूर्त समझता है, न ही विश्व को मनुष्यों से रहित समझता है। वह मनुष्य को विश्व से उनके सम्बन्धों में समझता है। इन संबंधों मे चेतना और विश्व, दोनों सहवर्ती होते हैं। चेतना न तो विश्व की पूर्ववर्ती होती है, न ही उसका अनुसरण करती है। सार्त्र ने लिखा है कि जब व्यक्ति की चेतना सुषुप्त अवस्था में होती है तो उसके लिए बाहरी दुनिया भी सोई होती है। इस तरह चेतना से अलग होकर भी बाहरी दुनिया उससे जुड़ी है। अपनी बात को स्पष्ट करने के लिए फ्रेरे एक घटना का उल्लेख करते हुये बताते हैं कि - चिली में एक संस्कृति मण्डल में संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा पर चर्चा (एक कोडीकरण के आधार पर) हो रही थी। चर्चा के बीच में ही एक किसान, जो बैंकीय प्रतिमानों के अनुसार परम अज्ञानी था, बोला, ''अब मेरी समझ में आया कि मनुष्य के बिना कोई विश्व नही।''जब शिक्षक ने इसके जवाब में कहा कि ''तर्क के लिए, मान लो, पृथ्वी के सभी मनुष्य मर जाएं, लेकिन पृथ्वी बची रहे, तमाम पेड़ पौधे, पशु-पक्षी, नदियां, समुद्र, तारे आदि बचे रहें तो क्या यह सब विश्व नही होगा?'' किसान ने जोर देकर कहा, ''अरे नहीं तब कोई यह कहने वाला ही नही होगा कि यह विश्व है।''[10]

फ्रेरे स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि किसान यह कहना चाहता था कि उस समय विश्व की चेतना नहीं होगी, जिसमें यह बात अनिवार्य रूप से शामिल है कि तब चेतना का विश्व भी नही होगा। 'मैं' का अस्तित्व ''मैं नहीं'' के अस्तित्व के बिना संभव नही। बदले में ''मैं नहीं'' का अस्तित्व भी 'मैं' के अस्तित्व पर निर्भर

है। विश्व, जो चेतना को अस्तित्व में लाता है, उसी चेतना का विश्व हो जाता है। सार्त्र की इस बात को वे ठीक मानते हैं कि : जब व्यक्ति की चेतना सुषुप्त अवस्था में होती है तो उसके लिए दुनिया भी सोई हुई होती है।

फ्रेरे का मानना है कि मनुष्य स्वयं पर और साथ ही विश्व पर विचार करते हुए जब अपने बोध की परिधि का विस्तार करते हैं, वे उन प्रपंचों को भी देखने लगते हैं, जो पहले उनकी आंखों से ओझल रहते थे। उनके अनुसार वह, जो वस्तुपरक रूप में मौजूद था, लेकिन गहरे अर्थों में जिसका बोध नहीं किया गया था (यदि सचमुच कोई बोध किया भी गया था तो), अब एक समस्या का रूप लेकर, और इसलिए एक चुनौती बन कर 'अलग से दिखाई पड़ने लगता है। इस प्रकार मनुष्य अपनी 'पार्श्व अभिज्ञा' में से उसके तत्वों को अलग करके देखने लगते हैं और उन पर विचार करने लगते हैं। ये तत्व अब मनुष्य के विचार की वस्तु बन जाते हैं और इस प्रकार उनके कर्म तथा संज्ञान की वस्तु बन जाते हैं। स्वतंत्रतावादी शिक्षा का उद्देश्य शिक्षक और छात्र के बीच सामंजस्य उत्पन्न करना होता है। शिक्षा का आरंभ शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध का समाधान करते हुए ही होना चाहिए और यह तभी हो सकता है, जब अंतर्विरोध के दोनों ध्रुवों को मिला दिया जाए, ताकि दोनों एक ही साथ शिक्षक और छात्र बन जाएं। समस्या उठाऊ शिक्षा अग्रलिखित विशेषताएँ रखती है-

आलोचनात्मक बोध शक्ति का विकास - फ्रेरे जिस समस्या उठाऊ शिक्षा पर बल देते हैं उसमें मनुष्य यह देखने वाली अपनी आलोचनात्मक बोध-शक्ति का विकास करते हैं कि उस विश्व में, जिसमें और जिसके साथ वे स्वयं को पाते हैं, वे कैसे जीते हैं। वे विश्व को एक स्थिर यथार्थ के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे यथार्थ के रूप में देखने लगते हैं, जो प्रक्रिया में है, जिसका रूपांतरण हो रहा है। हालांकि मनुष्य और विश्व के द्वंद्वात्मक संबंध इस पर निर्भर नही करते कि उनका बोध किस प्रकार किया जा रहा है (या उनका कोई बोध किया भी जा रहा है या नहीं), क्योंकि वे इस

बोध से स्वतंत्र होते है। लेकिन फ्रेरे की दृष्टि में यह भी सच है कि मनुष्य कर्म का जो रूप अपनाते हैं, वह बड़ी हद तक इस पर निर्भर होता है कि वे विश्व में स्वयं को किस प्रकार देखते हैं। अतः शिक्षक छात्र और छात्र-शिक्षक एक ही साथ स्वयं पर और विश्व पर विचार करते हैं।

संवाद सृजनात्मक रूपान्तरण व मानुषीकरण की प्रक्रिया - फ्रेरे के चिन्तन में यहां एक बार फिर, शिक्षा की वे दोनों अवधारणाएं और उनके व्यवहार जिनका विश्लेषण किया जा रहा है, आपस में टकराते हैं। बैंकीय शिक्षा यथार्थ के मिथकीकरण द्वारा उन तथ्यों को छिपाने की कोशिश करती है, जिनसे पता चलता है कि मनुष्य विश्व में कैसे जीते हैं, जबकि समस्या उठाऊ शिक्षा का उद्देश्य मिथकों को हटा कर यथार्थ को सामने लाना है। बैंकीय शिक्षा संवाद को रोकती है, जबकि समस्या उठाऊ शिक्षा संज्ञान के कर्म के लिए, जो यथार्थ का अनावरण करता है, संवाद को अपरिहार्य मानती है। बैंकीय शिक्षा छात्रों को सहायता की वस्तु मानती है, जबकि समस्या उठाऊ शिक्षा उन्हें आलोचनात्मक ढंग से सोचने वाला बनाती है। बैंकीय शिक्षा सृजनात्मकता को निरुद्ध करती है तथा चेतना का विश्व से अलगाव करके चेतना की संकल्पशीलता को पालतू बनाती है (हालांकि वह उसे पूरी तरह नष्ट नही कर सकती) और ऐसा करके वह मनुष्यों के पूर्णतर मनुष्य बनने के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक कर्तव्य को नकारती है। समस्या उठाऊ शिक्षा सृजनात्मकता को अपना आधार बनाती है तथा यथार्थ पर सच्चा चिंतन और कर्म करने के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार मनुष्यों के पूर्णतर मनुष्य बनने के कर्तव्य में वह सहायक होती है। फ्रेरे के अनुसार कारण यह है कि मनुष्य जिज्ञासा और सृजनात्मक रूपांतरण मे संलग्न होने पर ही प्रामाणिक मनुष्य बन सकते हैं। निष्कर्ष रूप में बैंकीय सिद्धान्त ओर व्यवहार जड़ता तथा स्थिरता की शक्तियों के रूप में मनुष्यों को ऐतिहासिक प्राणी मानने में असफल रहते हैं जबकि समस्या उठाऊ सिद्धान्त और व्यवहार मनुष्य की ऐतिहासिकता को अपना प्रस्थान बिन्दु मानते हैं।

सतत प्रक्रिया के रूप में - समस्या उठाऊ शिक्षा मनुष्यों को ऐसे प्राणी मानती है जो संभवन की प्रक्रिया में हैं। अर्थात वे अभी अधूरे हैं, अपूर्ण हैं और ऐसे यथार्थ के अंदर तथा उसके साथ रहते हैं, जो उन्हीं की तरह अधूरा और संभव होता हुआ यथार्थ है। फ्रेरे स्वीकार करते हैं कि यह सच है कि अन्य प्राणी भी अधूरे हैं लेकिन वे ऐतिहासिक नहीं हैं। मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी हैं, जो अपने अधूरेपन को जानते हैं, अपनी अपूर्णता को समझते हैं । शिक्षा जो नितांत मानवीय चीज है, इस अपूर्णता और इस अभिज्ञा से ही आरंभ होती है। फ्रेरे इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि मनुष्यों के अधूरे चरित्र और यथार्थ के रूपांतरणशील चरित्र के कारण ही यह आवश्यक होता है कि शिक्षा सतत् चलती रहने वाली एक गतिविधि हो।

क्रांतिकारी भविष्यता के रूप में - इस प्रकार शिक्षा आचरण (व्यवहार में) में निरंतर पुननिर्मित होती है। स्वत्व के लिए उसका संभवन अनिवार्य है। समस्या उठाऊ शिक्षा जो न तो सभ्य शिष्ट वर्तमान को स्वीकार करती है, न पूर्वनिश्चित भविष्य को - स्वयं को गतिशील वर्तमान से जोड़ती है और क्रान्तिकारी बन जाती है।

फ्रेरे द्वारा प्रतिपादित समस्या उठाऊ शिक्षा क्रांतिकारी भविष्यता है। अतः यह भविष्य सूचक है। और साथ ही आशावादी है। मनुष्य की ऐतिहासिक प्रकृति से मेल खाती है। यह इस बात की अभिपुष्टि करती है कि मनुष्य स्वयं के पार जाते हैं, आगे देखते हैं और आगे बढ़ते हैं। जड़ता उनके लिए मृत्यु के समान है। अतीत की ओर देखना उनके लिए यह समझने का साधन है कि वे क्या हैं और कौन हैं, ताकि इसे अधिक स्पष्टता के साथ समझ कर वे और ज्यादा समझदारी के साथ भविष्य का निर्माण कर सकें। अतः यह शिक्षा उस आंदोलन से अपना तादात्म्य कायम करती है जिसमें मनुष्य अपने अधूरेपन को जानने वाले और उसे दूर करने का प्रयास करने वाले प्राणियों के रूप में संलग्न होते हैं। वह एक ऐतिहासिक आंदोलन होता है,

जिसका एक प्रस्थान बिन्दु होता है, जिसके कर्ता होते हैं और जिसका एक उद्देश्य होता है।

फ्रेरे के अनुसार इस आंदोलन का प्रस्थान बिन्दु स्वयं मनुष्य होते हैं। लेकिन मनुष्य चूंकि विश्व से अलग नही रहते, यथार्थ से अलग नही रहते, इसलिए इस आंदोलन का आरंभ मनुष्य-विश्व संबंध से होना आवश्यक है। तदनुसार, इसका प्रस्थान बिन्दु हमेशा 'आज और अभी' के मनुष्य होने चाहिएँ, क्योंकि उनसे ही वह स्थिति बनती है, जिसमें वे "डूबे हुए" होते हैं, जिसमें से उन्हें ऊपर उठना होता है और जिसमें वे हस्तपेक्ष करते हैं। इस स्थिति से आरंभ करके ही जो यह भी निश्चित करती है कि वे इसका बोध कैसे करते हैं - वे आगे बढ़ना शुरू करते हैं। उनकी यह शुरूआत प्रामाणिक हो, इसके लिए फ्रेरे आवश्यक मानते हैं कि वे अपनी दशा को नियतिबद्ध और अपरिवर्तनीय दशा के रूप में न देखकर, बल्कि स्वयं को सीमित करने वाली दशा के रूप में ही देखें- और उसे एक चुनौती के रूप में स्वीकार करें।

विवेकपूर्ण प्रगतिशीलता को फ्रेरे क्रांतिकारिता की एक आवश्यक शर्त मानते हैं। इसके अर्थ को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं -

"युवा पीढ़ी का ध्यान इस ओर आकृष्ट करना आवश्यक है कि प्रगतिशील होने का मतलब भोलापन नहीं है। बल्कि इसके लिए कुछ निर्णय लेने होते हैं और तब जाकर क्रांति को बचाया जा सकता है। दूसरी ओर प्रगतिशील होने का मतलब जनता से गहरा संबंध स्थापित करना है, लोगों के विश्वास का सम्मान करना है, लोगों के सम्पर्क में रहना है। जनशिक्षा को जनता की भाषा में प्रस्तुत करना ही प्रगतिशीलता है। नया ज्ञान निर्मित करने के लिए और जनता के ज्ञान का स्तर जांचने के लिए यह सब आवश्यक है। यह आदर्शवाद नहीं है, यह निरंतरता है। यही क्रांतिकारी प्रक्रिया है।"[11]

मानववादी तथा मुक्तिवादी आचरण के रूप में- फ्रेरे के अनुसार जहाँ बैंकीय पद्धति प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से मनुष्यों को अपनी स्थिति के प्रति भाग्यवादी बनाती है, वहां समस्या उठाऊ पद्धति उसी स्थिति को उनके सामने एक समस्या के रूप में प्रस्तुत करती है। ज्यों ही उनकी स्थिति उनके संज्ञान (बोध) की वस्तु बनने लगती है, त्यों ही उन्हें भाग्यवादी बनाने वाला भोला या जादुई किस्म का बोध दूर होने लगता है और यथार्थ का ऐसा बोध उसकी जगह लेने लगता है, जो यथार्थ की ही भांति स्वयं अपने को भी जानने में समर्थ होता है और इस प्रकार यह बोध यथार्थ के प्रति आलोचनात्मक ढंग से वस्तुपरक हो सकता है।

फ्रेरे को विश्वास है कि अपनी स्थिति की गहरी चेतना उस स्थिति को ऐसे ऐतिहासिक यथार्थ के रूप में समझने में मनुष्यों को समर्थ बनाती है, जिसका रूपांतरण हो सकता है। इस बोध के कारण आत्मसमर्पण की भावना की जगह उनमें रूपांतरण तथा अन्वेषण की प्रेरणा उत्पन्न होती है। उनको महसूस होता है कि इस पर उनका नियंत्रण है। यदि मनुष्य ऐतिहासिक प्राणी के रूप में अन्य मनुष्यों के साथ अन्वेषण के आंदोलन में संलग्न हो तो, और वह आंदोलन उनके नियंत्रण में न हो, तो यह उनकी मनुष्यता के विरुद्ध होगा (और है) ऐसी कोई भी स्थिति जिसमें कुछ मनुष्य दूसरे मनुष्यों को अन्वेषण की प्रक्रिया में संलग्न होने से रोकते हों, हिंसा की स्थिति है। इसमें यह महत्वपूर्ण नहीं है कि कौन से साधन इस्तेमाल किए जाते हैं। महत्वपूर्ण यह है कि मनुष्यों को अपने निर्णय स्वयं लेने की क्षमता से वंचित कर देना उन्हें वस्तुओं में बदल देना है और फ्रेरे इसे हिंसा मानते हैं।

अन्वेषण के इस आंदोलन का लक्ष्य फ्रेरे के मतानुसार मानुषीकरण होना चाहिए, जो मनुष्य का ऐतिहासिक कर्तव्य है लेकिन पूर्ण मनुष्यता प्राप्त करने का प्रयास अकेले अकेले या व्यक्तिवादी ढंग से नहीं किया जा सकता। इसलिए उत्पीड़कों और उत्पीड़ितों के शत्रुतापूर्ण संबंधों में यह प्रयास सफल नहीं हो सकता। कोई भी तब तक प्रामाणिक रूप से मानवीय नहीं हो सकता, जब तक वह दूसरों को

मनुष्य बनने से रोकता है। व्यक्तिवादी ढंग से अधिक मानवीय बनने का मतलब है स्वार्थपूर्ण ढंग से अधिक का स्वामी बनना, जो अमानुषीकरण का ही एक रूप है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मानवीय वही हो सकता है, जिसके पास कुछ न हो। मानवीय होने के लिए मनुष्यों को बहुत कुछ का स्वामी होना चाहिए, लेकिन इसीलिए ऐसा नही होना चाहिए कि कुछ लोगों को स्वामित्व दूसरों के स्वामित्व में बाधक बने। फ्रेरे कहते हैं कि- ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ लोग जो अधिक के स्वामी हैं, बहुत से लोगों को कुचलने की शक्ति को बढ़ाने के लिए अपने स्वामित्व को बढ़ाएं और दूसरों के स्वामित्व में बाधक बनें।

समस्या उठाऊ शिक्षा एक मानववादी तथा मुक्तिवादी आचरण के रूप में इस बात को आधारभूत मान कर चलती है कि प्रभुत्व के अंतर्गत दबे कुचले मनुष्यों को अपनी मुक्ति के लिए अवश्य लड़ना चाहिए । इसी उद्देश्य से यह शिक्षा शिक्षकों और छात्रों को इस योग्य बनाती है कि वे अधिकारवाद और अलगाव पैदा करने वाले बुद्धिवाद पर विजय पाकर शैक्षिक प्रक्रिया के कर्ता बनें। यह शिक्षा मनुष्यों को इस योग्य भी बनाती है कि वे यथार्थ के अपने मिथ्या बोध पर विजय पाएँ। इस शिक्षा के कारण विश्व प्रवंचनापूर्ण शब्दों में वर्णन करने की वस्तु नही रह जाता बल्कि मनुष्यों के उस रूपांतरकारी कर्म की वस्तु बन जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उनका मानुषीकरण होता है।

यह क्रांति के साथ-साथ चलती है- फ्रेरे सचेत करते हैं कि- समस्या उठाऊ शिक्षा उत्पीड़कों का हित साधन नहीं करती। वह ऐसा कर ही नहीं सकती। कोई उत्पीड़नकारी व्यवस्था इसकी इजाजत नही दे सकती कि उत्पीड़ित लोग पूछने लगें ऐसा क्यों? इस शिक्षा को व्यवस्थित रूप से तो कोई क्रांतिकारी समाज ही लागू कर सकता हैं, लेकिन इस पद्धति को लागू करने से पहले क्रांतिकारी नेताओं के हाथों में पूरी सत्ता का होना आवश्यक नहीं है। वे क्रांति की प्रक्रिया में ही इसे लागू कर सकते हैं, और यह आवश्यक भी है इसलिए आवश्यक है कि वे क्रांति की प्रक्रिया में

ऐसा नहीं कर सकते कि बाद में क्रांतिकारी ढंग की शिक्षा लागू करने के इरादे से, अंतरिम उपाय के रूप में, बैंकीय पद्धति को इस्तेमाल कर लें और अभी तो काम चलाना है, कहकर इसका औचित्य सिद्ध करें। उन्हें आरंभ से ही क्रान्तिकारी होना चाहिए, अर्थात संवादात्मक होना चाहिए ।

चेतना को जागृत कर चुनौतियों का सामना करने में सक्षम बनाती है- फ्रेरे के विश्लेषण के अनुसार जहां बैंकीय शिक्षा सृजनात्मक शक्ति को कुंठित और सौंदर्यचेतना को अवरुद्ध करती है, वहां समस्या उठाऊ शिक्षा में निरंतर यथार्थ का अनावरण होता रहता है। जहां बैंकीय शिक्षा चेतना को डूब की दशा में बनाए रखने की कोशिश करती है, वहां समस्या उठाऊ शिक्षा चेतना को उभारने तथा यथार्थ में आलोचनात्मक हस्तक्षेप करने का प्रयास करती है।

छात्र ज्यों-ज्यों स्वयं को विश्व में और विश्व के साथ रख कर देखने से उत्पन्न होने वाली समस्याओं का सामना करते हैं, त्यों-त्यों उन्हें उत्तरोत्तर अधिक चुनौती मिलती है और वे उसका सामना करना अपना कर्तव्य समझने लगते हैं। वे इस चुनौती का सामना केवल एक सैद्धान्तिक प्रश्न के रूप में नहीं, बल्कि एक समूचे संदर्भ में अन्य समस्याओं से सम्बन्धित चुनौती के रूप में करते हैं। इसलिए इसके परिणामस्वरूप बनने वाली उनकी समझ उत्तरोत्तर अधिक आलोनात्मक होती जाती है। उसमें से अलगाव का तत्व निरंतर कम होता जाता है। जब वे इस चुनौती का जवाब देते हैं, उनके सामने नई चुनौतियां आती हैं जिनसे नई सूझबूझ पैदा होती है, और छात्र धीरे-धीरे स्वयं को प्रतिबद्ध मानने लगते हैं।

लेकिन यदि मुक्तिदायी शिक्षा को लागू करने के लिए राजनीति शक्ति की जरूरत हो और उत्पीड़ितों के पास ऐसी कोई शक्ति न हो, तो क्या क्रान्ति से पहले उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र को अमल में लाना संभव है? यह प्रश्न फ्रेरे के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसका उत्तर कम से कम एक कामचलाऊ रूपरेखा के तौर पर "व्यवस्थित शिक्षा और शैक्षिक परियोजनाओं" में उनके द्वारा किए गए फर्क में

मिलेगा। उनके अनुसार व्यवस्थित शिक्षा को राजनीतिक शक्ति से ही बदला जा सकता है, जबकि शैक्षिक परियोजनाएं उत्पीड़ितों को संगठित करने की प्रक्रिया में उनके साथ चलाई जानी चाहिएँ ।

स्वतन्त्रतावादी शिक्षा की दो अवस्थायें होती हैं- मानववादी और स्वतंत्रतावादी, शिक्षाशास्त्र के रूप में उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र की दो स्पष्ट रूप से भिन्न अवस्थाएं होती हैं। पहली अवस्था में उत्पीड़ित लोग उत्पीड़न के विश्व का अनावरण करते हैं और आचरण के जरिए उसके रूपांतरण के लिए प्रतिबद्ध होते हैं। दूसरी अवस्था में जिसमें उत्पीड़न के यथार्थ का रूपांतरण हो चुका होता है, यह शिक्षाशास्त्र केवल उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र नहीं रहता, बल्कि स्थायी मुक्ति की प्रक्रिया में सभी मनुष्यों का शिक्षाशास्त्र बन जाता है। इन दोनों अवस्थाओं में सदा ही गंभीर कर्म के जरिए, प्रभुत्व की संस्कृति का मुकाबला सांस्कृतिक रूप से किया जाता है। पहली अवस्था में यह मुकाबला उत्पीड़ितों के द्वारा उत्पीड़न के विश्व को देखे जाने के ढंग को बदल कर किया जाता है। दूसरी अवस्था में यह मुकाबला पुरानी व्यवस्था में निर्मित और विकसित उन मिथकों का बहिष्कार करके किया जाता है, जो क्रान्तिकारी रूपांतरण से उभरने वाली नई संरचना पर प्रेतों की तरह मंडराते हैं।

पहली अवस्था में उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र के लिए अनिवार्य है कि वह उत्पीड़क और उत्पीड़ित की चेतना की समस्या को, अर्थात उत्पीड़न करने वालों और उत्पीड़ित होने वालों की चेतना की समस्या को, हल करे। अनिवार्य है कि वह इन दोनों के व्यवहार को, दोनों की विश्व-दृष्टि को और दोनों के नीतिशास्त्र को ध्यान में रखे। इसमें एक खास समस्या उत्पीड़ितों में पाए जाने वाले द्वैत की होती हैं वं उत्पीड़न और हिंसा की एक ठोस स्थिति द्वारा निर्मित और उसमें जीने वाले अंतर्विरोधी तथा विभाजित प्राणी होते हैं।

3.2 शिक्षा के उद्देश्य :

उद्देश्य किसी भी कार्य को दिशा प्रदान करते हैं। सौद्देश्य किया गया मानवीय प्रयास ही वास्तविक कर्म होता है। उद्देश्य हमारे चिंतन व कर्म को लक्ष्य केन्द्रित करते हैं तथा क्रियाशीलता को उत्प्रेरणा व व्यवस्था प्रदान करते हैं। फ्रेरे कहते हैं - बिना उद्देश्य के मनुष्य के कार्य को आचरण की संज्ञा नही दी जा सकती है। वे उद्देश्य चाहे सही हों या गलत, मिथकीय हों या अमिथकीय, निष्कपट हों या आलोचनात्मक। और आचरण न होने की वजह से, यह कार्य अपनी प्रक्रिया और अपने लक्ष्य दोनों से अनजान होता है। लक्ष्य और प्रक्रिया की जागरूकता का अंतः संबंध योजनाबद्ध कार्यवाही का आधार है, जिसमें कि पद्धतियां, उद्देश्य और मूल्य-विकल्प अंतर्निहित होते हैं।

शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण कार्य का उद्देश्यपूर्ण होना परमावश्यक है। शिक्षा सांस्कृतिक-सामाजिक-राजनीतिक रूपान्तरण की योजनाबद्ध कार्यवाही है, मानव-मुक्ति का प्रबलतम साधन है। अतः यह कल्पना भी नहीं की जा सकती कि शिक्षा निरूद्देश्य हो। लक्ष्य निर्धारण के पश्चात उसे प्राप्त करने की प्रक्रिया अर्थात पद्धति पर विचार किया जाता है। उद्देश्य वस्तुतः किन्हीं सुविचारित पूर्व-निश्चित मूल्य विकल्पों को दृष्टिगत रखते हुए निर्धारित किये जाते हैं। अतः फ्रेरे द्वारा सुझायी गयी मुक्तिदायी समस्या-उठाऊ शिक्षा के उद्देश्य भी उन्हीं मूल्यों पर आधारित हैं, जिनमें फ्रेरे अटूट विश्वास रखते हैं। फ्रेरे के अनुसार शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य हैं-

मानव को पूर्ण मानव या प्रामाणिक मानव बनाना - परम्परागत शिक्षा मनुष्यों की सृजनात्मकता का मार्ग अवरूद्ध करने तथा उनकी संकल्पशीलता को दास बनाने का कार्य करती है जबकि शिक्षा का ऐतिहासिक व सत्तामूलक कर्तव्य मनुष्यों को पूर्णतर मानव बनाना होना चाहिये। फ्रेरे कहते हैं कि सच्चे शिक्षा वह है जो सृजनात्मकता पर अवलम्बित हो, व्यक्ति को सच्ची चिंतन व कर्म के लिये प्रेरित करे, चूँकि मनुष्य जिज्ञासा व सृजनात्मक रूपान्तरण में संलग्न होने पर ही प्रामाणिक मनुष्य बन सकते

हैं। वे कहते हैं- ''उत्पीड़ितों के लिए निहायत जरूरी है कि वे अपनी मुक्ति की सभी अवस्थाओं में पूर्णतर मनुष्य बनने के सत्तामूलक तथा ऐतिहासिक कार्य में संलग्न मनुष्यों के रूप में स्वयं को देखें। मुनष्य जब मनुष्यता और उसके ऐतिहासिक रूपों की अंतर्वस्तु को अलग करने की गलती नही करता तो चिंतन और कर्म उसके लिए अवश्य करणीय हो जाते हैं।''[12]

फ्रेरे के अनुसार मानव संभवन की प्रक्रिया में हैं अधूरे हैं, अपूर्ण हैं । जिस यथार्थ में वे रहते हैं वह भी ऐसा ही है। मानव इस अपूर्णता से परिचित हैं। शिक्षा मनुष्यों व यथार्थ के अधूरेपन को पूर्णता की और अग्रसर करती है।

फ्रेरे द्वारा प्रवर्तित उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र, जो सच्ची मानववादी (लोकोपकारवादी नहीं) उदारता से अनुप्राणित है, स्वयं को मनुष्य के शिक्षाशास्त्र के रूप में प्रस्तुत करता है। वह शिक्षा शास्त्र, जो उत्पीड़कों के अहंवादी हितों से आरंभ होता है (यह अहंवाद पितातुल्य होने की मिथ्या उदारता के लबादे से ढका रहता है) और उत्पीड़ितों को परोपकार की वस्तु बना देता है, स्वयं उत्पीड़न का मूर्त रूप होता है और उत्पीड़न को बनाए रखता है। फ्रेरे इसे अमानुषीकरण का औजार मानते हैं। उनका दृढ़ विश्वास है कि- उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र उत्पीड़कों के द्वारा न तो विकसित हो सकता है और न व्यवहार में ही लाया जा सकता है। उनके अनुसार यह कहना ही एक अंतर्विरोध होगा कि उत्पीड़कों ने मुक्तिदायी शिक्षा की न सिर्फ हिमायत की, बल्कि उसे लागू भी किया ।

फ्रेरे की दृष्टि में मानुषीकरण मनुष्य का ऐतिहासिक कर्तव्य है। पूर्ण मनुष्यता प्राप्त करने का प्रयास अकेले अकेले व्यक्तिवादी ढंग से नही किया जा सकता है। जब तक कोई दूसरों को मनुष्य बनने से रोकता है तब तक वह प्रामाणिक रूप से मानवीय स्वीकार नही किया जा सकता है।

मानवीय समस्याओं को विश्व से उनके संबंधों की समस्याओं के रूप में उठाना - फ्रेरे कहते हैं कि शिक्षा कर्म के प्रति सचमुच प्रतिबद्ध लोगों को बैंकिंग शिक्षा की अवधारणा को उसकी सपूर्णता में खारिज करना चाहिये। मानव चेतना कोई खाली बर्तन नही है जिसे भरा जाये, न ही मुक्ति के नाम पर प्रभुत्व की पद्धतियों - प्रचार, नारों अर्थात 'जमाओं' को अपनाया जा सकता है। मनुष्य सचेत प्राणी है और चेतना विश्व को समझने तथा बदलने की चेतना है। शिक्षा का 'जमा करने' का उद्देश्य त्याग करके उसकी जगह मनुष्यों की समस्याओं को विश्व से उनके संबंधों की समस्याओं के रूप में उठाना ही शिक्षा का उद्देश्य स्वीकार किया जाना चाहिए। फ्रेरे की दृष्टि में चेतना का सार है संकल्पशीलता। शिक्षा को इसे स्वीकार करते हुऐ विज्ञप्तियों को अस्वीकार करना चाहिए । चेतना को उस शिखर पर ले जाना ही शिक्षा का लक्ष्य होना चाहिए जहॉ वह वस्तुओं की बाह्य चेतना के स्तर से उठकर स्वयं अपनी भी चेतना बन जाती है अर्थात चेतना की चेतना ।

मानव को मुक्ति - संघर्ष में सक्षम बनाना - फ्रेरे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि- शिक्षा को 'समझाने बुझाने' की, 'व्यक्तित्व को ढालने' की 'चेतना को पालतू' बनाने की प्रक्रिया के रूप मे केवल उत्पीडक ही देख सकते हैं। प्रगतिवादी मानववादी शिक्षा मनुष्य को पूर्ण मानव बनने की अर्थात पूर्ण मुक्ति की दिशा में संघर्ष करने में सक्षम बनाती है। उसे जागृत, स्वतन्त्र व आलोचनात्मक चेतना का स्वामी बनने में सहायता करती है। फ्रेरे का अभिमत है कि क्रांति का चरित्र प्रमुख रूप से शिक्षाशास्त्रीय होता है। प्रत्येक युग के क्रांतिकारी नेताओं ने कहा है कि उत्पीड़ितों को यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि उन्हें अपनी मुक्ति के लिए संघर्ष की जरूरत है। यह एक जाहिर सी बात है, लेकिन इसमें यह अंतर्निहित है कि ऐसा उत्पीड़ितों की शिक्षा के माध्यम से ही हो सकता है। अतः क्रांतिकारी नेताओं की इस बात में इस संघर्ष के शिक्षाशास्त्रीय पक्ष की पहचान अंतर्निहित है। लेकिन उनमें से कई नेता (संभवतः शिक्षाशास्त्र के विरुद्ध स्वाभाविक और समझ में आने लायक पूर्वग्रहों के कारण)

उत्पीड़कों द्वारा अपनाए जाने वाले शैक्षिक तरीकों का इस्तेमाल करने की गलती करते हैं। वे मुक्ति की प्रक्रिया में शिक्षाशास्त्रीय कर्म को नकारते हैं और इसकी जगह लोगों को समझाने बुझाने के लिए प्रचार का इस्तेमाल करते हैं।

फ्रेरे कहते हैं कि- उत्पीड़ितों को यह बात अवश्य समझनी चाहिए कि जब वे मानुषीकरण के लिए संघर्ष करना स्वीकार करते हैं, तो उसी क्षण से वे उस संघर्ष के लिए अपनी पूरी जिम्मेदारी भी स्वीकार करते हैं। उन्हें यह अवश्य समझना चाहिए कि वे केवल भूख से मुक्ति पाने के लिए नही लड़ रहे हैं। फ्रॉम की पुस्तक 'दि हार्ट आफ मैन' का हवाला देते हुए फ्रेरे कहते हैं कि उत्पीड़ित लड़ रहे होते हैं- 'सृजन और निर्माण' की स्वतंत्रता के लिए, चकित होने और साहस करने की स्वतंत्रता के लिए। ऐसी स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है कि आदमी सक्रिय और जिम्मेदार हो, न कि दास या मशीन का चालू पुर्जा। यह काफी नहीं है कि मनुष्य दास नहीं हैं यदि सामाजिक परिस्थितियां उन्हें स्वचालित यंत्र बनाए रखती हैं तो इसका परिणाम जीवन-प्रेम नहीं, बल्कि मृत्यु-प्रेम होगा''[13]

आचरण के द्वारा यथार्थ में हस्तक्षेप की दक्षता का विकास - फ्रेरे के कथनानुसार यथार्थ की समझ उसके कारणों की पहचान तथा परिस्थितियों को बदलने हेतु सक्रिय हस्तक्षेप यह कार्य स्वयं जनता द्वारा ही किया जाना चाहिये। इसका कोई त्राता, उद्धारक या मसीहा नही है। विश्व का अनावरण व सत्य की खोज उसे स्वयं करनी है। जनता का अपने आचरण के जरिए यथार्थ में आलोचनात्मक हस्तक्षेप करना जरूरी है। यहीं पर हैं फ्रेरे द्वारा प्रतिपादित उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र की जड़ें, उस शिक्षाशास्त्र की जड़ें, जो अपनी मुक्ति के संघर्ष में संलग्न मनुष्यों का शिक्षाशास्त्र है। और उन लोगों को, जो स्वयं को उत्पीड़ित के रूप में पहचानते हैं, या पहचानने लगे है, इस शिक्षाशास्त्र का विकास करने वालों में भागीदार अवश्य होना चाहिए । कोई भी शिक्षा शास्त्र, जो वास्तव में मुक्तिदायी हो, उत्पीड़ितों को भाग्यहीन मान कर तथा उनकी बेहतरी के लिए उत्पीड़कों में से ही कुछ नमूने पेश करते हुए, उत्पीड़ितों

से अलग नही रह सकता। अपने उद्धार के लिए किए जाने वाले संघर्ष में उत्पीड़ितो को स्वयं ही अपना उदाहरण होना चाहिए ।

फ्रेरे कहते हैं कि विश्व एवं मनुष्य को परस्पर एक दूसरे से अलग करके देखना असम्भव है। वस्तुपरक सामाजिक यथार्थ का अस्तित्व कोई संयोग न होकर मानवीय कर्म का उत्पाद है। उसी तरह उसका रूपान्तरण भी संयोग से नही होता। इसके लिये विवेकपूर्वक सक्रिय प्रयास जरूरी होते हैं। यदि मनुष्य सामाजिक यथार्थ को निर्मित करते हैं तो आवश्यकता होने पर उसका रूपान्तरण भी कर सकते हैं। मात्र स्थितियों के साथ अनुकूलन नही अपितु उसमें सकारात्मक परिवर्तन ही मानव का उद्‌देश्य होना चाहिए ।

आलोचनात्मक चिंतन की क्षमता का विकास- फ्रेरे का संकल्पित आलोचनात्मक चिंतन ऐसा चिंतन है, जिसमें विश्व और मनुष्यों के बीच कोई द्विभाजन नहीं किया जाता और दोनों की अविभाज्य एकजुटता को पहचाना जाता है। यह ऐसा चिंतन है, जिसमें यथार्थ को कोई स्थिर चीज नही माना जाता, बल्कि उसे रूपान्तरण की प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। यह ऐसा चिंतन है, जो स्वयं को कर्म से अलग नही करता। वह किसी शाश्वत सत्य की खोज में कर्म से पलायन करने के बजाए स्वयं को अल्पकालिकता में डुबोता रहता है और इसमें शामिल जोखिमों को निर्भय होकर उठाता है। आलोचनात्मक चिंतन उस भोले चिंतन से बिलकुल भिन्न होता है जो समझता है कि "ऐतिहासिक समय एक बोझ है, अतीत के अनुभवों और उपलब्धियों का स्तरीकरण है," जिससे वर्तमान की सामान्यीकृत तथा 'सभ्य-शिष्ट' बनकर उभरना चाहिए। भोले चिंतन के लिए महत्वपूर्ण है मनुष्यों के सतत मानुषीकरण के लिए यथार्थ का सतत रूपांतरण। मनुष्य की योग्यता उसके आचरण (प्रेक्सिस) में अभिव्यक्त होती है जो संसार को रूपांतरित भी करता है और व्यक्त भी करता है। मनुष्य का आचरण, उसका कर्म भी है और उसकी भाषा भी। यह आचरण मनुष्य पर दोबारा असर ड़ालता है और उसे 'अतिनिर्धारित' करता है। कहा

जा सकता है, यह उसे अनुकूलित (कंडिशंड) करता है और जिसमें उसके अगले कर्म घटित होते हैं, उन अर्थों में निहित विस्तृत संभावना को परिभाषित करता है। समाजीकरण की दूसरी प्रक्रियाओं की तरह शिक्षा इस अति निर्धारणीकरण को मजबूत करने की ओर अग्रसर रहती है। शिक्षा में अंतर्निहित द्वैधवृत्ति से, खास तौर पर, मनुष्य में जो सबसे कम नियत है उसे बाहर निकालने की क्षमता से फ्रेरे यह परिणाम निकालते हैं कि कोई शिक्षा तटस्थ नहीं होती और यही उनका बुनियादी सिद्धान्त है। शिक्षा या तो पालतू बनाती है या मुक्त करती है। हालांकि, आम तौर पर इसे अनुकूलन प्रक्रिया के रूप में ग्रहण किया गया है, लेकिन शिक्षा उतनी ही अननकूलन का जरिया भी हो सकती है। शिक्षक के लिए अपेक्षित यह आरंभिक विकल्प है।

फ्रेरे की धारणा है कि शिक्षा अननकूलन भी कर सकती है क्योंकि मनुष्य अनिवार्यतः एक अनुकूलित प्राणी है। वह, अनिवार्यतः जो उसे अनुकूलित करता है, उसे जानने की क्षमता रखने वाला प्राणी है, अपनी कार्य और व्यवहार पर विचार करने की क्षमता रखने वाला प्राणी है। वह अपने बोध को समझने की क्षमता रखता हैं 'बोध के बोध' की कुंजी और आगे गुप्त और रहस्यमय यथार्थ की पुनः प्राप्ति ही समस्याकरण है। समस्याकरण (प्राब्लमेटाइजेशन) का मतलब है सवाल पूछना और सवाल पूछने का आह्वान करना। और इसीलिए यह एक चुनौतीपूर्ण व्यवहार है और इसके साथ ही यह जानने की प्रामाणिक क्रिया की शुरूआत भी है और अतिनिर्धारणीकरण के उच्छेदन की क्रिया यानी मनुष्य पर प्रतिलोमित आचरण के उच्छेदन की भी शुरूआत है।

कर्म और चिन्तन साथ-साथ होते हैं। कर्म व चिन्तन को परस्पर प्रथक रूप में देखना असंम्भव है । दोनों प्रक्रियायें सहगामी होती हैं। फ्रेरे कहते हैं - "मैं जोर देकर कहना चाहता हूँ कि मैं जिस आचरण की वकालत कर रहा हूँ, उसे कर्म की पूर्ववर्ती और उत्तरवर्ती, दो अवस्थाओं में नही बांटा जा सकता। कर्म और चिंतन साथ-साथ

होते हैं। लेकिन यथार्थ के किसी विश्लेषण से यह बात सामने आ सकती है कि कर्म का एक विशिष्ट रूप फिलहाल असंभव या अनुचित होगा। (अतः उसे तदनुसार या तो स्थगित कर दिया जाना चाहिए, या कर्म के किसी अन्य रूप से बदल दिया जाना चाहिए), जो लोग चिंतन के जरिए देख लेते हैं कि कर्म का अमुक रूप फिलहाल असम्भव या अनुचित है उन्हें अकर्मण्यता का दोषी नहीं कहा जा सकता है। आलोचनात्मक चिंतन भी कर्म है।''[14]

फ्रेरे का विश्वास है कि उत्पीड़न के कारणों का विश्लेषण उत्पीड़न की स्थितियों की पहचान तथा उत्पीड़क की खोज, ये सभी चिंतनपूर्ण कर्म के द्वारा ही संभव हैं। उत्पीड़ित लोग स्वयं पर भरोसा करना तभी शुरू करते हैं, जब वे उत्पीड़क को खोज लेते हैं और अपनी मुक्ति के लिए संगठित संघर्ष करने लगते हैं। यह खोज नितांत बौद्धिक खोज नहीं हो सकती। इसके लिए कर्म भी आवश्यक है। लेकिन यह खोज निरे कर्मवाद तक भी सीमित नही होती। इसमें चिंतन भी अवश्य शामिल रहना चाहिए । तभी यह खोज फ्रेरे की नज़र में आचरण (प्रैक्सिस) कहलाएगी।

फ्रेरे का इस बात पर जोर देना कि उत्पीड़ितों को अपनी ठोस स्थिति पर चिंतन करना चाहिए, आरामकुर्सी में पड़े-पड़े क्रान्ति करने के लिए कहना नहीं है। इसके विपरीत उनके द्वारा बताया गया चिंतन-सच्चा चिंतन तो कर्म की ओर ले जाता है। दूसरी तरफ, स्थिति द्वारा आवश्यक बना दिया गया कर्म सच्चा आचरण तभी बन सकता है, जब उसके परिणामों पर आलोचनात्मक ढंग से विचार कर लिया जाए। इस अर्थ में आचरण उत्पीड़ितों का नया उद्देश्य है। और क्रान्ति जो इस उद्देश्य के ऐतिहासिक क्षण का उद्घाटन करती है, तब तक नहीं हो सकती, जब तक वे अपने उद्देश्य के अनुसार सचेत रूप से उसमें शामिल नही होते। फ्रेरे की दृष्टि में इसके बिना किया जाने वाला कर्म निरा सक्रियतावाद है। विश्व के रूपान्तरण हेतु चिंतन व कर्म में दक्षता का विकास मनुष्य को उत्पीड़नकारी स्थितियों

से बचाने वाले आचरण का विकास है। यथार्थ में डूबे रहने की स्थिति से उबारना और आचरण के जरिये उसे यथार्थ का रूपान्तरण करने की शक्ति प्रदान करना ही सच्ची शिक्षा है। व्यक्ति में वह ऐसा क्यों करे यह समझ भी पूर्णतः स्पष्ट हो, तभी उसका कर्म सच्चा कर्म बन सकता है अन्यथा वह मात्र अनुकरण या आज्ञा-पालन ही होता है। फ्रेरे कहते हैं- कि जनसाधारण को उनके अपने कर्म का अर्थ समझाने का मतलब है उस कर्म को स्पष्ट और दीपित करना, ताकि लोगों की समझ में दो बातें आ जाएँ- एक तो यह कि उस कर्म का उन वस्तुपरक तथ्यों से क्या संबंध है जिन्होंने उसे प्रेरित किया और दूसरी यह कि उस कर्म के उद्‌देश्य क्या हैं। जनता इस चुनौतीपूर्ण यथार्थ को जो उसके रूपांतरकारी कर्म की वस्तु है जितना ही अनावृत्त करेगी, उतने ही अधिक आलोचनात्मक ढंग से वह यथार्थ में प्रवेश करेगी।

अतएव फ्रेरे के चिन्तन का अनुसरण करें तो आवश्यक है कि कर्म चिंतन पर आधारित हो तथा चिंतन कर्मपूर्ण हो। सुविचारित कर्म जो तन्मयता के साथ, प्रतिबद्धता के साथ सम्पन्न किया जाता है, फलप्रद होता है। इसके विपरीत वह मात्र एक अनुवर्ती क्रिया के रूप में ही होता है, ऐसी क्रिया जो स्वतः अनैच्छिक व अनियन्त्रित ढंग से सम्पन्न हो जाती है। फ्रेरे इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

द्वंद्वात्मक चिंतन में विश्व और कर्म बड़ी घनिष्ठता से परस्पर-निर्भर होते हैं। लेकिन कर्म का मानवीय होना तभी संभव है, जब धंधे की तरह मन मार कर नहीं, बल्कि सोच-समझ कर पूरी तन्मयता के साथ किया जाए। अर्थात जब कर्म और चिंतन अलग-अलग न हों। चिंतन, जो कर्म के लिए अनिवार्य है, लुकाच द्वारा बताई गई जनसाधारण को उसके अपने कर्म का अर्थ समझाने की जरूरत में अंतर्निहित है। ठीक इसी प्रकार वह उनके द्वारा बताए गये इसके उद्‌देश्य 'अनुभवों के अनुवर्ती विकास' को सचेत रूप से क्रियाशील बनाने में भी अंतर्निहित है।''[15]

इस प्रकार फ्रेरे की मुक्तिवादी शिक्षा का उद्‌देश्य शिक्षकों व छात्रों को इस योग्य बनाना है कि वे अधिकारवाद और अलगाव पैदा करने वाले बुद्धिवाद पर

विजय प्राप्त कर शैक्षिक प्रक्रिया के कर्ता बनें। यह मुनष्यों को इस योग्य बनाती है कि वे यथार्थ के मिथ्या बोध पर विजय पायें। यथार्थ के अनावरण तथा परिवर्तन का कार्य स्वयं उत्पीड़ितों द्वारा किया जाना चाहिये। वे स्वयं कर्ता बनें चूंकि मुक्त तो उन्हें ही होना है, अपने मुक्तिदाता वे स्वयं है यह विश्वास उनमें जाग्रत होना चाहिए। फ्रेरे कहते हैं - ''लेकिन इस आचरण तक पहुँचने के लिए जरूरी है कि उत्पीड़ितों पर और उनकी विवेकशीलता पर भरोसा किया जाए। जिसके अंदर यह भरोसा नही होगा, वह उनसे संवाद और विचार विमर्श नही कर सकेगा (या बंद कर देगा) और नारों, विज्ञप्तियों, एकालापों और हिदायतों का इस्तेमाल करने की गलती करने लगेगा। मुक्ति के उद्देश्य के प्रति सतही समर्पण करने वालों के साथ यह खतरा हमेशा बना रहता है।''[16]

क्रान्तिकारी नेतृत्वशीलता का विकास - नेतृत्व का अर्थ लोगों पर शासन करना, प्रभुत्व स्थापित करना, पराधीन बनाये रख उन्हें चीजों की तरह उपयोग में लाना अथवा भेड़ बकरी की तरह हांकना नहीं है। फ्रेरे का क्रान्तिकारी-मानववादी नेता जनता (विद्यालय में शिक्षक व छात्र) का सहकर्मी है। जो जनता से सच्चा जुड़ाव रखता है, संवाद करता है, उनके चिन्तन व कर्म को सच्चे आचरण में रूपान्तरित करने में उनका सहभागी बनता है, वे यथार्थ को समझने व बदलने में स्वयं सक्षम बन सकें, इस दिशा में भरसक प्रयास करता है। फ्रेरे इस ओर संकेत करते हैं -

'उत्पीड़ितों के पक्ष में किया जाने वाला राजनीतिक कर्म सच्चे अर्थ में शिक्षाशास्त्रीय कर्म होना चाहिए, अतः यह कर्म उनसे अलग रह कर नहीं, बल्कि उनके साथ किया जाना चाहिए। मुक्ति के लिए काम करने वालों को उत्पीड़ितों की उस भावनात्मक पराधीनता का फायदा हरगिज नही उठाना चाहिए, जो उन्हें घेरे रहने वाली प्रभुत्व की वास्तविक स्थिति का परिणाम होती है और जो उन्हें विश्व को वास्तविक रूप में नहीं देखने देती । उनकी पराधीनता का इस्तेमाल करके उन्हें और अधिक पराधीन बनाना तो उत्पीड़कों वाला तरीका है।''[17]

स्वतंत्रतावादी कर्म में इस पराधीनता को एक कमजोरी के रूप में समझा जाना चाहिए और चिंतन तथा कर्म के जरिए इसे स्वाधीनता में बदलने का प्रयास किया जाना चाहिए । लेकिन सर्वोत्तम सदाशयता वाला नेतृत्व भी किसी को उसकी स्वाधीनता उपहार के रूप में नही दे सकता। उत्पीड़ितों की मुक्ति चीजों की नही, मनुष्यों की मुक्ति हैं अतः जहां यह सच है कि अपने ही प्रयासों से कोई स्वयं को मुक्त नही कर सकता, वहीं यह भी सच है कि दूसरे भी उसे मुक्त नही कर सकते। मनुष्यों को अर्द्ध मानुषिक मान कर चलना उन्हें अमानुषिक ही बनाता है। मनुष्य जब उत्पीड़न के कारण पहले ही अमानुषिक बना दिये गये हों, उनकी मुक्ति की प्रक्रिया में अमानुषीकरण के तरीकों का इस्तेमाल हरगिज नही किया जाना चाहिए ।

फ्रेरे का मानना है कि संघर्ष की आवश्यकता मे दृढ़ विश्वास (जिसके बिना संघर्ष संभव ही नहीं, क्रांतिकारी नेतृत्व के लिए तो आवश्यक है ही उत्पीड़ितों के लिए भी आवश्यक है। अनावश्यक वह तभी हो सकता है, जब कोई व्यक्ति सामाजिक रूपांतरण उत्पीड़ितों के साथ नही बल्कि उत्पीड़ितों के लिए करना चाहे। लेकिन फ्रेरे का विश्वास है कि उत्पीड़ितों के साथ किया जाने वाला रूपान्तरण ही सही है।

क्रांतिकारी नेताओं कि संघर्ष का आवश्यकता में उनका अपना दृढ़ विश्वास जो क्रांतिकारी समझदारी का एक निर्णायक आयाम है, यदि सच्चा है तो वह भी उन्हें किसी और ने नही दिया था। फ्रेरे मानते हैं कि यह दृढ़ विश्वास पुड़िया में बांध कर बेची जा सकने वाली चीज नहीं है। इसे तो चिंतन और कर्म की एकता से स्वयं अर्जित करना पड़ता है। एक ऐतिहासिक स्थिति में यथार्थ से नेताओं की अपनी सम्बद्धता ही उन्हें उस स्थिति की आलोचना करने तथा उसे बदलने की दिशा में ले आती है। शिक्षा के द्वारा इसी प्रकार की नेतृत्व क्षमता विकास किया जाना आवश्यक है।

सांस्कृतिक विकास - फ्रेरे शिक्षा कों सांस्कृतिक आक्रमण के विरुद्ध लड़ने का एक महत्वपूर्ण साधन मानते हैं। उनका मत है कि सुधार, विकास या शिक्षा के नाम पर किसी की संस्कृति को हेय या गलत ठहराते हुए उस पर जबरन अपने मूल्य व मापदण्ड थोपना नितान्त अनुचित है। ऐसा तो उत्पीड़कों द्वारा किया जाता है। वे ऐसी रूचियों व परम्पराओं में बदलाव को मांग करते हैं जिनसे समाज के किसी वर्ग या पक्ष का उत्पीड़न होता है, मानव विकास का मार्ग अवरुद्ध होता है। रूढ़ियाँ व प्रथाएँ यदि जंजीर बन कर चेतना को कुंद कर देती है तो उनमें परिवर्तन लाया ही जाना चाहिए। सांस्कृतिक परिवर्तन के इस कार्य को बड़ी बुद्धिमत्ता, चातुर्य व धैर्य के साथ सम्पन्न किया जाना चाहिए, हमला बोलने वाले अन्दाज में नहीं। फ्रेरे सचेत करते हैं कि जिन्हें आप शिक्षित करते है उनकी संस्कृति के प्रति सम्मान भाव रखे बगैर उनका विश्वास आप अर्जित नही कर सकते । कमियों की ओर उनका ध्यान आकर्षित करना और उनमें ऐसी कुरीतियों को स्वयं बदल डालने की तत्परता उत्पन्न कर देना ही उत्तम शिक्षक का प्रयास होना चाहिए। लैगिंक समानता का एक उदाहरण देते हुऐ फ्रेरे कहते हैं -

"संस्कृति की आत्मा के प्रति मेरे सम्मान का यह मतलब नहीं है कि मानव सभ्यता के सौंदर्य के खिलाफ चल रही कुछ परंपराओं और रूढ़ियों का विरोध मैं न करूँ। आइए, मैं एक ठोस उदाहरण दूँ। लैटिन अमेरिका की प्रमुख सांस्कृतिक परंपरा को ही लें जो पुरूष को खाना बनाने से रोकती है। इस तथ्य का विश्लेषण यही होगा कि पुरूषों ने परंपरा का निर्माण किया। यह उन्हीं की बनाई हुई धारणा है कि यदि पुरूष खाना बनाएंगे तो वे पुरूष नहीं रह जाएंगे। इस धारणा का पुरूषों ने लाभ उठाया। चलिए, माना कि यह एक धारणा है। एक दूसरे समुदाय का उदाहरण लीजिए जिसमें पुरूष घर का एक काम भी नही करते। महिलाएं घर मे भी काम करती हैं और खेतों में भी । पुरूष खेत से आते हैं, खाते हैं और सो जाते हैं। महिलाओं को खेत से आने के पश्चात घर में भी काम करना पड़ता है।"[18]

इस स्थिति में वे अपना पक्ष व पद्धति स्पष्ट करते हैं "अब, मैं एक अध्यापक हूँ और इस समुदाय के साथ कार्यशाला में विचार विमर्श कर रहा हूँ। मेरा सवाल है इस समुदाय की सांस्कृतिक परंपरा, जिसका मैं सम्मान करता हूँ, से जुड़े बिना क्या मेरे लिए जीवन व्यतीत करना संभव है? मैं उनकी परंपरागत संस्कृति का सम्मान करता हूँ। इसका मतलब यह तो नहीं है कि मैं उनकी आलोचना न करूँ। नहीं, मैं ऐसा नही करता। परन्तु ऐसा न करके मैं उनकी संस्कृति को रौंद नहीं रहा हूँ। मैं उनकी आलोचना कर रहा हूँ। मैं वहाँ के पुरूषों और महिलाओं के सामने एक चुनौती रख रहा हूँ कि वे अपनी संस्कृति को नए नजरिए से देखें और यह समझें कि मनुष्यता की दृष्टि से यह कितना गलत है। एक व्यक्ति ने मुझसे कहा कि परम्परा ने तय किया है कि स्त्री पकाएगी और पुरूष खाएगा। ऐसा नहीं है, क्योंकि यह जानबूझकर एक प्रकार की तय की गयी नियति है। यह सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है और यदि यह सांस्कृतिक और ऐतिहासिक है तो इसे बदला भी जा सकता है। अतः बदलने की संभावना को सामने रखना अनैतिक नहीं है।''[19]

फ्रेरे इस बात पर बल देते हैं कि सम्मान करना एक चीज है और किसी चीज को कायम रखना और उसमें वृद्धि करना दूसरी बात है, जिसके लिए अध्यापक की अंतर्दृष्टि की आवश्यकता नहीं है। वे चुनौती देने के अपने कर्तव्य को सामने रखते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि उस संस्कृति और उन लोगों के सामने चुनौती रखना उनका कर्तव्य है। वे आगे कहते हैं 'मै यह भी जानता हूँ कि किसी भी चीज को शुरू करने का एक वक्त होता है। पहुँचते ही मैं यह काम शुरू नही कर सकता। मैं ऐसा नही कर सकता। यहाँ सवाल कार्यकुशलता का नही कार्यनीति का है। यह कोई कार्यनीति नहीं। कार्यनीति के तौर पर मैं इसके खिलाफ हूँ। मैं महिलाओं के संघर्ष का पक्षधर हूँ। बतौर कार्यनीति मैं छः महीने चुप रह सकता हूँलेकिन जैसे ही मुझे पहला मौका मिलता है वैसे ही इस प्रश्न को मैं लोगों के सामने रखता हूँ चाहे इसमें हमें कोई भी परेशानी झेलनी पड़े।''[20]

फ्रेरे समाज द्वारा मानव मस्तिष्क को पूर्व निर्धारित साँचों में ढालने का विरोध करते हैं। सृजन व नव-निर्माण के उद्देश्य से रूढ़ियों व परम्पराओं को तोड़ना वे अनुचित नही मानते, भले ही कुछ लोग ऐसा करने को गलत ठहरायें। मानव अस्तित्व की दृष्टि से फ्रेरे इस सम्बन्ध विच्छेद को आवश्यक मानते हैं।

फ्रेरे सामाजिक समानता में विश्वास रखते थे। धर्म, प्रजाति लिंग या किसी भी प्रकार के भेद-भाव का वे विरोध करते हैं। उनका मानना था कि सामाजिक रीति-रिवाज यदि अलगाव पैदा करते हैं तो निश्चय ही उन्हें बदला जाना चाहिए। संस्कृति का मूल्यांकन, आलोचना, इसे स्वीकार करना व समझना और इस दिशा में कुछ करना वे भावी शिक्षक का दायित्व मानते हैं।

अपनी पुस्तक 'द लेटर्स टू गिनी बिसाऊ' में फ्रेरे[21] बताते हैं कि महान अफ्रीकी नेता एमिलकर कैबाल सांस्कृतिक समस्याओं को कैसे हल करते थे। पुस्तक में वे लिखते हैं कि युद्ध के दौरान एमिलकर कैब्राल ने हमेशा गोष्ठियों का आयोजन किया। उन्होंने युद्ध में शामिल कुछ व्यक्तियों को भी इन गोष्ठियों में शामिल किया। पेड़ की छाया में वे युद्ध के बारे में विचार-विमर्श और मूल्यांकन किया करते थे। परन्तु लोगों के साथ बातचीत के क्रम में वे विज्ञान, संस्कृति, शिक्षण आदि से जुड़े मुद्दों पर अवश्य बातचीत करते थे। एक गोष्ठी में उन्होंने तावीज की ताकत को बहस का मुद्दा बनाया। उन्होंने कहा, "आपमें से एक ने मुझसे कहा कि आप अपने तावीज की वजह से बच पाए। मैं आपसे यह कहना चाहतॉ हूँ कि - हमने खुद को पुर्तगालियों की गोलियों से बचाया है। हमे खुद यह जानना चाहिए कि हमें अपनी रक्षा कैसे करनी है। मुझे पूरा विश्वास है कि हमारे पोते-परपोते यह कहेंगे कि हमारे पूर्वजों ने बहुत ही खूबसूरती से लड़ाई लड़ी परन्तु उनके विचार कुछ अजीब से थे। वे अपनी संस्कृति का सम्मान करते थे परंतु वे संस्कृति की कमजोरियों से लड़ रहे थे। संस्कृति के बारे में उन्होंने कहा कि प्रत्येक संस्कृति का सकारात्मक और नकारात्मक पक्ष होता है। हमें इसके सकारात्मक पक्ष का विकास करना चाहिए और

नकारात्मक पक्ष पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। ताबीज की ताकत पर भरोसा संस्कृति की एक बहुत बड़ी कमी है। यह कहना बहुत बड़ी बेवकूफी होगी कि जो तावीज़ में भरोसा रखते हैं उन्हें दो दिन के लिए जेल भेज दिया जाएगा। यह बहुत बड़ी बेवकूफी होगी। लेकिन मेरे लिए उससे भी बड़ी बेवकूफी होगी जो एमिलकर ने कहा उसे न कहा जाए।''[22]

3.3 पाठ्यक्रम :-

फ्रेरे का निश्चित मत है कि शिक्षा की सम्पूर्ण व्यवस्था शिक्षार्थी की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखते हुये ही विनिर्मित की जानी चाहिए, क्योंकि मुख्यतः वही शैक्षिक प्रक्रिया की धुरी है शिक्षा अभिजात्य शोषक वर्ग की जरूरतों की पूर्ति का साधन मात्र न हो। ऐसी शिक्षा मानव की मुक्ति अर्थात पूर्ण मानुषीकरण के द्वार बंद कर उसे अमानुषीकरण के गर्त में धकेलती है । फ्रेरे के अनुसार शोषक वर्ग निजी हितों व स्वार्थों की पूर्ति की दृष्टि से शिक्षा की एक सोची समझी व्यवस्था तैयार करता है। उसके बाह्य रूप से घोषित उद्देश्य भ्रामक व आडम्बरपूर्ण होते हैं तथा निहित प्रछन्न उद्देश्य जनता को व्यवस्था के कलपुर्जों के रूप में ढ़ालना होता है ताकि वे शासक वर्ग द्वारा पूर्व निर्धारित कामों को ठीक-ठाक तरीके से सम्पन्न करने लायक बन सकें। इस शिक्षा व्यवस्था में पाठ्यक्रम निर्धारण के कार्य पर शासक वर्ग या शोषक वर्ग के द्वारा पूर्णरूपेण नियंत्रण रखा जाता है। शिक्षार्थी को क्या पढ़ना चाहिए ? उसके लिए क्या उचित है ? यह शिक्षार्थी नही, प्रभु वर्ग ही तय करता है। शिक्षा की इस बैंकिंग अवधारणा में पाठ्यक्रम-निर्धारण में अधिगमकर्ता की कोई भूमिका नही होती है। पाठ्यक्रम छात्रों में सर्जनात्मकता, विवेकशीलता तथा आलोचनात्मक चिन्तन के विकास को अवरुद्ध कर उन्हें बाहर से दिये गये ज्ञान का जमाकर्ता या कोष बना देने वाला होता है। फ्रेरे द्वारा प्रतिपादित पाठ्यक्रम में निम्न विशेषताएं स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं।

पाठ्यक्रम शिक्षार्थी की आवश्यकताओं पर आधारित हो - मनुष्य व्यवहार किसी आवश्यकता के कारण ही करता है । यहाँ तक की मनुष्य की भोजन करने की क्रिया में भी उसका उद्‌देश्य भूख की आन्तरिक आवश्यकता की पूर्ति करना होता है । स्पष्टतः मनुष्य की सभी क्रियाएं सोद्‌देश्य होती हैं। मनोवैज्ञानिक भी इस विषय में पूर्णतया सहमत हैं कि किसी भी व्यवहार का जन्म किसी न किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही होता है। यदि एक क्रिया से आवश्यकता की पूर्ति नही होती है तो व्यक्ति अपनी आवश्यकता पूर्ति के लिए दूसरी क्रियाऐं करता है।

व्यक्ति जो क्रिया करता है उससे उसे अनुभव प्राप्त होता है। इस अनुभव से उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। बाल्यकाल में व्यक्ति की आवश्यकताएँ सीमित होती हैं क्योंकि उसके ज्ञान का क्षेत्र सीमित होता है। परन्तु विकास के साथ-साथ जानकारी का क्षेत्र भी बढ़ता जाता है। व्यक्ति के अनुभवों में विविधता आती जाती है। ज्ञान में वृद्धि होने के कारण आवश्यकताओं के क्षेत्र में भी वृद्धि हो जाती है। इन बढ़ी हुई आवश्यकताओं की पूर्ति करने से व्यक्ति के अनुभव में वृद्धि होती है। फलस्वरूप मानव व्यक्तित्व का विकास होता है। उदाहरणार्थ, प्रारम्भ में बालक केवल अक्षर ज्ञान सीखते हैं। अक्षर सीखने से उसके ज्ञान के क्षेत्र का विकास होता है, जिससे उसमें और अधिक जानने की आवश्यकता उत्पन्न होती है तब वह भाषा ज्ञान प्राप्त करता है। तत्पश्चात सरल साहित्य पढ़ना सीखता है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

फ्रेरे का मानना है कि पाठ्यक्रम में इस प्रकार के विषयों का समावेश किया जाना चाहिए जिससे मानव और मानव समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो। ऐसा पाठ्यक्रम ही उसके लिए उपयोगी और विकास में सहायक सिद्ध हो सकता है।

पाठ्यक्रम लचीला व परिवर्तनशील हो - फ्रेरे का मानना है कि समाज निरन्तर परिवर्तनशील है। ज्ञान मानव व समाज की अन्तः क्रिया के द्वारा ही उत्पन्न होता है अतः ज्ञान कभी स्थिर नही हो सकता। उसे निरन्तर परिवर्तनशील होना ही चाहिए। पाठ्यक्रम में बदलती हुई परिस्थितियों के साथ आवश्यक व उपयोगी तत्वों का समावेश किया जाना चाहिए।

विज्ञान मानुषीकरण में सहायक हो बाधक नही - फ्रेरे शिक्षा के द्वारा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास को आवश्यक मानते हैं। उनका कहना है कि विज्ञान को लोकोपयोगी और जन-कल्याणकारी रूप में प्रयुक्त किया जाना चाहिए न कि संहारक व विध्वंशकारी रूप में। वे कहते हैं कि उत्पीड़कों के हाथ में विज्ञान और प्रौद्योगिकी मनुष्यों को चीजों में बदल कर रख देने का साधन बनते हैं। अतः उनके द्वारा विज्ञान व प्रौद्योगिकी के इस दुरुपयोग को रोका जाना आवश्यक है। उनका मानना है कि समस्त वैज्ञानिक विषयों का शिक्षण करते समय शिक्षक को उसकी सामाजिक उपयोगिता पर भी अवश्य चर्चा करनी चाहिए । माईल्स के साथ एक वार्तालाप में वे प्रश्न करते हैं कि - "क्या सामाजिक परिवेश पर विचार किये बगैर जीव विज्ञान पढ़ाना सम्भव है ? क्या शोषण, प्रभुत्व, आजादी व लोकतंत्र पर विचार विमर्श किये बिना जीवन के बारे में अध्ययन या विचार विमर्श सम्भव है।"[23] वे कहते हैं कि ऐसा कोई भी विज्ञान नही है जिसका वरदान या अभिशाप के रूप में प्रयोग न किया जा सके। जिसके पास शक्ति है और जो इसका उपयोग करना चाहता है वह विज्ञान का उपयोग कर सकता है।

पाठ्यक्रम संकीर्णतावाद से मुक्त हो - फ्रेरे की दृष्टि में संकीर्णतावाद, चाहे वह किसी भी रूप में हो, मानवमुक्ति में बाधक है। वह मतांधता, अविवेक और अंधानुकरण को जन्म देता है। इस प्रकार फ्रेरे किसी भी प्रकार के संकीर्णतावाद को जन्म देने वाली पाठयवस्तु का पुरजोर विरोध करते हैं। मानव-चेतना को कुन्द करने

वाला तथा मानव-चिन्तन को संकीर्ण बनाने वाला पाठ्यक्रम उन्हे लेशमात्र भी स्वीकार्य नही है।

विषय वस्तु के साथ उसके इतिहास की जानकारी दी जाये- फ्रेरे का मत है कि किसी भी विषय में केवल विषय-वस्तु की ही नही उसके इतिहास, परिप्रेक्ष्य व पृष्ठभूमि की पूरी जानकारी भी दी जानी चाहिए । फ्रेरे मानते हैं कि सामाजिक- राजनीतिक- आर्थिक परिप्रेक्ष्य के बगैर किसी विषय विशेष का ज्ञान अधूरा ज्ञान ही होगा, इससे शिक्षार्थी का एकांगी विकास होगा सर्वांगीण नहीं।

मानवीय समस्याओं पर गहन विचार- वस्तुतः शिक्षा मनुष्य के लिए है जो समाज में रहता है। नित नई समस्याएँ मानव के सम्मुख आती हैं। शिक्षा मुनष्य को "निश्चित समस्याओं के निश्चित समाधान" बताने वाली न होकर उसमें 'समस्या समाधान की क्षमता' उत्पन्न करने वाली होनी चाहिए। शिक्षार्थी समस्या- अंधता के शिकार न हों अपितु उनके प्रति संवेदनशीलता व ग्राह्यता रखें। वे समस्या का बोध कर उसके निराकरण की दिशा में सम्यक चिन्तन व वांछित कर्म करें। पाठ्यक्रम में इन गुणों के विकास के लिए समुचित प्रावधान होना चाहिए।

संस्कृति की शिक्षा - फ्रेरे पाठ्यक्रम में सांस्कृतिक विकास को प्रेरणा देने वाले तत्वों को शामिल किये जाने की आवश्यकता पर भी बल देते हैं। स्थान विशेष की संस्कृति के प्रति लोगों में सम्मानपूर्ण भाव होने चाहिएँ, वे ये तो मानते हैं पर साथ ही यह सचेत करते हैं कि संस्कृति की कमियों को तथा विकास के अवरोधक तत्वों को पहचानते हुए उन्हें दूर करने के प्रयास भी निरन्तर किये जाने चाहिएँ।

मानवीय मूल्यों का संवर्धन - फ्रेरे सच्चे मानवतावादी चिन्तक थे । शिक्षा मानव को उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओं के चरम तक पहुँचने में सहायक बने, वे यही कामना व इच्छा रखते थे। प्रेम, दया, परोपकार, सहिष्णुता, सद्भावना, विनम्रता, निश्छलता, सहानुभूति व समानुभूति जैसे मूल्य-प्रत्ययों को वे उत्पीड़कों के शब्दकोषीय अर्थों के

चंगुल से निकाल कर एक नूतन अर्थ प्रदान करते हैं। फ्रेरे एक सच्चे मानव में इन गुणों का होना अत्यावश्यक मानते हैं। उनकी दृष्टि में वही शिक्षा सच्ची शिक्षा है जो मानव में इन गुणों का विकास करे, उसे स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करे, अधिकारों के लिए लड़ने का साहस दे, उत्पीड़न व गुलामी की जंजीरों को तोड़ने की शक्ति दे और इस प्रकार अन्ततः मानव के लिए मुक्ति का द्वार खोले ।

फ्रेरे ने पाठ्यक्रम में आमूलचूल परिवर्तन की बात की है वे अपने जीवन के प्रारम्भिक दौर में ईसामसीह से प्रभावित थे और धार्मिक पुस्तकों के पठन-पाठन को आवश्यक समझते थे। बाद में वे मार्क्स की ओर आकर्षित हुए किन्तु मार्क्स के सिद्धान्तों को वे आँख मूँद कर स्वीकार नही कर पाए। मार्क्स की अनेक बातों से फ्रेरे असहमत थे और उनकी आलोचना भी उन्होंने की है। वे मार्क्स से प्रेरित हुए और उन्होंने सभी छात्रों को मार्क्स के अनुसार सामाजिक अर्न्तविरोधों को समझने का परामर्श दिया।

फ्रेरे सार्त्र, एरिक फ्रॉम, माओ, मार्टिन लूथर किंग तथा ग्रामशी के विचारों से भी काफी प्रभावित थे। फ्रांच, फैनन की पुस्तक ''द रैचिड ऑफ द अर्थ, अलबर्ट मैमी की 'द कोलोनाईजर एण्ड द कोलोनाईज्ड तथा ले विगोत्स्की की 'थॉट एण्ड लेंग्वेज' नामक पुस्तक से वे अत्यधिक प्रभावित हुए। वे छात्रों को इन्हें पढ़ने की सलाह देते हैं। फ्रेरे पाठ्यक्रम को पुनर्गठित करना चाहते थे । इसके लिए उन्होंने कहा कि दार्शनिकों, कला शिक्षकों, भौतिक विज्ञानियों, गणितज्ञों व समाजशास्त्रियों की सहायता ली जानी चाहिए । पाठ्यक्रम को विस्तृत और उपयोगी बनाने के लिए इनकी सहायता निश्चित रूप से कारगर सिद्ध होगी । शिक्षा, कला, नीतिशास्त्र, यौन शास्त्र, मानव अधिकार, भाषा विज्ञान, भाषा का समाज शास्त्र, दर्शन एवं व्याकरण जैसी ज्ञान की शाखाओं पर चर्चा को वे आवश्यक मानते थे जिससे पाठ्यक्रम की पुनर्रचना ठीक से हो सके। वे कहते हैं कि पाठ्यक्रम में अल्पसंख्यकों के मूल्यों को भी शामिल किया जाना चाहिए ।

गणित, इतिहास, भूगोल व राजनीतिशास्त्र को पाठ्यक्रम में रखना फ्रेरे जरूरी मानते हैं। परन्तु साथ ही वे यह सुझाव भी देते हैं कि इन्हें सरल व रोचक ढंग से पढ़ाया जाना चाहिए । पाठ्यक्रम विकसित करते समय छात्रों के पूर्व ज्ञान व जीवन्त अनुभवों को अवश्य ध्यान रखा जाए ।

फ्रेरे कहते हैं कि सामान्य वर्ग के लिए जो पाठ्यक्रम आवश्यक होता है, सम्भव है प्रभुत्व सम्पन्न लोगों के लिए वह हितकारी न हो । अतः वे नही चाहेंगे कि पाठ्यक्रम निर्माण में उनकी कोई भूमिका हो। यह प्रगतिशील शिक्षाविदों का ही कर्तव्य है कि वे आम जनता व उत्पीड़ित वर्ग के हितों को ध्यान रखने वाला पाठ्यक्रम निर्मित कर उसे क्रियान्वित करें। पाठ्यक्रम में समाजवाद व साम्यवाद के विचारों को आदरणीय स्थान दिया जाना चाहिए । फ्रेरे लोकतंत्र के वास्तविक स्वरूप को पाठ्यक्रम में शामिल करना चाहते हैं न कि उसके वर्तमान विकृत रूप को ।

3.4 शिक्षण पद्धतियाँः-

फ्रेरे शिक्षा की उस पद्धति को श्रेष्ठ मानते हैं जिसमें शिक्षक व छात्र दोनों ही कर्ता की भूमिका का निर्वहन करते हैं। कर्ता से उनका तात्पर्य है - ऐसे मनुष्य, जो जानते हैं और कर्म करते हैं, उन मनुष्य रूपी वस्तुओं से भिन्न होते हैं, जिन्हें जाना जाता है, और जिन पर कर्म किया जाता है। आलोचनात्मक चिंतन द्वारा पदार्थ का अनावरण और उसका शिक्षक-छात्रों के संयुक्त कर्म के द्वारा परिवर्तन इस पद्धति का मूल है। फ्रेरे कहते हैं-

''प्रचार, प्रबंधन और चालबाजी तो प्रभुत्व के हथियार हैं। ये उनके पुनर्मानुषीकरण के औजार नहीं हो सकते। इसका एकमात्र प्रभावी औजार है, मनुष्य बनाने वाला शिक्षाशास्त्र, जिसके जरिए क्रान्तिकारी नेतृत्व उत्पीड़ितों के साथ संवाद का एक स्थायी संबध बनाता है। मनुष्य बनाने वाले शिक्षाशास्त्र में शिक्षा की पद्धति ऐसा औजार नही रहती जिससे शिक्षक (यहां, क्रान्तिकारी नेतृत्व) छात्रों (उत्पीड़ितों)

के साथ कोई चालबाजी कर सकें, क्योंकि इसकी पद्धति स्वयं छात्रों की चेतना को व्यक्त करती है।''[23]

चेतना एक पद्धति है - फ्रेरे अल्वारो वावीरा पिंटो की विज्ञान के दर्शन से सम्बन्धित पुस्तक से पद्धति की परिभाषा को उद्धृत करते हुए उसे समस्या उठाऊ शिक्षा से सम्बन्धित करते हैं। पिंटों के अनुसार पद्धति वास्तव में कर्मो में व्यक्त होने वाली चेतना का बाह्य रूप है, जो चेतना के आधारभूत तत्व संकल्प-शीलता का गुण ग्रहण करता है। चेतना का सार है विश्व से सपृंक्ति, जो एक स्थायी और अपरिहार्य व्यवहार है। तद्नुसार, चेतना सारतः किसी ऐसी चीज की 'ओर का रास्ता' है, जो इससे अलग, इसके बाहर तथा इसे घेरे रहने वाली चीज है, और जिसे यह अपनी उद्भावनात्मक क्षमता से समझती है। इस प्रकार यदि इसे शब्द के अत्यंत सामान्य अर्थ में परिभाषित किया जाये तो चेतना एक पद्धति है।[24]

फ्रेरे के विचार से क्रान्तिकारी नेतृत्व के लिए आवश्यक है कि वह सह -संकल्पशील शिक्षा का व्यवहार करे। इसमें शिक्षक और छात्र (नेतृत्व और जनता) दोनों यथार्थ के प्रति संकल्पशील होते हैं। दोनों कर्ता होते हैं। दोनों मिलकर न केवल उस यथार्थ का अनावरण करते हैं, और इस प्रकार आलोचनात्मक ढंग से उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं, बल्कि उस ज्ञान के पुनर्सृर्जन में भी दोनों सह -संकल्पशील कर्ता होते हैं। साझे चिंतन और कर्म के जरिए वे ज्यों ही यह ज्ञान प्राप्त करते हैं, त्यों ही वे पाते हैं कि वे इसके स्थायी पुनसर्जक भी हैं। इस रूप में अपनी मुक्ति के संघर्ष में उत्पीड़ितों की उपस्थिति वैसी ही होगी, जैसे होनी चाहिए। छद्म सहभागिता वाली नहीं, बल्कि प्रतिबद्ध संलग्नता वाली।

विषय-वस्तु का ऐतिहासिक-सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुतीकरण एवं सहसम्बन्ध स्थापना- शिक्षा जीवन का विकास करने की प्रक्रिया है जीवन का सम्पूर्णता में विकास करने के लिए शिक्षा को भी समग्रता के रूप में देखना आवश्यक है। ज्ञान का अलग-अलग विषयों के रूप में विभाजन केवल शैक्षिक व्यवस्था में सुविधा की दृष्टि से किया

जाता है। वस्तुतः ज्ञान एक इकाई है। अतः विषय विशेष का शिक्षण करते समय उस विषय का अन्य विषयों के साथ सह-सम्बन्ध अवश्य स्थापित किया जाना चाहिए। इसी तथ्य को उदाहरण के द्वारा स्पष्ट करते हुए फ्रेरे कहते हैं-

"सबसे पहले, मैं वैज्ञानिक वस्तु के रूप में विषय-वस्तु को ऐतिहासिक और सामाजिक संदर्भ से अलग करके नहीं देखता। मैं विद्यार्थियों को उनके सामाजिक परिवेश के भीतर पढ़ाना चाहता हूँ। मै जानता हूँ कि मै विषय को अधूरा नहीं छोड़ सकता। उदाहरण के लिए, यदि विद्यार्थी मेरे पास जीव विज्ञान पढ़ने आयें तो मैं केवल देश की राजनीतिक परिस्थिति के बारे में बात करता रहूँ, यह भी सही नहीं है। यदि जीव विज्ञान के विद्यार्थियों को जीवन विज्ञान न पढ़ाकर यह पढ़ाने लगूं कि ब्राजील में राजनीतिक स्थिति बड़ी भयावह है, तो विद्यार्थी को यह पूछने का पूरा अधिकार है कि पाओलो, हम यहां जीव विज्ञान पढ़ने आये हैं। मैं यह नहीं कर सकता। लेकिन दूसरी और यह भी नहीं कर सकता कि ऐतिहासिक और सामाजिक परिप्रेक्ष्य को अधर में छोड़कर जीव विज्ञान ही पढ़ाता रहूँ। मेरा प्रश्न यहाँ यह है कि विद्यार्थियों को किस तरह यह बताया जाये कि जीव विज्ञान नामक विषय अपने-आपमें कुछ नहीं है। यदि कोई शिक्षक इस ढंग से जीवन विज्ञान, भौतिक विज्ञान या अन्य विषय पढ़ाता है तो विद्यार्थी की आलोचनात्मक समझ बढ़ती है और वह यह जान पाता है कि जीव विज्ञान और अन्य विषय सामाजिक जीवन से अलग नहीं हैं। यह मेरी माँग है। यहाँ दो जोखिम तो अवश्य रहते हैं। विषय को अधर में छोड़कर केवल राजनीतिक समस्याओं पर बल देने का जोखिम, और विषय के राजनीतिक पक्ष को ध्यान में न रखते हुए केवल विषय पढ़ाने का जोखिम। मेरे लिए दोनों ही दृष्टिकोण गलत हैं और यह प्रश्न शिक्षा की प्रक्रिया की प्रकृति या राजनीति की प्रक्रिया के कारण सामने आता है। जीव विज्ञान के शिक्षक को जीव विज्ञान का ज्ञान अवश्य होना चाहिए"[25] वे प्रश्न करते हैं कि क्या केवल जीव विज्ञान पढ़ाना संभव है? क्या सामाजिक परिवेश पर विचार विमर्श किए बगैर जीव विज्ञान पढ़ाना

संभव है? क्या शोषण, प्रभुत्व, आजादी, लोकतंत्र आदि पर विचार-विमर्श किए बिना जीवन के बारे में अध्ययन करना या विचार-विमर्श करना संभव है? फ्रेरे को लगता है कि यह असंभव है, लेकिन वे यह यह भी मानते है कि यदि वे जीव विज्ञान के शिक्षक हैं तो उन्हें जीव विज्ञान अवश्य पढ़ाना चाहिए।

फ्रेरे इस सम्बन्ध में शिक्षक की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वह जीव विज्ञान के साथ -साथ शिक्षा के इतिहास की बात कर सकता है। दर्शन, धर्मशास्त्र, गणित या किसी भी विषय की बात कर सकता है। यह भूमिका शिक्षकों के लिए समस्यापूर्ण है। इसका सम्बन्ध उनकी योग्यता एवं निपुणता, राजनीतिक स्पष्टता, उनके लगातार सोचने और इस प्रक्रिया की उनकी समझ से है। उनके मतानुसार यह एक जीव विज्ञान के शिक्षक द्वारा अपने छात्रों पर अपने राजनीतिक विचारों को लादने का प्रश्न नहीं है, बल्कि यह शिक्षक के लिए किसी विषय के बारे में वृहद फलक पर विचार-विमर्श करने का और यहां तक कि अपने पक्ष को अभिव्यक्त करने का मसला है। तब वह पाता है कि यह तटस्थ बने रहने की नहीं, बल्कि अलग ढंग से काम करने की समस्या है।

विचारों का आरोपण नहीं अपितु अन्तः सम्प्रेषण व सहभागिता - फ्रेरे शिक्षण की एकतान्त्रिक विधि का विरोध करते हैं। वे स्वीकारते हैं कि शिक्षक किसी मुद्दे पर एक निजी विचारधारा या मत रखने वाला हो सकता है, परन्तु उन्हें अधिगमकर्ता पर थोपना वे अनुचित मानते हैं। वे स्वतंत्र विचार-विमर्श की वकालत करते हैं। इस विमर्श में शिक्षक व छात्र दोनों सहगामी होते हैं, कर्ता के रूप में भाग लेते हैं। शिक्षक अपने व्यापक ज्ञान व अनुभवों को छात्रों के साथ बाँटता है, विषय पर विभिन्न कोणों से ज्यादा से ज्यादा प्रकाश डालता है। फ्रेरे का मानना है कि शिक्षक द्वारा अपने विचार को लोगों पर आरोपित नहीं किया जाना चाहिए। शिक्षक जो भी कुछ पढ़ा रहे हैं, उसे सामाजिक संदर्भ में रखने की जवाब देही शिक्षक ही की है, समाज से इसके सम्बन्ध को ढूंढ निकालने की जवाबदेही, यह कहना भर नहीं कि

जनता तथा मानवता से इसका सम्बन्ध नहीं है। क्योंकि यह सम्बन्ध है। ऐसा कोई भी विज्ञान नही है जिसका वरदान या अभिशाप के रूप में प्रयोग न किया जा सके। जिसके पास शक्ति है और जो इसका उपयोग करना चाहता है वह विज्ञान का उपयोग कर सकता है। यदि शिक्षक लोगों को विज्ञान के बारे में जानकारी देता है और इस तथ्य से परिचित नहीं कराता है, तो वह यही कर रहा होता है कि, 'मैं युद्ध से पीछे हट रहा हूँ। मैं युद्ध से, इसमें निहित नैतिकता के विचार विमर्श से कदम पीछे खींच रहा हूँ। मै तथ्यों से मतलब रखता हूँ।' इसका मतलब यह है कि वह शक्तिधरों के समक्ष आत्मसमर्पण कर चुका है। तटस्थ रहने का अर्थ यही है कि अपने काम से शिक्षक को लगाव नहीं है। वे पूछते हैं कि क्या यदि पेंटागन आपके आविष्कारों का उपयोग कर रहा है तो यह समस्या नहीं है लेकिन वह अपनी जिम्मेदारियों से बच नहीं सकता- इसके बावजूद कि वह क्या पढ़ाता है, या उसका विषय क्या है, या उसकी निपुणता कैसी है। शिक्षक के सभी योगदानों का एक सामाजिक परिप्रेक्ष्य होता है और इसे किसी पर आरोपित करने का प्रयत्न करना अप्रभावी होता है। छात्रों के साथ सहभागिता एक बात है परन्तु आरोपित करना दूसरी बात। विषय पर अपने क्षमता के अनुसार ज्यादा से ज्यादा से रोशनी डालना और अपने विचारों को लोगों के साथ बाँटना फ्रेरे की दृष्टि में शिक्षक की जरूरी जवाबदेही है।

वे कहते है कि छात्रों से एकजुटता विकसित करने हेतु शिक्षक को छात्रों से मुक्त संप्रेषण करना चाहिए। प्रगतिशील शिक्षक इसमें नहीं घबराता है। चूंकि वह अपने पर विश्वास रखता है और अपने छात्रों पर भी। फ्रेरे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं- कि शिक्षक अपने छात्रों पर न तो स्वयं को थोप सकता है, न उनके साथ महज सह -अस्तित्व बना कर रह सकता है। उसे अपने छात्रों के साथ एकजुट होना चाहिए और एकजुटता के लिए सच्चा संप्रेषण आवश्यक है। लेकिन बैंकीय अवधारणा को लेकर चलने वाला शिक्षक संप्रेषण से डरता है और उसे रोकता है।

फ्रेरे का विश्वास है कि मानव -जीवन संप्रेषण से ही सार्थक बनता है। शिक्षक का चिंतन छात्रों के चिंतन की प्रामणिकता से ही प्रमाणीकृत होता है। शिक्षक न तो अपने छात्रों के लिए चिंतन कर सकता है और न ही अपने विचारों को उन पर थोप सकता है। प्रामाणिक चिंतन अर्थात यथार्थ से सरोकार रखने वाला चिंतन, हाथी दांत की मीनारों के एकाकीपन में नहीं, संप्रेषण में ही संभव है। वे जोर देकर कहते है कि यदि यह सच है कि विचार विश्व पर किये गये कार्य से निकलने पर ही अर्थवान बनता है, तो छात्रों का शिक्षकों के अधीन रहने का प्रश्न ही नहीं उठता।

आलोचना-चिन्तन की प्रक्रिया में दक्षता उत्पन्न करना- फ्रेरे शिक्षक के माध्यम से छात्रों की चिन्तन प्रक्रिया को उद्दीप्त करके उन्हें आलोचनात्मक ढंग से सोचना सिखाने पर बल देते हैं। समस्याओं को छात्रों के सम्मुख स्वाभाविक रूप से रखने, उनमें समस्याओं के प्रति संवेदनशीलता व ग्राह्यता विकसित करने तथा इसमें उत्पन्न होने वाले प्रश्नों के उत्तरों की खोज की दिशा में चिन्तन करने हेतु छात्रों के लिए यह अत्यावश्यक है। फ्रेरे कहते हैं कि- आलोचनात्मक ढंग से सोचा जाए, यह सिखाना बहुत आवश्यक है परन्तु केवल सोचने से यह सिखाना असंभव है कि सोचना कैसे चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी चीज के बारे में सोचते हुए और फिर किसी चीज के बारे में जानते हुए मुझे पढ़ाना है कि सोचा कैसे जाए''

फ्रेरे के विचार से आलोचनात्मक चिंतन के बारे में केवल भाषण देकर लोगों में आलोचनात्मक सोच विकसित नही की जा सकती और न इस ढंग से उन्हें पढ़ाया जा सकता है। विद्यार्थियों को आलोचनात्मक ढंग से प्रेरित करने हेतु उनके सामने कुछ उदाहरण रखने चाहिएँ। वे शिक्षकों से कहते हैं कि आप मिलजुलकर लोगों के साथ विषय पर विचार -विमर्श कीजिए और अपने विद्यार्थियों की आवश्यकताओं को समझते हुए निश्चित रूप से विषय की सीमा से बाहर निकालकर भी चर्चा कीजिए। फ्रेरे का मत है कि छात्रों को 'स्थितियों व दशाओं का मूल्यांकन करने, उसके गुण -दोष देखने, 'ऐसा क्यों? के रूप में उनकी पड़ताल करने के अवसर दिये जाने

चाहिएं। छात्रों के पूर्व ज्ञान और ठोस अनुभवों से जुड़ी स्मृतियों को जागृत किया जाना चाहिए। उन्हें इस आवश्यकता की अनुभूति करायी जानी चाहिए कि नये ढंग से सोचना और नई दिशाएँ अपनाना क्योंकर जरूरी है। आलोचनात्मक -चिन्तन द्वारा समस्याओं का समाधान खोजना तथा तत्पश्चात् मूर्त रूप से नये पथ का निर्माण करना ये ऐसे गुण हैं जो मुक्ति का द्वार खोलने में लोगों को सक्षम बनायेंगे।

प्रश्न पूछना हस्तक्षेप का कारगर तरीका है - फ्रेरे प्रश्नोत्तर प्रविष्धि के द्वारा शिक्षण को बहुत कारगार मानते हैं। इसे वे हस्तक्षेप का सर्वोत्तम तरीका बताते हैं। उनका मानना है कि प्रश्न के माध्यम से अधिगमकर्ता को चिन्तन के लिए उत्प्रेरित किया जा सकता है। कब, क्यों, कहाँ व कैसे उन्हें किसी विषय पर आलोचनात्मक ढंग से सोचने हेतु दिशा प्रदान करते हैं। प्रश्न पूछने का मन्तव्य यह नहीं होता कि शिक्षक तो उस बात को जानता है, पर छात्र नहीं। यह छात्रों के ज्ञान का परीक्षण मात्र नहीं है। वस्तुतः प्रश्न उस वस्तु का ऊपरी हिस्सा होता है जिसे शिक्षक लोगों (छात्रों) के सामने विचारार्थ रख रहा होता है। वह उस विषय पर व्याख्यान देने के बजाय उसी से निकला हुआ प्रश्न पूछता है तथा उन्हें चिन्तन व समस्या समाधान को प्रेरित करता है।

फ्रेरे माइल्स हार्टन के साथ अपने वार्तालाप में उनके इस विचार से सहमति व्यक्त करते हैं कि 'स्वयं शिखर पर चढ़ने के बदले आप उन्हें शिखर पर चढ़ायें।'

अध्ययन - एक प्रकार के अनुसंधान व सृजन की प्रक्रिया है - फ्रेरे पढ़ाई लिखाई के कार्य को एक गम्भीर विषय मानते हैं। उनका कहना है कि शिक्षक को छात्रों के सम्मुख इसके महत्व को, इसके निहितार्थों को पूर्णतः स्पष्ट कर देना चाहिए ताकि वे इसे केवल मौज-मस्ती व समय काटने के शगल के रूप में न लें (जैसा कि आजकल स्कूल कॉलेजों में नजर आता है)। इसे स्पष्टता प्रदान करते हुए फ्रेरे कहते हैं।

"मुझे लगता है कि लिखने और पढ़ने के सभी प्रकार के निहितार्थों की चर्चा विद्यार्थियों से करनी चाहिए। मुझे लगता है कि उनके समक्ष इसे स्पष्ट कर देना चाहिए कि यह सुझाव देना अनुचित है कि पढ़ाई आसान काम है। उन्हें यह न बताना भूल होगी कि पढ़ना एक प्रकार का अनुसंधान है। इस प्रकार अध्ययन का मतलब कुछ खोजना होता है। और इसी खोज की प्रक्रिया में एक अपना मजा है और इसमें सृजन व पुनर्सृजन के सुखद क्षण पैदा होते हैं। नहीं, यह आसान नहीं है, लेकिन इसे करना अच्छा है। हमें विद्यार्थियों के सामने इस सृजनात्मक क्षण को पकड़ने की चुनौती रखनी चाहिए।"[27]

पढ़ना-लिखना यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है - प्रगतिशील, वैज्ञानिक व आलोचनात्मक सोच के समर्थक होने के नाते फ्रेरे किसी भी प्रकार की रूढ़िवादिता, यान्त्रिकता व नियमबद्धता को अनुचित ठहराते हैं। विशेषकर पढ़ने-लिखने की प्रक्रिया को कठोर बंधनों-नियमों में बांधने और उसे मशीनीकृत करने का वे पुरजोर विरोध करते हैं। सीखना उनके अनुसार ऐसा है जैसा कि प्रेम का घटित हो जाना, पूर्णतः सहज, स्वाभाविक आकस्मिक रूप से। लचीला व व्यापक दृष्टिकोण से युक्त खुला मस्तिष्क ही नये विचारों को जन्म देता है। परम्परा तोड़ना यद्यपि सरल कार्य नहीं है परन्तु नयी पगडंड़ियों के निर्माण के लिए बंधी बंधाई लीकों से हटकर चलना जरूरी है। नवोद्भिद् के अंकुरण के लिए कठोर आवरण का टूटना आवश्यक है। इसी बात को फ्रेरे ने अपने शब्दों में इस प्रकार कहा है -

"उन्हें (लड़कों को) बार-बार यह बताना चाहिए कि कभी भी अपने दिमाग को या आदतों को बिलकुल नियमबद्ध न करें, कि वे 10 ओर 11 बजे के बीच में ही पढ़ेंगे और 2 से 3 बजे के बीच ही लिखेंगे। नहीं, ऐसा नहीं होता। यह तो प्रेम करने जैसा है जो किसी बुधवार और शनिवार से सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। इसकी कोई समय-तालिका नहीं होती। हमारे समाज की एक एक बड़ी बीमारी यह है कि वह मस्तिष्क को नियन्त्रित ढांचे में ढालने का प्रयास करता है। यदि आप परंपरा

को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, तो हो सकता है कि आपका मान घट जाये। परन्तु सम्बन्ध विच्छेद के बिना अर्थात पुराने को तोड़े बिना, किसी भी प्रकार के द्वंद्व के बिना, जिसमें आपको निर्णय लेना होता है, सृजनात्मकता पैदा हो ही नहीं सकती। मेरा मानना है कि सम्बन्ध विच्छेद के बिना मानव अस्तित्व ही संभव नहीं है।''[28]

स्वाध्याय यथार्थ को सैद्धान्तिक रूप से समझना है - फ्रेरे के अपने जीवन के विकास में स्वाध्याय की महत्वपूर्ण भूमिका रही थी। उनका मानना है कि एक शिक्षक के रूप में हमें कभी भी अपना अनुभव विद्यार्थियों पर आरोपित नहीं करना चाहिए। वे स्वानुभव व स्वाध्याय पर बहुत बल देते हैं। इस सम्बन्ध में वे कहते हैं कि यह हम नहीं कर सकते हैं। उनको अपना अनुभव खुद अर्जित करना होगा। लेकिन अपने विद्यार्थियों को कम से कम एक सत्र में दो बातें तो बता ही दी जानी चाहियें कि हमने कैसे अध्ययन किया है, और कैसे करते हैं। वे स्वयं अपने विद्यार्थियों को यह बताया करते थे। वे स्नातक कक्षा के विद्यार्थियों को पुस्तकें पढ़कर सुनाया करते थे, वे इसे इसलिए जरूरी मानते थे क्योंकि कई बार विद्यार्थी यह नहीं जानते हैं कि पढ़ने का अर्थ क्या है। शिक्षकों से वे कहते हैं कि आप विद्यार्थियों को उदाहरण देकर समझाइये कि किसी पाठ को पढ़ने का अर्थ क्या होता है। एक घटना का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं - ''मुझे याद है कि एक दिन एक विद्यार्थी मेरे पास आई (उसकी कक्षा में मैने विद्यार्थियों के साथ पठन कार्य किया था) और कहने लगी '' पाओलो, पहली बार जब मैंने पेडागॉगी ऑफ दि ऑप्रेस्ड पढ़ी तो मुझे बहुत बुरा लगा, मुझे पुस्तक अच्छी नहीं लगी। मुझे लगा कि मेरे लिए इस पुस्तक को समझ पाना ही कठिन है। अब जाकर मुझे पता चला है कि मै जानती ही नहीं थी कि पुस्तक पढ़ी कैसे जाती है, अब मैं सीख रही हूँ कि पढ़ने का अर्थ क्या होता है।''

उनका मानना है कि विद्यार्थी इसलिए पढ़ते हैं क्योंकि उन्हें कोई पाठ पढ़ना ही है और उसका प्रसंग उनकी समझ से बाहर होता है। पुस्तकें जीवन और यथार्थ

से यदि जुड़ी हों तो उनसे एक सैद्धान्तिक आधार प्राप्त करने में मदद मिलती है। यथार्थ से परिचय कराने वाली ऐसी पुस्तके फ्रेरे को रोमांचित करती हैं। वे स्वीकार करते हैं कि -

"पुस्तक पढ़ते समय मैं तब रोमांचित हो उठता हूँ जब मुझे उसमें कोई ऐसी बात मिलती है जो जीवन और यथार्थ को समझने की मेरी दृष्टि को बेहतर तथा ठोस बनाती है। दूसरे शब्दों में, पुस्तक मेरे लिए उस हद तक महत्वपूर्ण है कि इसमें मुझे एक सैद्धान्तिक औजार प्राप्त होता है, जिसकी सहायता से मैं यथार्थ को अपने रू-ब-रू और अधिक स्पष्ट रूप से देख सकता हूँ। शब्दों को पढ़ने और दुनिया को पढ़ने के बीच मैने यही सम्बन्ध स्थापित करने की कोशिश की है। मै हमेशा से यथार्थ को पढ़ने का प्रयास करता रहा परन्तु यथार्थ को पढ़ने की प्रक्रिया यह भी मांग करती है कि एक सैद्धान्तिक समझ विकसित हो कि यथार्थ में हो क्या रहा है। मैं पुस्तकें इसलिए पढ़ता हूँ कि मैं यथार्थ को ठीक से पढ़ सकूँ।"[29]

पुस्तक अध्ययन को सार्थक बनाने हेतु फ्रेरे कहते हैं कि शिक्षक को पुस्तक लेखक की पृष्ठभूमि, उसके देश व काल के संदर्भ तथा पाठ्य-लेखक के बीच सम्बन्ध के स्वरूप से भी छात्रों को अवगत कराना चाहिए तभी उस पुस्तक को मर्म समझ पाना उनके लिए पूरी तरह संभव होगा। वे मानते हैं कि उनके निर्माण की प्रक्रिया में कई पुस्तकों का योगदान रहा। इसी प्रकार कई पुस्तकों ने विभिन्न परिघटनाओं को समझने के लिए उन्हें नई दृष्टि प्रदान की। वे कहते हैं, "मैं सीधे-सीधे विद्यार्थी को यह नहीं कह सकता कि तुम ग्रामशी को पढ़ो। मै ग्रामशी के समय और काल के बारे में बताना भी आवश्यक समझता हूँ। मैं तुरन्त ग्रामशी को पुर्तगाली में अनुवाद नहीं कर सकता क्योंकि इस अनुवाद के लिए मुझे यह जानना जरूरी है कि उन्होंने किस परिप्रेक्ष्य में लिखा और सोचा था। उनको पढ़ते समय कई बार मैने पाया कि उनसे बेहतर मैं खुद इन बातों को नहीं रख पाता। उन्हें पढ़ना मेरे लिए हमेशा सुखदायी रहा।"[30]

पढ़ना ज्ञान के सौन्दर्य की उपासना है - पुस्तक पढ़ना फ्रेरे के लिए एक आनन्द देने वाली क्रिया थी। उनका अनुभव बताता है कि परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए पढ़ना एक कष्टदायक, बोझिल व उबाऊ काम हो सकता है, परन्तु 'ज्ञान के सौन्दर्य की खोज' के लिए पढ़ना एक विलक्षण सुख देने वाला अनुभव होता है। माइल्स हार्टन के साथ बातचीत करते हुए फ्रेरे कहते हैं -

"मैं पढ़ने और आनन्द उठाने, और परीक्षा के लिए पढ़ने के सम्बन्ध में आपसे कुछ बाते करना चाहूँगा। उदाहरणस्वरूप, मैं पढ़ाई इसलिए करता हूँ कि पढ़ने में और आनन्द उठाने में मैं भेद नहीं कर पाता। लेकिन मुझे किसी भी श्रेष्ठ उपन्यासकार को पढ़ने में उतना ही आनन्द आएगा, जितना ग्रामशी को। आप जानते हैं कि मेरे लिए किसी भी पाठ को पढ़ना शुरू करना बड़ा कठिन और मुश्किल काम होता है, यह आसान नहीं है। शुरूआत आसान नहीं होती। मेरे समझ में शिक्षक की मौलिक भूमिका इस बात में निहित होती है कि वे विद्यार्थियों को बताए कि इन दिक्कतों के बीच सुख और आनन्द के क्षण छिपे हैं। यदि मैं कोई उपन्यास पढ़ रहा होता हूँ तो मुझे पता ही नहीं चलता कि मैं उसे समाप्त कैसे करूं। एक प्रकार से मैं पुस्तक में वर्णित सौंदर्य का पुनर्लेखन कर रहा होता हूँ। जब मैं ग्रामशी, वाइगोट्सकी और गिरौक्स पढ़ रहा होता हूँ या आज सुबह जब मैं आपकी (माईल्स हार्टन) लिखी हुई चीजों को पढ़ रहा था तो मैं ज्ञान के सौन्दर्य की खोज भी कर रहा था, जो उसमें छुपी है। पुस्तक पढ़ते समय मैं शब्दों के बीच में कुछ ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करता हूँ, जिससे न केवल मुझे पढ़ने में मदद मिलती है, बल्कि यह समझने में भी मदद मिलती है कि मैं क्या पढ़ रहा हूँ। इसके अलावा मैं जो पाठ या पुस्तक पढ़ रहा होता हूँ उससे आगे जाकर सोचने और समझने का भी प्रयास करता हूँ। यह सुखद है। मुझे लिखने-पढ़ने, पढ़ाने और ज्ञान हासिल करने में सुखद अनुभूति होती है। मैं इनमें अंतर नहीं कर सकता किसी चीज को जानना मेरे जिस तटस्थ क्रिया

नहीं है, न केवल राजनीतिक दृष्टिकोण से, बल्कि शारीरिक और भावानात्मक दृष्टि से भी। यह भावना भावुकता और रूचि से परिपूर्ण है।''[31]

फ्रेरे को जब शिक्षण का दायित्व सौंपा गया तो उन्होंने इसे चुनौती के रूप में लेते हुए स्वाध्याय के बल पर पुर्तगाली व ब्राजीली व्याकरण तथा भाषा शास्त्र विषयों में महारत हासिल की उन्होंने महसूस किया कि पढ़ना एक बड़ी ही प्यारी घटना है। वे याद करते हैं कि जब तक वे अविवाहित थे वे एक छोटे से घर में रहते थे। जहां वे रात के दो बजे तक पढ़ते थे, नोट्स बनाते थे और विचार करते थे। कभी-कभी उनकी माँ आती और कहती, ''बहुत हो गया, जाओ सो जाओ'' परन्तु वे विषय में बिलकुल शारीरिक तौर पर जुड़ जाया करते थे। इसी से उन्हें यह अनुभव हुआ कि पढ़ना भी सौंदर्य की उपासना है। फ्रेरे यादों को ताजा करते हैं -

''मै उस समय शायद 19 वर्ष का रहा हूँगा और मैं हमेशा याद करता हूँ कि पढ़ने से मुझे अपार खुशी मिलती थी। मेरे लिए कोई फर्क नहीं पड़ता है कि मै कविता पढ़ रहा हूँ या मार्क्स को पढ़ रहा हूँ पढ़ाई के माध्यम से मैं सौंदर्य को प्राप्त करना चाहता हूँ। मेरे लिए यह एक ऐसा काम है जिसे कई बार शिक्षक भी करना नहीं चाहता है। वस्तुतः वे इस सौंदर्य की हत्या करने का प्रयास करते हैं।''[32]

अभ्यास का महत्व - फ्रेरे पुस्तकों के महत्व पर, उन्हें पढ़ने के महत्व पर तो बल देते ही हैं, अभ्यास को भी अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हैं। पुस्तकों में वे सिद्धान्त व व्यवहार के मध्य एकता विकसित होते हुए देखते हैं। इस पर बल देते हुए वह कहते हैं -

''मुझे लगता है कि एक दिलचस्प बात है क्योंकि हम कभी-कभी गलतियाँ कर बैठते हैं। जैसे, उदाहरण के लिए, हम पुस्तकों के महत्व को, पढ़ने के महत्व को, तथा अभ्यास के महत्व को नकारते हैं। मुझे लगता है कि हमें यह बात समझनी चाहिए कि पुस्तकों में सिद्धान्त और व्यवहार दोनों का समावेश क्रियात्मक रूप में

होता है। और इसमें व्यवहार और सिद्धान्त दोनों के बीच एक द्वंद्वात्मकता होती है। अर्थात, सिद्धान्त एवं व्यवहार के बीच एकता।''[33]

गैर-शाब्दिक सम्प्रेषण भी महत्वपूर्ण है- शिक्षण में शाब्दिक व अशाब्दिक सम्प्रेषण दोनों का ही महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षक में दोनों ही प्रकार के सम्प्रेषण को लेकर दक्षता होनी चाहिए। अशाब्दिक संप्रेषण को उपेक्षित करने की जो प्रवृत्ति शिक्षकों में सामान्यतः परिलक्षित होती है, इसको दूर किया जाना आवश्यक है। फ्रेरे इस ओर संकेत करते हुए कहते हैं -

''कई बार लोगों के गैर-शाब्दिक क्रियाकलाप और भाषा को हम समझ नहीं पाते क्योंकि हम शाब्दिक पुस्तक पर ही सोच रहे होते हैं और हम शाब्दिक प्रतिक्रियाओं की ही अपेक्षा कर रहे होते हैं और इसके अलावा हम कुछ भी समझ नहीं पाते हैं। शरीर अर्थात हाव-भाव को हम देखना ही नहीं चाहते क्योंकि इसमें हम अपने को भुलावे में रख सकते हैं कि वे हमारे साथ हैं।''[34]

जनतांत्रिक शिक्षण विधि ही सर्वोतम है - फ्रेरे का दृढ़ मत था कि शिक्षक-छात्र सम्बन्ध पूर्णतः जनतान्त्रिक हों। उनका विचार था कि शिक्षक को छात्र के व्यक्तित्व में आस्था रखनी चाहिए, उनसे प्रेम रखना चाहिए, उनका सम्मान करना चाहिए। छात्रों की त्रुटियों व कमियों को स्वीकार करना भी शिक्षक के लिए महत्वपूर्ण है। फ्रेरे छात्रों के पूर्व अनुभव का लाभ उठाते हुए उन्हें नवीन अनुभव प्रदान करने पर बल देते हैं। उनका मानना है कि यह शिक्षक को उसके कार्य में मदद करता है। शिक्षण के दौरान हुए अपने अनुभवों का जिक्र करते हुए फ्रेरे बताते हैं -

''उस समय माध्यमिक विद्यालय में पढ़ाना एक साहसिक कार्य था। मेरे लिए यह सुखद था। एक दिन मुझे पता चला कि विद्यार्थी मुझे इसलिए भी पसंद करते हैं और मेरी कक्षा में आना चाहते हैं कि वे चाहे किसी भी उम्र के हों, मै उनका सम्मान करता था। स्कूल आने से पहले उन्हें थोड़ी बहुत जानकारी की आवश्यकता

थी क्योंकि स्कूल आने से पहले ही उनमें भाषिक क्षमता होती थी। हम किसी को भी कोई भाषा नहीं पढ़ाते हैं, बच्चा किसी भी भाषा में सक्षम हो जाता है। इसके बाद हम उसे व्याकरण पढ़ा सकते हैं। परन्तु भाषा का हमें अनुभव होता है, हम उसका सृजन करते हैं। इसलिए मैं विद्यार्थियों का बहुत सम्मान करता था।''[35]

'स्वतंत्रता के भय' को लेकर एक शिक्षक में जनतान्त्रिक शिक्षण विधि को अपनाने में डर लग सकता है। ऐसा शिक्षक न तो स्वयं में विश्वास रखता है न ही अपने छात्रों में। प्रगतिशील शिक्षा के सृजन के लिए शिक्षक को प्रगतिशील मुक्तिवादी विचारधारा में पूर्ण आस्था रखना आवश्यक है।

फ्रेरे के अनुसार एक अध्यापक के रूप में कोई व्यक्ति परम्परागत हो सकता/सकती है और उसके भीतर विद्यार्थियों को लेकर भय हो सकता है। उनका विद्यार्थियों और जनता की योग्यताओं में विश्वास हो सकता है, पर वे स्वतंत्रता से डरते हैं। उनका यह डर पुराना है जिसका ताअल्लुक आजादी के डर से है। एक डन्डा चलाकर या एक आदेश निकालकर नई शिक्षा का निर्माण नहीं किया जा सकता है क्योंकि इस प्रकार की विचाराधारा बहुत दिनों से लोगों के मन में डर जमा बैठी है। फ्रेरे ने अपने शिक्षण-अनुभव के दौरान अपने विद्यालय के निदेशक से यह भी सीखा कि शिक्षण करते समय एक शिक्षक को छात्रों के पूर्वज्ञान व बोध के स्तर, वय व भिन्नताओं का भी ध्यान रखना चाहिए। छात्रों पर अपनी विद्वत्ता की धाक जमाने की इच्छा को त्याग उसे छात्रों के स्तर पर उतर कर ही उनसे संवाद करना चाहिए।

सीखने -सिखाने में गंभीरता और प्रसन्नता की जुगलबंदी - फ्रेरे शिक्षा को एक गंभीर, श्रमसाध्य, क्रमबद्ध तथा व्यवस्थित प्रक्रिया मानते हैं। परन्तु साथ ही यह भी सचेत करते हैं कि इसे भार स्वरूप नहीं होना चाहिए। उन्हीं के शब्दों में "मैं इस बात को खास तौर पर कहना चाहता हूँ कि अध्यापक का कार्य कितना मुश्किल होता है । इस बात से कोई खास फर्क नहीं पड़ता कि वह अध्यापक कहाँ काम

करता है। बड़ी दिक्कत या बड़ी चुनौती इस बात को लेकर है कि कैसे यह प्रयत्न किया जाये कि शिक्षा गंभीर, श्रमसाध्य, क्रमबद्ध और सिलसिलेवार होने के साथ-साथ प्रसन्नता और उल्लास भी पैदा कर सके।''[36]

वे यह स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इसमें एक अध्यापक के रूप में यह भी सोचने का खतरा रहता है कि शिक्षण और अध्यापन को बस उल्लास तक सीमित रखना चाहिए। प्रसन्नता, और तब अध्यापक अपने विद्यार्थियों से किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं रखेगा, अपने विद्यार्थियों को पढ़ाई में मेहनत करने के लिए नहीं कहेगा, क्योंकि शिक्षक को विद्यार्थियों की प्रसन्नता के अधिकार में कटौती नहीं करनी चाहिए। यह शिक्षा की पद्धति को मनोरंजन के साधन के रूप में परिवर्तित कर देता है। एक वैकल्पिक जोखिम यह है कि अध्ययन इतना गंभीर हो जाए कि इस गंभीरता के कारण प्रसन्नता और अध्ययन में संघर्ष छिड़ जाये। इससे चेहरे की मासूमियत लुप्त हो जाएगी और वह एक बूढ़े और खडूस व्यक्ति का चेहरा लिए नजर आएगा। क्या इससे कोई बात बनेगी? वे शिक्षकों से अनुरोध करते हैं कि ऐसे मत पढ़ाइए। परन्तु अधिकतर अध्यापक ऐसे ही पढ़ाते हैं।

फ्रेरे स्वीकार करते हैं कि "मेरे लिए पढ़ाई आरम्भ करना बड़ा मुश्किल होता है। अध्ययन कोई उन्मुक्त काम नहीं हैं। यह कोई उपहार नहीं है। पढ़ाई में मेहनत करना पड़ती है। यह मुश्किल काम है और इसके लिए त्याग भी करना पड़ता है। परन्तु इसी दिक्कत के बीच खुशी भी पैदा होने लगती है। एक समय ऐसा आता है कि हम खूब मेहनत और गंभीरता से पढ़ते हैं और एक क्षण ऐसा आता है जब इसका परिणाम प्राप्त होने पर हम खुश हो जाते हैं। तब मेरे लिए अध्यापक के रूप में समस्या यह आती है कि कैसे इस गंभीरता और प्रसन्नता की जुगलबंदी कभी न भंग हो। और, कैसे इस पद्धति का एक भी रेशा हमारे हाथ से न छूटे।''[37]

विचार-विमर्श अत्यन्त आवश्यक है- फ्रेरे शिक्षण में विचार-विनिमय को अत्यधिक महत्वपूर्ण प्रविधि मानते हैं। वे अधिगमकर्ता के साथ मुक्त संवाद में आस्था रखते हैं और उसे अभिव्यक्ति की पूर्ण स्वतन्त्रता देने पर बल देते हैं। विचार -विमर्श में शिक्षक व छात्र दोनों ही सहकर्ता होते हैं। मिलजुलकर ही विषय पर वार्तालाप करते हैं। स्वतंत्र चिन्तन करते हैं, समस्या समाधान करते हैं, अथवा किसी निर्णय पर सामूहिक रूप से पहुँचते हैं।

फ्रेरे स्वयं अपने अधिगमकर्ताओं (शिक्षक, अभिभावक, जनता) के साथ इस पद्धति का प्रयोग करते थे। अपने अनुभव बताते हुए वे कहते हैं -

''प्रत्येक जगह महीने में एक बार शिक्षकों और अभिभावकों के साथ हमारा शैक्षिक कार्यक्रम होता था। यह एक सुखद अनुभव था। मैंने लोगों के साथ विचार विमर्श करना सीखा। मैंने लोगों के ज्ञान, विश्वास, भय, आशाओं, आकांक्षाओं और उनकी भाषा का सम्मान करना सीखा। ऐसा कई बैठकों के बाद ही संभव हो पाया और इसमें काफी वक्त लगा।''[38]

फ्रेरे का यह भी अभिमत है कि औपचारिक तौर-तरीके, जैसे कक्षा-शिक्षण, गोष्ठियाँ व सेमीनार आदि प्रभावोत्पादक होते हैं। परन्तु इनके प्रभाव की सीमाएं को भी वे स्वीकार करते हैं। उनका सोचना है कि ये व्यक्तियों को व्यक्तिगत रूप से बदलने में तो सक्षम हो सकती हैं परन्तु एक वर्ग के रूप में इनके द्वारा बदलाव लाना असंभव है। हाइलैंडर में चल रहे शिक्षा अभियानों पर टिप्पणी करते हुए वे माइल्स से स्पष्ट शब्दों में कहते हैं।

''यह देखना बड़ा ही रोचक होगा कि किस प्रकार शासक वर्ग के सदस्यों को परिवर्तित किया जा सकता है। परन्तु शासक वर्ग को एक वर्ग के रूप में परिवर्तित नहीं किया जा सकता। गौर करें, यह बड़ा दिलचस्प है। इसीलिए मैं यह सोचता हूँ कि यहां पचास वर्षो से आप (माईल्स) जैसी गोष्ठियां और कार्यशालाएं आयोजित

कर रहे हैं, वे महत्वूपर्ण स्रोत हैं। मैं यह महसूस कर सकता हूँ माइल्स, कि पिछले कई वर्षो में कई लोगों को व्यक्तिगत तौर पर यहां बदलने का मौका मिला है। परन्तु एक वर्ग के रूप में कदापि नहीं। उदाहरण के लिए मार्क्स, मार्क्स बदले। फेडल कास्त्रो बदले। चे ग्वेवारा बदले। मैं उम्मीद करता हूँ कि हम भी बदले हैं।''[39]

स्वानुभव सीखने का उत्तम तरीका है - पाओलो फ्रेरे स्व-अनुभव द्वारा सीखने को बहुत महत्व देते हैं। शिक्षा मनोविज्ञान भी स्व-क्रिया द्वारा किये गये अधिगम को स्थायी मानता है। एडगर डेल्स द्वारा प्रतिपादित अनुभवों के श्रेणीक्रम (कोन ऑफ एक्सपीरियन्स) में प्रत्यक्ष रूप से प्राप्त सौदेश्य अनुभव को सर्वोच्च्व स्थान दिया गया है। फ्रेरे अपने बचपन के दिनों को याद करते हुए बताते हैं कि इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभवों द्वारा सीखने की प्रक्रिया का उनके जीवन में उल्लेखनीय योगदान रहा।

''मैंने अपने घर के पिछवाड़े के पेड़ों तले अपनी माँ और पिता से पढ़ना ओर लिखना सीखा। आम के पेड़, मैं पेड़ की टहनी से मिट्टी पर शब्दों को लिखा करता था। ऐसा करना दिलचस्प लगता था। जिन शब्दों को मैंने जाना और सीखा वे मेरी दुनिया के थे, मेरे अनुभूत थे, न कि मेरे माता-पिता के अनुभव के शब्द। उन्होंने मुझे पढ़ाना शुरू किया। यह बड़ा ही विचित्र संयोग है कि मैं कई वर्षो बाद जब इसी क्षेत्र में शिक्षक के रूप में काम करने गया तो मैंने वही दुहराया, जो मेरे माता-पिता ने किया था। इस प्रक्रिया के दौरान मुझे स्मरण हुआ कि मैंने इसी प्रक्रिया के जरिए पढ़ना और लिखना सीखा।''[40]

फ्रेरे के निर्माण में उनके संघर्षमय जीवन का विशेष योगदान रहा। उन्हें बचपन से ही विषम परिस्थितियाँ तथा नाना प्रकार के पीड़ादायक अनुभव प्राप्त हुए। इस अनुभवों ने फ्रेरे के चिंतन व कर्म को वे आयाम दिये, जिनके लिए उन्हें आज याद किया जाता है। फ्रेरे इसे स्वीकार करते हुए कहते हैं -

''मेरा जन्म महा आर्थिक मंदी के लगभग आठ साल पहलें 1921 ई0 में हुआ था। महा आर्थिक मंदी के परिणामस्वरूप मेरे मध्यवर्गीय परिवार को काफी कठिनाइयों से गुजरना पड़ रहा था। मेरे लिए भूख के अनुभव की संभावना थी। मैंने संभावना की बात इसलिए की क्योंकि मुझे लगता है कि वह अनुभव मेरे लिए बहुत उपयोगी था। निश्चित रूप से मेरा शैशव उतना नाटकीय नहीं था। मुझे भोजन मिलता था। आज भी ब्राजील में लाखों बच्चों को भोजन नहीं मिलता है और मुझे भोजन उपलब्ध था। और, इस तरह मेरा जिंदा रहना संभव हुआ।''[41] जीवनानुभवों से फ्रेरे ने जो सीखा उससे उनका व्यक्तित्व निर्मित हुआ माइल्स को वे बताते हैं - ''मैने दिक्कतों से काफी कुछ सीखा है। जब मैं बच्चा था तो मुझे यह समझ में नहीं आता था कि प्राथमिक विद्यालय में क्या पढ़ाया जा रहा है? इन सबसे मुझे काफी मदद मिली। आप ठीक कहते हैं कि ऐसी परिस्थितियों का कभी बुरा असर होता है, कभी अच्छा, कभी उनसे मदद मिलती है, कभी नहीं। मेरे मामले में, मैं कह सकता हूँ कि मुझे मदद मिली। मैं जानता हूँ कि भूख क्या बला होती है? जब हम भूखे होते हैं और कुछ खाने को नहीं होता, तब पता चलता है कि भूख की अहमियत क्या है? उदाहरण के लिए यदि हम अपने शरीर को खूबसूरत बनाने के लिए उपवास रखते हैं और भूखे रहते हैं तो हम भूख का मतलब नहीं समझ सकते। इसका मतलब यह नहीं है कि मेरे पास खाना है, इसलिए मै भूख का मतलब नहीं बता सकता हूँ। यहां सवाल खाने की इच्छा का है। मुझे इसका अनुभव है और इसमें मुझे काफी मदद मिली। जब मैं बारह वर्ष का था, तो मैं रेसिफे से बाहर निकला। मैं अपने सामाजिक वर्ग के लड़कों और मजदूर वर्ग के लड़कों के साथ रहा। मैं मध्यवर्गीय परिवार में जन्मा था, अतः मैं उनमें बीच-बचाव भी करता था। जहां तक भूखे रहने का सम्बन्ध है, मजदूर वर्ग के लड़के मुझसे ज्यादा भूखे थे और मैं उन दोनों परिस्थितियों को ठीक-ठीक समझ सकता था। उसी समय से, हालांकि मैं असली कारणों को नहीं समझ सकता था, मैं सोचने लगा था कि कुछ गड़बड़ जरूर है।''[42]

कक्षा शिक्षण व लोक शिक्षण में अन्तर है - फ्रेरे औपचारिक परिस्थिति अर्थात विद्यालय में किये जाने वाले शिक्षण की पद्धति तथा अनौपचारिक शिक्षण की पद्धति में अन्तर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि विश्वविद्यालय के विद्यार्थी या मजदूर जब हमारे विद्यार्थी बनकर आते हैं और उन पर कोई विचारधारा हावी होती है तो ज्ञान का विषय और विषय के रूप में छात्र, इन दोनों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में कई समस्याएं पैदा होती हैं। अर्थात वे बिलकुल इस बात के लिए मन से तैयार होकर आते हैं कि शिक्षक कक्षा में उन्हें पढ़ाएगा। उनकी पास जवाब होते हैं। वे केवल अपने प्रश्नों के उत्तर प्राप्त करने के लिए हमारे पास आते हैं। यह एक बाधा है कि उन विद्यार्थियों का कैसे सामना किया जाए, जो यह समझते हैं कि आप यह जानने में उत्सुक हैं कि वे क्या जानते हैं, और सोचते हैं कि आप सक्षम नहीं हैं। यह स्पष्ट है कि विद्यार्थी आपको एक विशेषज्ञ के रूप में देखते हैं। जब वे पहली ही कक्षा में शिक्षक से पुरानी शैली में व्याख्यान की अपेक्षा करते हैं और आप कहते हैं नहीं, मैं पहले उस विषय -वस्तु पर बातचीत करना चाहूँगा, जिनका इस सत्र में हमें अध्ययन करना है और तब विद्यार्थी कह सकता/सकती है कि यह प्रोफेसर योग्य नहीं हैं और यदि वह प्रोफेसर युवा हो तब तो वे अवश्य ऐसा ही कहेंगे। वे बताते हैं कि साओ पाओलो में कई स्नातक विद्यार्थियों ने उन्हें बताया कि किस प्रकार उन्हें तुरन्त अध्यापन शुरू करना होता है, किताबों की सूची बनानी होती है और व्याख्यान देना होता है क्योंकि विद्यार्थी अपने को असुरक्षित महसूस करते हैं। इसलिए उनके विचार से इस परिस्थिति में विद्यार्थियों को चुनौती देने की शुरूआत करने ओर थोड़ा -बहुत परिवर्तन का मौका देते हुए एक शिक्षक को पचास प्रतिशत परम्परागत शिक्षक और पचास प्रतिशत लोकतान्त्रिक शिक्षक बनना चाहिए।

फ्रेरे महसूस करते हैं कि यदि जन समूहों को विद्यालय व्यवस्था का बहुत अधिक अनुभव न हो तो स्थिति कुछ भिन्न सी हो जाती है। जाहिर है कि वे थोड़े से सकुचाए और डरे हुए होते हैं क्योंकि वे सोचते हैं कि अध्यापक तथाकथित

बुद्धिजीवी हैं और उन्हें लगता है कि वे बुद्धिजीवी नहीं हैं। वे यह समझ नहीं पाते हैं। वे सोचते हैं कि उनकी कोई संस्कृति नहीं हैं क्योंकि सुसंस्कृत पुरूष य महिला को सर्वप्रथम विश्वविद्यालय जाना होता है। इसलिए अनुशासन, द्वितीय बौद्धिक अभिरूचि को नियंत्रित करने का अनुशासन स्थापित करना होगा। क्योंकि बुद्धिजीवी हमेशा यह सोचते हैं और अक्सर यह करते भी हैं कि जो कुछ सोचते हैं और जो कुछ करते हैं, उसे ही बोलते चले जाते हैं। एमिलकर कैब्रॉल की पुस्तक का उल्लेख करते हुए फ्रेरे कहते हैं कि इस पुस्तक में बहुत ही रोचक तरीके और स्पष्टता से यह बताया है कि संयम और असंयम के बीच कैसा द्वंद्व होता है। एमिलकर के इसी कथन को आधार बनाकर वे यह कहते हैं कि हमें 'अत्यन्त संयम' से काम करना चाहिए। कई बार ऐसा मौका होता है कि हम आगे बढ़कर भी अपनी बात कह सकते हैं और कभी ऐसा भी होता है कि लोगों की बात अधिक से अधिक सुननी पड़ती है।

फ्रेरे शिक्षकों को अपने व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर सीख देते हुए कहते हैं कि आप लोगों के दिमाग को और उनकी सोच को फैलाने की कोशिश करते हैं लेकिन आप इतनी तेजी से आगे बढ़ते हैं कि धागा टूट जाता है। आप आगे बढ़ जाते हैं और वे पीछे छूट जाते हैं। इसलिए आप उनके विचारों को बहुत दूर तक तान नहीं पाते हैं। लोक शिक्षा मजदूर और गरीब लोग बड़ी आशा के साथ आते हैं। उनसे कहा जाता है कि तुम वहां जाओगे, तो कुछ सीख पाओगे और वे समझते हैं कि वे जो कुछ भी सीखने जा रहे हैं उससे उनकी समस्याओं का समाधान होगा। अतः वे विशेषज्ञ से कुछ उत्तर की अपेक्षा रखते हैं। यदि वे बहुत दिनों तक स्कूल नहीं गए हों तो भी वे समाज के प्रभाव में आकर विशेषज्ञ की तलाश में रहते हैं । इसलिए फ्रेरे कहते हैं - ''मैं उन्हें सबसे पहले यह एहसास दिलाता हूँ कि वे क्यों यहां आये हैं। उसके बाद मैं कहता हूँ कि मैं जानता हूँ कि आपको बहुत सारी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। यहीं से मैं अपनी अध्यापन प्रक्रिया शुरू

करता हूँ यानी कि उन्हें अपना अनुभव सुनाने के लिए कहता हूँ। मैं उनसे कहता हूँ कि आप अनुभव सुनाइए। अनुभव आपका हो, किसी विशेषज्ञ का नहीं।''[43]

फ्रेरे अपनी पद्धति का खुलासा करते हुए जन शिक्षकों को सम्बोधित करते हैं कि - ''आप एक ऐसा मंच तैयार कीजिए, जहाँ वे कुछ करने में हिचक न महसूस करें। आरम्भ में उन्हें हिचक महसूस होगी और आपको उनके साथ बैठकर काम करना होगा ताकि वे आश्वस्त हो सकें और सहपाठियों में उनके प्रति विश्वास पैदा हो सके। मैरी कुछ कहती हैं और सब सुनते हैं, तो सुसी कहती है कि यदि लोग मैरी को सुन सकते हैं, तो मुझे भी सुनेंगे। यह एक धीमी प्रक्रिया होती है लेकिन एक बार जब लोग इससे परिचित होते हैं और अपने को सहज महसूस करने लगते हैं, तब वे यह देखने और समझने लगते हैं कि आप एक विशेषज्ञ की भूमिका नहीं अदा कर रहे हैं। बस आप इतना ही बताते हैं कि उन्हें कैसे और क्या सीखना है। यह धीमी और कड़ी मेहनत वाली प्रक्रिया है परन्तु यह सीखने -सिखाने का कारगर तरीका है।''[44]

फ्रेरे के अनुसार एक समस्या यह होती है कि हम विद्यार्थियों को व्यक्तिगत अनुभव के आधार पर यह कैसे बताएँ कि जब हम काम करते हैं, तो उस दौरान और भी बातें सीखते हैं। वे कहते हैं कि ''उदाहरण के लिए, यदि मैं बारीकी से यह जानता हूँ कि बीज बोते समय मैंने क्या किया है, यदि मैं जानता हूँ कि पौधे लगाते समय मैंने क्या -क्या विधियां अपनाई हैं। यदि मुझे 'क्यों का पता चल जाता है, तो जाहिर है कि मैंने जो कुछ भी किया है मुझे उसके अतिरिक्त भी ज्ञान प्राप्त होता है। मेरे पास एक प्रकार की छतरी थी, ज्ञान का एक ढांचा था, जो उस समय बहुत स्पष्ट नहीं था। हम काम करना शुरू करते हैं और काम करने के दौरान हमें कई जानकारियां मिलती रहती हैं और हमारे ज्ञान का विस्तार होता चला जाता है। काम किये बिना बहुत सारी जानकारियां अदृश्य रहती हैं।''[45]

फ्रेरे अपनी जिज्ञासा को प्रश्न के रूप में समाने रखते हुए पूछते हैं कि क्या आप लोगों को कहेंगे कि अपने आसपास के परिवेश को ध्यान से देखो और अपनी समस्याओं का समाधान कर उपाय ढूंढने का प्रयत्न करो? क्या हम इसमें उनकी सहायता कर सकते हैं? क्या आप उनके लिए ऐसी परिस्थिति का निर्माण कर सकते हैं जिसमें वे सीख सकें, लेकिन वहां भी सीखना महत्वपूर्ण होना चाहिए, बताना नहीं।

फ्रेरे का अभिमत है कि सहायता के क्रम में जब लोगों को नया अनुभव होता है, तो यह निश्चित रूप से शिक्षा भी है। वे स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि शिक्षण में बुराई नहीं है, बुराई है एकतान्त्रिक ढंग के शिक्षण में। वे कहते हैं - "मेरे लिए बिना पढ़ाये किसी की मदद करना असंभव है। मद्द, ताकि वे अपने मार्ग पर आगे बढ़ सकें। मैं उन्हें इसी प्रकार सम्मानित करना चाहता हूँ। यह अनवरत शिक्षा की एक विधि है। इसमें जरूरी नहीं कि कोई खास विषय-वस्तु ही पढ़ाई जाए या कोई तथ्य परन्तु मुझे तुरन्त कोई विषय भी पढ़ाना पड़ सकता है। मैं लोगों को पेड़ के नीचे बैठाकर बातचीत करता था, इसमें मुझे परम आनन्द मिलता था। मुझ यह रूप धरना पड़ता था। मैं शिक्षण के खिलाफ नहीं हूँ लेकिन मैं निरंकुश विधि से पढ़ाने के हमेशा खिलाफ रहा हूँ।"[46]

3.5 अनुशासनः-

फ्रेरे न तो एकतान्त्रिक दमनात्मक अनुशासन का समर्थन करते हैं न ही हस्तक्षेपरहित पूर्ण मुक्त्यात्मक अनुशासन का। उनका मानना है कि बैंकिग शिक्षा में छात्र के व्यक्तित्व में शिक्षक द्वारा आस्था नहीं रखी जाती तथा शिक्षक ही छात्र को पूर्णतया नियन्त्रित व निर्देशित करता है इस प्रकार उसकी स्वतन्त्रता पूर्णतया शिक्षक द्वारा हस्तगत कर ली जाती है। स्वतन्त्रता और अनुशासन के प्रत्ययों में सामंजस्य को एक महत्वपूर्ण मुद्दा मानते हुए वे कहते हैं-

"मेरे विचार से यह समस्या बहुत महत्वपूर्ण है और इस पर बातचीत होनी चाहिये। एक तरफ तो अध्यापक को विद्यार्थियों की अपेक्षाओं और पसंद का ख्याल रखना चाहिये परन्तु उसे बिल्कुल तटस्थ भी नहीं होना चाहिये। बुद्धिजीवी होने के नाते अध्यापक को अवश्य ही हस्तक्षेप करना चाहिये। वह केवल मददगार बना नहीं रह सकता। उसमें आत्म विश्वास होना चाहिये। मेरे विचार से यह मुद्दा कमोबेश व्यवहार और सिद्धान्त की समस्या जैसा है। इसमें शिक्षक की सत्ता, विद्यार्थियों की स्वतंत्रता, शिक्षक की पसंद, विद्यार्थियों की पसंद, शिक्षक की पढ़ाने में भूमिका, शिक्षक की प्रश्नों के जवाब देने में भूमिका, प्रश्न पूछना, समस्याओं का चुनाव, जैसे प्रश्न भी शामिल हैं? कभी कभी शिक्षक को नेतृत्व करने या बोलने की भूमिका निभानी होती है लेकिन शिक्षक का यह फर्ज बनता है कि वह बोलने से बात करने में उतरे।"[47]

फ्रेरे कहते हैं कि शिक्षक को छात्रों पर अपने विचारों को लादना नहीं चाहिये इसके लिए लोगो को बरगलाना नहीं चाहिये। यद्यपि व्यवहार में ऐसा करना बड़ा ही कठिन है। फ्रेरे शिक्षण अधिगम प्रक्रिया में शिक्षक की महत्ता को स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि यदि शिक्षक है तो उसकी सत्ता भी होगी। प्रश्न यह है कि वह अपने प्रभुत्व का, सत्ता का इस्तेमाल किस रूप में करता है। वे कहते हैं कि स्वतन्त्रता के नाम पर छात्रों को खुली छूट दे देना तथा स्वयं पढ़ाना ही छोड़ देना अनुचित है। दूसरी ओर अपने अधिकार का दुरूपयोग कर छात्रों की आजादी कुचल देना भी उतना ही गलत है। शिक्षक को बोध होना चाहिये कि स्वतन्त्रता व अनुशासन दोनों का ही अपना-अपना महत्व है। इसलिए दोनों धारणाओं में सामंजस्य किस प्रकार विकसित किया जाये। वे कहते हैं -

"कुछ लोगों के सामने विद्यार्थी और शिक्षक का संबंध स्पष्ट नहीं होता और नतीजतन वे गलत ढंग से जोखिम भी उठाते हैं। उदाहरण के लिए, विद्यार्थियों की

स्वतंत्रता के नाम पर यदि हम पढाना छोड़ दें और अपने को शिथिल कर लें तो शिक्षक के रूप में यह भारी भूल होगी।''[48]

फ्रेरे के मत से विद्यार्थियों को खुले छोड़ देना या बिल्कुल सारी जिम्मेदारी उन्हीं के ऊपर छोड़ देना गैर जिम्मेदाराना कार्य होगा। यह अपने अधिकार और कर्तव्य दोनों से चूकना है। शैक्षिक प्रक्रिया के साथ-साथ विद्यार्थियों की और स्वयं शिक्षक की स्वतंत्रता के लिए अधिकार आवश्यक हैं। शिक्षक के अभाव में कोई कार्य नहीं हो सकता। उसका होना अनिवार्य है। यहां एक बात साफ-साफ समझ लेनी चाहिये कि निरंकुश विशेषज्ञता गलत है, पर विशेषज्ञता का अधिकार गलत नहीं है। यदि शिक्षक ऐसा करता है और अपने उत्तरदायित्व से दूर भागता है तो वह आजादी देने के बदले लोगों को एक लाईसेंस देने वाला बन जाता है और फिर वह अध्यापक की अपनी भूमिका पूरी नहीं कर सकता है।

फ्रेरे की दृष्टि में छात्रों की आजादी को कुचलना और शिक्षक के अधिकार को बहुत ही कठोर बनाना एक दूसरी गलती हैं। ऐसी स्थिति में किसी प्रकार की आजादी नहीं होगी परन्तु शिक्षक पास एक निरंकुश सत्ता होगी। फिर एक शिक्षक होगा, जो सिर्फ पढ़ाने का काम करेगा। फ्रेरे शिक्षक को बहुत प्रतिष्ठापूर्ण स्थान देते हैं परन्तु साथ ही शिक्षक वे से यह अपेक्षा भी करते हैं कि वह छात्र को, उसकी मानवीय गरिमा को, वयैक्तिक विशेषताओं को और स्वतंत्रता के अधिकार को पूरा सम्मान प्रदान करे। शिक्षक छात्र के पथ प्रदर्शक बनें, उन्हें सत्य की ओर उन्मुख करें। फ्रेरे कहते हैं -

''शिक्षक ज्ञान का भंडार होता है। शिक्षक निदेशक होता है। शिक्षक सर्वगुणसंपन्न होता है और वह सब कुछ करता है और विद्यार्थियों को कुछ बनना होता है, तो वे अपना शरीर और अपनी आत्मा शिक्षक के हाथों में दे देते हैं, मानों विद्यार्थी एक शिल्पी के लिए मिट्टी का लोंदा हो, जिसे जैसे चाहे वैसे गढ़ लिया जाये। निश्चित रूप से शिक्षक कलाकार होता है परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि

वह किसी विद्यार्थी को जैसे चाहे वैसे अपने अनुसार आकार दे सकता है। अध्यापक पढ़ाने के दौरान विद्यार्थियों को रास्ता भर दिखाता है, जिस पर विद्यार्थी अपने हिसाब से चल सके। ऐसा करते वक्त वे लोकतांत्रिक रूप से अपनी सत्ता और विद्यार्थियों की स्वतंत्रता के बीच संतुलन स्थापित करते हैं।''[49]

शिक्षक व छात्र के मध्य जिस प्रकार के संवादपूर्ण, आत्मीय व जनतान्त्रिक सम्बन्ध होते हैं उसी प्रकार नेतृत्व व जनता के मध्य भी हों। फ्रेरे कहते हैं कि छात्रों या जनता को समय व परिस्थिति की मांग होने पर आदेश दिये जा सकते हैं। आवश्यकता होने पर दिये भी जाने चाहिये। परन्तु ऐसा क्यों किया गया है यह भी छात्रों (जनता) को स्पष्ट कर दिया जाना चाहिये।

शिक्षक द्वारा छात्र के व्यक्तित्व में आस्था रखते हुए उसे सम्मान प्रदान करना अथवा नेतृत्व द्वारा समुदाय (जनता) में सम्मान भाव रखना उसकी किसी कमजोरी का परिचायक नहीं है। यह तो मानववादी मुक्तिवादी शिक्षा की अनिवार्य विशेषता है। इसी पर बल देते हुए फ्रेरे कहते हैं-

''जनता और नेतृत्व के बीच, प्रगतिशील दलों के नेतृत्व और विशाल जनसमूह के बीच भी ऐसा ही रिश्ता होता है। नेतृत्व की भूमिका क्या है? केवल जनता को संबोधित करना ही नेतृत्व का काम नहीं होता। जनता के साथ कदम से कदम मिलाकर सीखते हुए और अपनी बात कभी भी न आरोपित करते हुए जनता का नेतृत्व करना भी नेतृत्व की भूमिका है। मैं यहां तक स्वीकार कर सकता हूँ कि कभी शिक्षक और राजनीतिक नेताओं को कल का इंतजार किये बिना कुछ आदेश देने पड़ते हैं और कुछ अनिवार्य कदम उठाने पड़ते हैं। लेकिन मेरे विचार से दूसरे ही दिन शिक्षक और नेतृत्व को लोगों को यह बताना शुरू कर देना चाहिये कि उन्होने ऐसा क्यों किया। मेरे लिए यह बताये बिना कि यह क्यों आवश्यक है, किसी भी प्रकार की पहल असंभव है।''[50]

फ्रेरे की नजर में समुदायों के लिए सम्मान अध्यापक की तरफ से किसी भी प्रकार के उत्तरदायित्व के अभाव का परिचायक नहीं है। परन्तु उसे यह भी समझना होगा कि यह काम बहुत आसान नहीं है और यह मानकर चलना होगा कि अध्यापक को ही पहल करनी होगी।

फ्रेरे स्पष्टरूपेण कहते हैं कि शिक्षक के पास निश्चय ही अधिकार होता है, परन्तु वह उसे अधिनायकवादी ढ़ंग से प्रयोग करता है अथवा जनतांत्रिक ढंग से, यह शिक्षक पर, उसकी सोच पर निर्भर है। छात्र की स्वतंत्रता का हनन करने वाला शिक्षक अपने अधिकार से भी वंचित हो जाता है। फ्रेरे के अनुसार शिक्षा की सत्ता व छात्र की स्वतंत्रता के मध्य वस्तुतः कोई अन्तर्विरोध नहीं है। अपने प्रत्यक्ष अनुभव से उन्होंने इसे जाना। वे बताते हैं-

''अपने बारे में मुझे एक दिन यह भी बात पता चली कि मेरे पास अधिकार तो था लेकिन मैं अधिनायकवादी नहीं था। मुझे याद है कि कोई भी विद्यार्थी मुझसे पूछे बिना कभी भी कक्षा से बाहर नहीं जाया करता था। यदि जाता भी था तो हमेशा बहुत ही सम्मानजनक और नम्र भाषा में अनुमति लेने के बाद। मैं बचपन से ही यह बात समझने लगा था कि शिक्षक एक शिक्षक के रूप में होता है, विद्यार्थी के रूप में नहीं। विद्यार्थी एक विद्यार्थी के रूप में शिक्षक नहीं हो सकता। मैं यह समझने लगा कि वे मूलतः अलग तो हैं परन्तु उनके बीच कोई अंतर्विरोध नहीं है। फर्क केवल इतना ही होता है कि शिक्षक को पढ़ाना होता है और अपना अनुभव बताना होता है, अपना अधिकार भी जताना होता है। और, विद्यार्थी को शिक्षक की सत्ता के अधिकार के संदर्भ में आजादी के विकास के लिए शिक्षक की सत्ता बहुत जरूरी है। परन्तु जब वह सीमा का अतिक्रमण करता है और विद्यार्थियों की स्वतंत्रता का हनन करता है तब हमारे पास वह अधिकार नहीं रह जाता। हमारे पास फिर कोई आजादी नहीं रह जाती। हमारे पास अधिनायकवाद ही बच जाता है। कम उम्र में पुर्तगाली भाषा पढ़ाते हुए मुझे इन बातों का ज्ञान होने लगा था।''[51]

3.6 शिक्षार्थी-

फ्रेरे शिक्षा प्रक्रिया में शिक्षार्थी को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं- उनका मानना है कि शिक्षा है ही शिक्षार्थी के लिए। अतः उसे स्वयं सृजनकर्ता की भूमिका वहन करनी चाहिये।

उनके अनुसार यदि पढ़ना-लिखना सीखने में जानने की क्रिया सम्मिलित है, तो शिक्षार्थियों को आरम्भ से ही सृजनात्मक कर्ताओं की भूमिका स्वीकारनी होगी। यह प्रदत्त अक्षरों, शब्दों और मुहावरों को रटने या दोहराने का मामला भर नहीं है बल्कि स्वयं पढ़ने और लिखने की प्रक्रिया पर और भाषा के गूढ़ महत्व पर आलोचनात्मक दृष्टि डालना है। छात्र कोई डिपोजिटरी नहीं है जिसमें शिक्षक ज्ञानराशि जमा कराता रहे। वह जानने की क्रिया में स्वयं संलग्न हो तभी वह सच्चा ज्ञान प्राप्त कर सकेगा। छात्र के व्यक्तित्व की सम्भावनओं को नकारते हुए उसे वस्तु बना देना तथा उस पर कर्म करना अनुचित है। यह धारणा नितान्त गलत है कि छात्र ज्ञान-शून्य व अनुभव रहित होते हैं तथा शिक्षक ही सर्वज्ञाता है, सत्य-ज्ञाता है। शिक्षक द्वारा अपने पेशेगत अधिकार के बल पर छात्र की स्वतंत्रता को हस्तगत कर लेना भी सर्वथा अनुचित है।

फ्रेरे का अटूट विश्वास है कि वस्तुतः छात्र सृजनात्मक शक्ति व आलोचनात्मक चेतना रखते हैं। कक्षा में आने से पूर्व वे विश्व के विषय में स्वानुभवों द्वारा बहुत कुछ जानते हैं। वे उन दशाओं की भली प्रकार अनुभूति रखते हैं जिनमें वे रहते हैं, जिनसे होकर वे गुजरे हैं। संभव है कि उत्पीड़न की स्थितियों में उनकी चेतना को निष्क्रिय कर दिया गया हो, पालतू बना दिया गया हो परन्तु चूंकि वे चैतन्य प्राणी हैं अतः चेतना का जागरण कभी भी हो सकता है, और वे विवेक और आचरण के द्वारा मुक्ति संघर्ष में संलग्न हो, पूर्ण मानव बनने की दिशा में अग्रसर हो सकते हैं।

फ्रेरे का मानना है कि छात्रों को विश्व (उत्पीड़कों का अपना विश्व) के अनुरूप बनाना ढालना या फिट करना बैंकिंग शिक्षा का उद्देश्य है, मुक्तिवादी शिक्षा का नहीं। मुक्तिवादी शिक्षा तो छात्रों को इस योग्य बनाने पर बल देती है कि वे विश्व को अपने अनुरूप बना सकें।

सामान्यतः शिक्षक अधिगमकर्ता की व्यक्तिगत भिन्नताओं, रुचियों व आवश्यकताओं पर ध्यान न देकर उनके मस्तिष्क रूपी खाली बर्तन को संचित ज्ञान से शीघ्रातिशीघ्र भर देने को लालायित रहते हैं फ्रेरे की दृष्टि में यह एक समस्या है। वे कहते हैं कि हमारे पास ज्ञान का अपार भंडार है और हमारी एक समझ है तथा हम यह चाहते हैं कि मौका मिले और हम इस जमा किये हुए स्वर्ण भंडार को सामने वाले को अर्पित कर दें। समस्या यहीं से शुरू होती है और इसी क्रम में हम लोगों की रूचि और हित को समझ नहीं पाते हैं। फ्रेरे के अनुसार ऐसा न करना शिक्षक का एक बड़ा गुण है।

अधिगमकर्ता की रूचियों, दृष्टिकोणों, विचारों, हितों व माँगों के आधार पर ही यह तय किया जाये कि उन्हें क्या और कितनी जानकारी देनी है। इन बातों पर विचार किये बिना एकाधिकारिक ढंग से विषय वस्तु को अधिगमकर्ता पर थोप देना, शिक्षक का एक अवगुण ही माना जायेगा। उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि आप छात्र कोई 'खाली बर्तन' नहीं है जिसे शिक्षक इच्छानुसार भरना चाहते हैं। उस सामग्री से जो शिक्षक की दृष्टि में उसके लिए 'सर्वाधिक उपयोगी' है।

3.7 शिक्षक

शिक्षक शैक्षिक प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग है। शिक्षा को यदि मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई माना जाये तो शिक्षक के क्रान्तिकारी नेतृत्व में ही यह सम्पन्न होती है। ऐसे ही शिक्षक के बारे में चर्चा करते हुए फ्रेरे फिडेल कास्त्रो के इस वक्तव्य को उद्धरत करते हैं "हमें सच्चे शिक्षक का निर्माण करना है। इस शब्द के

सर्वाधिक ईमानदार अर्थ में सच्चे शिक्षकों का। ऐसे शिक्षकों का जो शहर में ही नहीं गांव में भी पढ़ा सकने में सक्षम हों, गाँव में ही नहीं पहाड़ों में भी और पहाड़ों में ही नहीं, देश के सर्वाधिक दूरवर्ती पहाड़ों में भी। वे जो दुनिया किसी भी हिस्से में ऐसे बिरादराना देश में पढ़ाने जाने को तैयार हों, जिसे उनकी जरूरत हो।''[52]

फ्रेरे एक प्रगतिशील, स्वातन्त्रयवादी क्रान्तिकारी शिक्षक में निम्न गुणों की अपेक्षा रखते हैं।

स्पष्ट दृष्टिकोण व दिशा बोध - शिक्षक का चिन्तन पूर्णतया स्पष्ट व असंदिग्ध होना चाहिए। स्वयं सम्यक् दिशा ज्ञान रखने वाला शिक्षक ही छात्रों को सही दिशा की ओर अग्रसर कर सकता है। फ्रेरे कहते हैं कि माता -पिता और शिक्षकों का नजरिया बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए। दुनिया के बारे में वे क्या सोचते हैं, वर्तमान और भविष्य के बारे में उनकी क्या संकल्पनाएं हैं, यह बिलकुल स्पष्ट होना चाहिए। एक अध्यापक के निर्माण में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। एक साक्षात्कार में प्रश्नकर्ता को जवाब देते हुए वे इस सम्बन्ध में अपना रुख इन शब्दों में प्रकट करते हैं, ''आपका सवाल यह था कि कौन सा रास्ता निकले कि सत्ता और स्वतंत्रता के बीच टकराव होने के बावजूद इनके बीच का सम्बन्ध न टूटे। कई बार ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है कि साथ-साथ चलना लगभग असंभव हो जाता है। उदाहरण के लिए, मैं अपने नजरिए को किसी कट्टर प्रतिक्रियावादी के साथ कैसे बाँट सकता हूँ, बिल्कुल ही नहीं बाँट सकता हूँ, लेकिन मैं यथार्थ के सम्बन्ध में उसकी कुछ जानकारियों और ज्ञान को स्वीकार अवश्य कर सकता हूँ और, ऐसा करते हुए मैं उसके नजरिये को बदलने का भी प्रयास कर सकता हूँ।''[53] फ्रेरे संवाद के माध्यम से दूसरों के दृष्टिकोण में बदलवा लाने का समर्थन करते हैं।

भविष्य निर्माण हेतु आश्वस्त व सक्षम होना - फ्रेरे का विचार है कि अध्यापकों के लिए आश्वस्त और सक्षम होना भी अपरिहार्य है। वे जितने आश्वस्त होंगे उनका नजरिया उतना ही स्पष्ट होगा और वे यह अधिक जान सकेंगे कि वे अपने नजरिये

को व्यवहार में ढालने की क्रिया सीख रहे हैं। यह जानते हुए भी कि वे अपने सपने को यथार्थ में परिणत करने से काफी दूर हैं, यदि आज से ही कुछ नहीं करते हैं तो भविष्य के गर्भ में पड़े सैकड़ों लोगों के लिए बाधा खड़ी कर रहे हैं। अगली शताब्दी में लोगों द्वारा किया जाने वाला कार्य हमारे आज के कार्य पर निर्भर है, इस प्रकार के अध्यापकों को यह बात पूर्णतया स्पष्ट होनी चाहिए।

इसी सम्बन्ध में फ्रेरे का कथन है - 'भविष्य के गर्भ में पड़े लोगों को समेटे बिना मैं सपने देखने की बात नहीं कर सकता। भविष्य की तैयारी करने के लिए मैं उनके बारे में सोचता हूँ और उनके प्रति मेरे मन में प्रेम का एक विचित्र भाव पैदा होता है, जिन्होंने अभी तक दुनिया का चेहरा नहीं देखा है। यह एक सामूहिक कार्य है और इसका मतलब यह है कि जो आज की दुनिया में मौजूद हैं, वे महत्वपूर्ण हैं, जो कल आयेंगे, वे हमारे किये हुए कामों को आगे बढ़ायेंगे। ऐसे ही इतिहास बनता है''।[54] अपने मत की पुष्टि में फ्रेरे मार्क्स को उद्धरृत करते हुए कहते हैं कि उसने कहा है कि मनुष्य इतिहास बनाते हैं और इतिहास उन्हें बनाता है तथा मनुष्य इर्दगिर्द के यथार्थ से ही इतिहास का निर्माण करता है। हम वर्तमान में रहकर भविष्य के निर्माण का प्रयास कर रहे हैं। वर्तमान के निर्माण के माध्यम से हम भविष्य का निर्माण कर रहे हैं। नई पीढ़ी के लिए हम आने वाला वर्तमान बना रहे हैं। जिससे वे इतिहास का निर्माण करेंगे।

आत्मविश्वास सहित प्रभुत्व व स्वतन्त्रता के मध्य संतुलन - पाओलो का मत है कि बालक के विकास तथा शैक्षिक संदर्भ में माता-पिता और शिक्षक के नजरिये का विशेष महत्व तो होता ही है, साथ ही माँ-बाप व शिक्षक के लिए यह भी आवश्यक है कि वे बालक को समुचित स्वायत्तता प्रदान करें। बालकों में जिज्ञासा, उत्सुकता तथा अन्वेषणशीलता की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इसकी पूर्ति के समुचित अवसर व वातावरण उनको अवश्य मिलने चाहिएँ। वे अपने प्रश्नों के उत्तर स्वानुभव से खोजें, चीजों की जाँच पड़ताल कर निर्णय लेना सीखें एवं समस्या-समाधान की

क्षमता उनमें विकसित हो इस हेतु बालकों को पर्याप्त स्वायत्तत्ता मिलनी ही चाहिए।

एक आत्मविश्वास से परिपूर्ण शिक्षक अपने पास प्रभुत्व की शक्ति होते हुए भी उसका छात्रों के दमन हेतु प्रयोग नहीं करता है। वह उन्हें न केवल अपेक्षित स्वतन्त्रता प्रदान करता है अपितु स्वतन्त्रता हेतु किये जाने संघर्ष व कठिनाईयों से भी अवगत कराता है। शिक्षक को स्वयं पर विश्वास रखकर बालक की स्वतन्त्रता को सम्मान देते हुए ही अपने प्रभुत्व का प्रयोग करते हुए कुछ सीमायें भी निर्धारित करनी चाहिएँ। फ्रेरे घर में माँ बाप का एकाधिपत्य देखते हैं, विद्यालय भी ऐसे ही हैं। वे कहते हैं -

"अब अगर आप घर से कक्षा की ओर जाते हैं, तो वहां भी यही स्थिति है। इसका स्वभाव भी एक ही जैसा है। शिक्षक पिता नहीं होता, शिक्षक मामा-चाचा नहीं होता। शिक्षक शिक्षक होता है। उसका एक व्यक्तित्व होता है। वह शिक्षक होता है। चाचा, पिता, या माँ नहीं। उसका एक प्राधिकार होता है। कहने का तात्पर्य यह कि एक दायरे के भीतर उसे बच्चे के विकास के नजरिए से कुछ अनिवार्य कर्त्तव्य निभाने पड़ते हैं। यदि शिक्षक ऐसा नहीं करे, यदि शिक्षक में हिचक है, यदि वह योग्य नहीं है, यदि वह विद्यार्थी के सामने भावनात्मक और बौद्धिक नजरिए से स्वयं को स्थायी और सुरक्षित नहीं रख सके, तो पढ़ाना कठिन है। यदि शिक्षक डरा हुआ है और असुरक्षा महसूस कर रहा है तो उसके लिए विद्यार्थी को बिना बताए पढ़ाना कैसे संभव है। शिक्षक की असुरक्षा उसके विद्यार्थियों के साथ शिक्षक के अनिवार्य प्रभुत्व को नष्ट कर देती है। इसका दूसरा पहलू यह भी है कि बच्चों की स्वतंत्रता को एक हद तक कायम रखते हुए स्वतंत्रता और प्रभुत्व के बीच किस प्रकार संतुलन स्थापित किया जाये। तब शिक्षक को यह अपने विद्यार्थियों को बताना चाहिए कि वे अपने जीवन में अपने हक और अपनी स्वतंत्रता के लिए कैसे संघर्ष करते हैं।

शिक्षक के साथ सम्मिलित रूप से विद्यार्थियों को यह जानना होता है कि शिक्षक भी अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करते हैं।''[55]

फ्रेरे कहते हैं कि उनके लिए शिक्षण और पढ़ाने को अलग करना असंभव है। शिक्षित करते वक्त वे पढ़ाते हैं, तथा पढ़ाते समय शिक्षित करते हैं। लेकिन वे पाते हैं कि कभी -कभी ऐसी स्थिति और व्यवहार पैदा हो जाते हैं, जिनमें एक चीज दूसरी चीज से अलग हो जाती है। एक उदाहरण के द्वारा वे अपनी बात स्पष्ट करते हैं - ''अपने विद्यालय जीवन को याद करते हुए एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी से कह सकता है, क्या प्रो0 पीटर्स आपको याद हैं? ''हाँ, हाँ खूब याद हैं। वे हमें गणित तो बहुत अच्छा पढ़ाते थे लेकिन इसके सिवा उन्हें और कुछ नहीं आता था। गणित के अलावा उन्हें किसी चीज से कोई मतलब नहीं था।''[56] वे कहते हैं कि यदि कोई शिक्षक अपने प्रभुत्व का इस्तेमाल नहीं करता, विद्यार्थियों के लिए कोई सीमायें निर्धारित नहीं करता है, तो बाद में विद्यार्थी उसके लिए बहुत अच्छी सोच नहीं रखते हैं।

उद्देश्यों व दायित्वों का बोध - शिक्षक के सम्मुख उसके उद्देश्य व कार्य पूरी तरह स्पष्ट होने चाहिएँ। वह क्यों और किसके हितों के लिए कार्यरत है, यह ज्ञान उसे होना चाहिए। वह मूर्त मानवों के साथ तथा उन्हीं के लिए कार्य करता है, उनका सम्मान, उनके ज्ञान का सम्मान उसे करना ही चाहिए। उसके पास एक सुविचारित राजनीतिक दृष्टिकोण भी होना चाहिए। फ्रेरे का विचार है -

''अध्यापक को यह भी बखूबी मालूम होना चाहिए कि उसका काम क्या है और उसका उद्देश्य क्या है। इसका मतलब यह भी जानना है कि हम एक अध्यापक के रूप में क्यों और किसके खिलाफ सक्रिय हैं। हमें कैसी और किन मुश्किलों से रू-ब-रू होना है। उस प्रकार की शिक्षा में मेरा विश्वास नहीं जो 'मानवीयता' का पक्ष लेती है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह शिक्षा 'मानवीयता' में निहित नहीं होती। यह अमूर्त होती है। मेरे लिए मेरी, पीटर, जॉन जैसे मूर्त लोग

मानवीयता हैं। तब मेरे लिए यह जानना भी जरूरी होता है कि मैं किसके लिए काम कर रहा हूँ। इसके लिए अध्यापक के पास साफ राजनीतिक दृष्टि होनी चाहिए। मेरे अनुसार लोगों के ज्ञान का सम्मान करने का तरीका उस राजनीतिक दृष्टिकोण और ऐसे अध्यापक का चयन करना है, जो एक भिन्न प्रकार के समाज के बारे सोचते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि मैं जनता के ज्ञान का सम्मान नहीं करता हूँ तो मैं तुलनात्मक रूप से अधिक मुक्त समाज के लिए लड़ाई नही लड़ सकता।''[57]

शिक्षक को एक प्रबुद्ध चिन्तक भी होना चाहिए। उसे विगत इतिहास व सामायिक दशाओं की जानकारी हो। सामाजिक गत्यात्मकता को वह भली-भाँति समझता हो। उसका गहन ज्ञान उसे परिस्थितियों को समझने में सहायक होता है। ज्ञान की परिवर्तनशीलता में भी उसकी आस्था हो।

फ्रेरे कहते हैं कि शिक्षक को लोगों को साथ लेकर चलना चाहिए परन्तु लोगों के सामान्य ज्ञान से आगे बढ़कर सोचना चाहिए। उनका मकसद लोगों को साथ लेकर चलने का है, अकेले नहीं। इसके अलावा शिक्षक को यह भी समझ होनी चाहिए कि समाज के ढांचे किस तरह काम करते हैं। लोगों के बीच इसकी एक धारणा होती है। परन्तु आम धारणा तक नहीं रूक जाना है, निरन्तर आगे बढ़ना है। फ्रेरे की दृष्टि में सिद्धान्त यही करता है और सिद्धान्त तभी मददगार हो सकता है जब यह विश्वसनीय हो। लेकिन सिद्धान्त हमेशा बनता रहता है और यह परिवर्तनशील है।

एकजुटता में आस्था - शिक्षक को अपने पद के बल पर अथवा छात्र की तुलना में उम्र के अधिक होने के कारण अर्थात वैज्ञानिक व सामाजिक अनुमन्यताओं से मिले प्रभुत्व के कारण छात्रों पर अधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। उसे सह अस्तित्व एवं एकजुटता में आस्था रखते हुए पारस्परिक सम्मान के द्वारा छात्रों का प्रेम, विश्वास व आदर अर्जित करना चाहिए। फ्रेरे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि बैंक क्लर्कनुमा शिक्षक इसी में अपनी सुरक्षा देखता है, लेकिन यह नहीं समझता कि

उसकी इस अतिवार्द्धक्य वाली भूमिका में कोई सच्ची सुरक्षा नहीं है। सच्ची सुरक्षा के लिए तो दूसरों के साथ एकजुट होकर जीने का प्रयत्न करना आवश्यक है।

विनम्रता - पाओलो विनम्रता को शिक्षक का एक आवश्यक गुण मानते हैं। एक विनम्र शिक्षक ही स्वयं को अधूरा मानते हुए निरन्तर सीखने की प्रक्रिया में संलग्न रह सकता है। परन्तु यह विनम्रता ओढ़ी हुयी नहीं होनी चाहिए, यह स्वभाव का स्थायी गुण हो, शिक्षक के प्रत्येक व्यवहार से दीख पड़ने वाली हो। छात्रों का प्यार पाने, अथवा दाँव पैंच की वजह उनके साथ समझौता करने की दृष्टि से अपनायी गयी विनम्रता सच्ची विनम्रता नहीं है। इस सम्बन्ध में फ्रेरे कहते है।

"मैं विनम्र हूँ क्योंकि मैं अधूरा हूँ। बस बिलकुल इसी कारण विनम्र इसलिए नहीं होता हूँ कि लोग मुझे प्यार करें। हालांकि मैं चाहता हूँ कि लोग मुझे प्यार करें परन्तु मैं लोगों का प्यार प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार का जाल नहीं बिछाता हूँ, समझा आपने! यदि मैं इस प्रक्रिया को समझता हूँ तब मैं उदार हूँ, पूर्णतः उदार, विद्यार्थियों से सीखने के लिए हमेशा तत्पर।"[58] कभी-कभी शिक्षकों को अपने यथार्थ को समझने में भूल हो जाती है यहां तक कि वे अपने ज्ञान को जानने में भी भूल कर बैठते हैं। फ्रेरे एक उदाहरण के द्वारा इसे स्पष्ट करते हैं, मान लो यदि कोई विद्यार्थी अचानक कह बैठता है "प्रोफेसर, मेरे विचार में आप गलत हैं। यह ऐसा नहीं है, प्रश्न कुछ ओर है" तब वह शिक्षकों को संतुष्ट करता है। फ्रेरे ने स्वयं इस प्रकार के कई अनुभव प्राप्त किये हैं और उन्होंने उन्हें तुरन्त स्वीकार करते हुए उस मुद्दे पर नए तरीके से बोलना शुरू किया। फ्रेरे बात आगे बढ़ाते हैं - "जाहिर है, आप दूसरी पीढ़ी के हैं, आप शिक्षण के प्रति गंभीर रहे हैं, आप जो पढ़ाते हैं, जो अध्ययन करते हैं और जो उत्सुकता आपके अन्दर विकसित हुई है, उसके कारण आप विद्यार्थियों के प्रश्नों का ज्यादा स्पष्टता से उत्तर दे सकते हैं। बौद्धिक रूप से कम अनुभव वाले कम मदद कर पाते हैं परन्तु इसका मतलब यह नहीं है कि उनके पास मदद करने की संभावना ही नहीं होती। इसी कारण मेरे विचार से, हम

अध्यापकों को अपने में कई सद्‌गुण विकसित करने पड़ते हैं जिनमें, प्रगतिशील अध्यापक होने के नाते विनम्रता एक प्रमुख गुण है।''[59] फ्रेरे को यह भी विश्वास है कि सद्‌गुण उपहार के रूप में ग्रहण नहीं किये जा सकते, शिक्षक का सद्‌गुण मात्र बौद्धिक नहीं बल्कि व्यावहारिक भी होता है। शिक्षक को छात्रों के प्रश्नों का स्वागत करना चाहिए। कई प्रश्नों पर छात्र शिक्षक को गलत भी कह सकते हैं। शिक्षक व छात्र के बौद्धिक स्तर, संज्ञानात्मक स्तर, अनुभव व उम्र में अन्तर के कारण ऐसी स्थिति पैदा होना अस्वाभाविक नहीं है। इस स्थिति में शिक्षक को नये तरीके से अपनी बात छात्रों तक पहुँचानी चाहिए। शिक्षक भी छात्रों से सीखने के लिए सदैव तत्पर रहें। फ्रेरे स्वयं के विषय में पूरी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं -''जहाँ तक मेरी संज्ञानात्मक स्थिति का सवाल है, मैं अनवरत जानते रहने को उत्सुक हूँ। इस प्रक्रिया में मुझे हमेशा विनम्र बना रहना है। विद्यार्थियों को पढ़ाते वक्त एक शिक्षक के रूप में मैं हमेशा विनम्र बना रहना चाहता हूँ। मैं विनम्र इसलिए नहीं रहता हूँ कि मै समझौता करना चाहता हूँ। मैं किन्हीं दांवपेंच की वजह से विनम्र नहीं बनता। विश्वसनीय तौर पर में मैं विनम्र हूँ।''[60]

सक्रिय हस्तेक्षप - शिक्षा यदि सामाजिक परिवर्तन व विकास का साधन है तो शिक्षक एक अभिकर्ता है जो इस दिशा में सक्रिय भूमिका रखता है। परिस्थितियाँ यदि बदलाव की माँग करती हैं तो शिक्षक के द्वारा पहलकदमी करते हुए स्थितियों में हस्तक्षेप किया जाना चाहिए। वह मूक दर्शक के रूप में तटस्थ नहीं रह सकता है। तटस्थ कोई होता भी नहीं है। उत्पीड़न या अन्याय की दशाओं में चुप रहने का मतलब है, उसे समर्थन देना। संस्कृति भी समय के साथ बदलाव की माँग करती है। आवश्यकता अनुभव होने पर शिक्षक को निःसंकोच इस दिशा में उचित प्रयत्न करने चाहिए । फ्रेरे साफ तौर पर कहते हैं कि अध्यापक को केवल इसलिए चुप रहने का अधिकार नहीं है क्योंकि वह संस्कृति की रक्षा करता है। यदि वह अपनी बात लोगों तक नहीं पहुँचा सकता या नहीं मनवा सकता तो उसे चुप रहने का भी कोई अधिकार नहीं है। हस्तक्षेप करना अध्यापक का कर्त्तव्य है और इसमें उसे बिलकुल

डरना नहीं चाहिए। इसके लिए अध्यापक को किसी प्रकार की शर्म महसूस नहीं करनी चाहिए। यदि शिक्षक को शिक्षा देनी है तो उसे हस्तक्षेप भी करना है। वे व्यंग करते हैं कि जब मैं हस्तक्षेप की बात करता हूँ तो लोग यह समझते हैं कि एक अध्यापक के रूप में मैं एक बना बनाया औजार लेकर आऊंगा और पेड़ काटने लगूंगा।

वे शिक्षकों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि यदि आपको हस्तक्षेप करना है तो इसका बेहतरीन तरीका है कि आप कोई समाधान न बताएँ और दूसरा यह कि आप ईमानदार रहें। सबसे पहले आप कहें कि मै कुछ नहीं जानता हूँ। यदि मैं कुछ जानता भी होता तो भी मैं आपको कुछ नहीं बताता। यदि मैं ऐसा करता हूँ तो मुझे दूसरी बार, तीसरी बार, चौथी बार भी यही करना होगा। फिर आप कभी अपने पैरों पर खड़े नहीं हो पायेंगे। यह एक अध्यापक या शिक्षक का हस्तक्षेप है। इस प्रकार आप अपने अध्यापक होने की भूमिका को भी नहीं नकराते हैं, यह ठीक है। हस्तक्षेप करने का अर्थ लोगों (छात्रों) को उनकी समस्याओं का समाधान बताना नहीं है। अपितु उन्हें समस्या समाधान की प्रक्रिया में दक्ष बनाना है ताकि वे स्वयं समस्या को पहिचानें, उसका विश्लेषण करें और उसके हल के लिए स्वयं कदम उठायें।

अधिगमकर्ता में विश्वास - शिक्षक को सीखने वाले के प्रति आस्था होनी चाहिए। अपने विचार व दर्शन को छात्र (प्रौढ़ शिक्षा के सदर्भ में प्रौढ़ व्यक्ति तथा सामान्य सामाजिक संदर्भ में जनता) पर नहीं थोपना चाहिए। छात्र के व्यक्तित्व का अनादर करते हुए उसको अपरिपक्व, अज्ञानी, हीनतर व अक्षम मानना तथा स्वयं को ज्ञान व तकनीकों का विशेषज्ञ तथा छात्रों का उन्नायक मानना एक सच्वे प्रजातान्त्रिक, प्रगतिशील व मानववादी शिक्षक के लिए उचित नहीं है।

फ्रेरे का मानना है कि परिवारों में बालकों को जिस प्रकार के अनुशासित व अधिनायकवादी वातावरण में पाला-पोसा जाता है वे उसको ही उचित मानने लगते है तथा उसके प्रति अनुकूलित हो जाते हैं। फ्रेरे कहते हैं ''युवा लोग माता-पिता के

अधिकार वाली उस कठोर सम्बन्ध संरचना को, जिस पर स्कूल में भी जोर दिया जाता है, आत्मसात कर लेते हैं और जब वे पेशेवर शिक्षक बनते हैं तो (चूंकि उन सम्बन्धों के द्वारा उनमें स्वतंत्रता का भय भर दिया गया होता है।) स्वयं भी उन्हीं कठोर नमूनों को दोहराने लगते हैं, जिनमें उन्हें कुशिक्षित किया गया होता है। पेशेवर शिक्षकों में से ज्यादातर संवादविरोधी कर्म से क्यों चिपके रहते हैं, इसका उत्तर उनके वर्गीय दृष्टिकोण के अलावा इसी परिघटना में मिल सकता है। वे चाहे किसी भी तरीके से जनता के सम्पर्क में आयें उनके मन में लगभग अटल विश्वास रहता है कि उनका काम लोगों को अपना ज्ञान और तक़नीकें 'देना' है। वे स्वयं को जनता का 'उन्नायक' समझते हैं। उनके कार्यक्रम में (जो उत्पीड़क कर्म के किसी अच्छे सिद्धान्तकार द्वारा दिये गये निर्देश पर बने होते हैं) उनके अपने ही उद्देश्य होते हैं, उनके अपने ही दृढ़ विश्वास होते हैं, और उनके अपनी ही सरोकार होते हैं। वे जनता की बात नहीं सुनते, बल्कि इसके बजाए जनता को सिखाना चाहते हैं कि 'पिछड़ापन पैदा करने वाले इस आलसीपन' को छोड़ो। इन पेशेवर शिक्षकों को जनता की इस 'विश्वदृष्टि' का आदर करना ऊलजलूल लगता है कि शैक्षिक कर्म के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का संगठन करते समय जनता की सलाह अवश्य ली जानी चाहिए। उन्हें लगता है कि जनता का अज्ञान इतना परिपूर्ण है कि पेशेवर शिक्षकों की शिक्षाओं को ग्रहण करने के अलावा वह कुछ भी करने के योग्य नहीं है।''[61]

फ्रेरे पेशेवर शिक्षकों की इस सोच की आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा कुछ समय के लिए ही हो सकता है। लेकिन अपने अस्तित्वगत अनुभव के किसी विशेष बिंदु पर वे लोग, जिनकी संस्कृति पर आक्रमण किया गया है, किसी न किसी रूप में इस आक्रमण को खारिज करने लगते हैं (भले ही पहले वे उससे अनुकूलित रहे हों)। तब पेशेवर शिक्षक अपनी असफलता को उचित ठहराने के लिए कहने लगते हैं कि आक्रांत समूह के सदस्य 'हीनतर' हैं, क्योंकि वे 'कृतघ्न' हैं, 'अक्षम' हैं, 'रोगग्रस्त' हैं या 'मिश्रित रक्त वाले' हैं। ऐसी मानसिकता वाले शिक्षक स्वयं को उत्पीड़कों की कतार में शामिल कर उनके लिए दमन का औजार बन जाते

हैं। समय के साथ-साथ शिक्षकों को इस आक्रमणकारी रुख के परिणाम भी स्पष्ट होने लगते है। संवेदनशील शिक्षक स्वयं में बदलाव लेने का प्रयास भी करते हैं। यद्यापि 'स्वतन्त्रता का भय' उनकी राह रोकता है।

फ्रेरे के अनुसार सदाशयी पेशेवर शिक्षक अर्थात वे जो 'आक्रमण' का प्रयोग जानी बूझी विचारधारा के रूप में नहीं करते, बल्कि अपने संस्कारों की अभिव्यक्ति के रूप में करते हैं धीरे -धीरे यह जान लेते हैं कि उनकी कतिपय शैक्षणिक असफलताओं की वजह 'जनता के सीधे सादे मनुष्यों की अंतर्निहित हीनता नहीं, बल्कि उनके अपने ही आक्रमण कर्म की हिसां है। जो लोग यह जान लेते हैं उनके सामने एक कठिन समस्या आती है वे आक्रमण को त्यागने की आवश्यकता अनुभव करते हैं, लेकिन प्रभुत्व के नमूने उनके अंदर इस प्रकार जड़ जमाये बैठे होते हैं कि इस त्याग से उन्हें अपनी पहचान ही खतरे में पड़ती दिखाई देती है। आक्रमण को त्यागने का अर्थ होगा अपने उस द्वैत को समाप्त करना, जिसके कारण प्रभुत्व का शिकार व्यक्ति स्वयं को प्रभुत्वशाली समझता है। इसका अर्थ होगा आक्रमण को घोषित करने वाले सभी मिथकों को त्यागना और संवादात्मक कर्म को अपने व्यवहार में उतारना। इसी कारण से इसका अर्थ होगा जनता के साथ (साथियों की तरह) रहने के लिए, जनता के ऊपर या भीतर (विदेशियों की तरह) न रहना। अतः इन लोगों को स्वतंत्रता का भय जकड़ लेता है। यह उनके लिए मानसिक आघात की प्रक्रिया होती है। जिसमें स्वभावतः उनकी प्रवृत्ति टालमटोल या बहानेबाजी के अनेक तरीकों से अपने भय को तर्कसंगत बनाने की होती है।

फ्रेरे की दृष्टि में स्वतंत्रता का भय उन पेशेवर शिक्षकों में और ज्यादा होता है, जो स्वयं अभी अपने कर्म की आक्रमणकारी प्रकृति को जान नहीं पाए हैं, और जिन्हें बताया जाता है कि उनका कर्म अमानुषिक बनाने वाला कर्म है। अपने अनुभव बताते हुए इस सम्बन्ध में फ्रेरे कहते हैं कि उनके प्रशिक्षण पाठ्यक्रम के सहभागी अक्सर -और विशेष रूप से ठोस स्थितियों का अवकोड़न करते समय

-झुंझलाकर संयोजक से पूछते हैं। " आखिर आप हमें कहां हांक ले जाना चाहते हैं? संयोजक उन्हें कही हांक नहीं रहा होता है। होता सिर्फ यह कि सहभागी जब एक ठोस स्थिति का सामना समस्या के रूप में करते हैं तो वे समझने लगते हैं कि यदि उनका विश्लेषण कुछ गहराई में गया तो उन्हें या तो अपने मिथकों को वस्त्रों की भांति उतार फेंकना पड़ेगा, या उनकी अभिपुष्टि करनी पड़ेगी। उस क्षण अपने मिथकों को छोड़ना या उतार फेंकना उन्हें अपने प्रति की जाने वाली हिंसा जैसा लगता है। दूसरी तरफ उन मिथकों की अभिपुष्टि करना उन्हें अपना भेद खोल देने जैसा प्रतीत होता है। फ्रेरे ने 'इंट्रॉडक्शन ए ला एक्शन कल्चरल' में इसकी व्याख्या करते हुए कहा है कि इन दोनों चीजों से बचने का एक ही उपाय है (जो एक प्रतिरक्षा प्रणाली का काम करता है) कि वे जो काम सामान्यतः स्वयं करते हैं अर्थात हांकना, जीतना, हमला करना-उसे संयोजक के मत्थे मढ़ दें।

फ्रेरे के अनुसार यह यथार्थ से मुकरना है और यह चीज (हालांकि छोटे -छोटे पैमाने पर) जनता के उन लोगों में भी दिखाई पड़ती है, जो उत्पीड़न की एक ठोस स्थिति में निर्मित और दया द्वारा पालतू बनाये हुए होते हैं। उपलब्धि और निजी सफलता की संस्कृति से अनुकूलित एक अलगावग्रस्त आदमी अपने लिए वस्तुपरक रूप से प्रतिकूल स्थिति को समझने से भी डरता है। उसे लगता है कि ऐसा करने में उसकी अपनी सफलता की संभावनाएँ बाधित होंगी।

निष्कर्ष रूप में फ्रेरे का मानना है कि पेशेवर शिक्षक प्रभुत्व का परिणाम होते हैं न कि उसके सिद्धान्तकार। इसलिए वे सक्रिय कार्यकर्ता व आलोचक की भूमिका का निर्वाह नहीं कर पाते। परिणामतः वे स्वयं प्रभुत्व वर्ग का औजार या प्रमुख का कारण बन जाते हैं। उनके इस दोष को, विचलन को, क्रान्ति के माध्यम से सही मार्ग पर लाया जा सकता है।

पेशेवर शिक्षकों वाले मामले में संस्कृति की उस निर्धारित शक्ति को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है, जो उन मिथकों का विकास करती है, जिन्हें बाद में

मनुष्य आत्मसात कर लेता है। प्रभुत्वशाली वर्ग की संस्कृति मनुष्यों की इस स्वीकृति (अभिपुष्टि) को बाधित करती है कि वे भी निर्णय ले सकने वाले मनुष्य हैं। इस ऐतिहासिक प्रक्रिया में सक्रिय कर्ताओं की तरह बोलने और कर्म करने का काम पेशेवर शिक्षक नहीं करते हैं। कहना न होगा कि यह एक अत्यन्त गंभीर समस्या है, जिसका सामना क्रांति को सत्ता में पहुँचने पर करना पड़ता है। यह अवस्था नेताओं से अधिकतम राजनीतिक समझदारी, निर्णय और साहस की मांग करती है, जिनके पास इसी कारण से इतना विवेक होना चाहिए कि वे अविवेकपूर्ण संकीर्णतावादी दृष्टिकोण न अपना लें।

फ्रेरे इस स्थिति से निराश नहीं हैं। उनकी आशावादिता व सकारात्मक सोच स्वयं स्पष्ट हो जाती है जब वे कहते हैं कि पेशेवर लोग चाहे किसी भी क्षेत्र के हों, और वे विश्वविद्यालयों के स्नातक हो या न हों, ऊपर से निर्धारित किये गये होते हैं। (यदि वे निम्न वर्गों के सदस्य होते हैं, तो भी उनकी यह कुशिक्षा और ज्यादा खराब नहीं तो ऐसी ही हुई होती) लेकिन नए समाज के पुर्नगठन के लिए ये पेशेवर लोग आवश्यक हैं। और चूंकि उनमें से बहुत से -भले ही 'स्वतंत्रता से भयभीत' हों और मानुषीकरण के कर्म में लगने से हिचकते हों-और कुछ नहीं, सिर्फ बहकाए और भटकाए गये लोग होते हैं, इसलिए क्रान्ति न केवल उन्हें सही रास्ते पर ला सकती है, बल्कि उसे उन्हें सही रास्ते पर लाना ही चाहिए।

प्रतिबद्धता - किसी भी कार्य व्यवसाय में कार्यरत व्यक्ति के लिए कार्य के प्रति निष्ठा, समर्पण भावना तथा प्रतिबद्धता होना आवश्यक है। शिक्षक के लिए तो इनका महत्व और भी बढ़ जाता है। चूंकि वह छात्र समुदाय के लिए ही नहीं वृहत्तर समाज के लिए भी जवाबदेह होता है। एक प्रतिबद्ध शिक्षक ही अपने ज्ञान से, अपने चिन्तन से अधिकाधिक लोगों को लाभान्वित कर सकता है। फ्रेरे की सीख है -

"यदि आपके पास कुछ ज्ञान है, कुछ सोच है तो यह आपकी जिम्मेदारी है कि आप इसे लोगों के साथ बाँटें। यदि आपमें प्रतिबद्धता है, उस प्रतिबद्धता पर

काम करने का जिम्मा आपके ऊपर है। यदि आप शिक्षा के क्षेत्र में हैं तो आप शिक्षा के क्षेत्र में यह कार्य कीजिए।''[62]

शिक्षक को अपने दायित्व का बोध होने के साथ-साथ यह अहसास भी होना चाहिए कि वह शिक्षा जैसे महत्वपूर्ण कार्य में संलग्न है।

आत्म विकास - शिक्षक को सदैव अपने व्यवहार का मूल्यांकन करते हुए आत्म सुधार के लिए प्रयासरत रहना चाहिए। अध्यापक अपने पेसे की दृष्टि से गुणों एवम् व्यवहारों में अन्य व्यक्तियों से भिन्न होता है। अतः उसे यह विशिष्टता अर्जित करने का प्रयत्न भी करना चाहिये। संवदेनशीलता व समानुभूति के गुण एक शिक्षक के लिए आवश्यक हैं, परन्तु ये गुण उसे प्रशिक्षण द्वारा नहीं सिखाये जा सकते हैं, इस सम्बन्ध में फ्रेरे कहते हैं -

''मेरे विचार से हमें अपने व्यवहार का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर अपने में एक अध्यापक के कुछ गुण, कुछ विशिष्टता निर्मित करनी चाहिए। उदाहरण के लिए दूसरों की भावनाओं को ज्यादा से ज्यादा अनुभव करना, इस हद तक संवेदनशील होना कि कोई समूह या व्यक्ति उस विशिष्ट क्षण में क्या सोच रहा है, इसका अनुमान कर लेना, अध्यापक के कुछ गुण कहे जा सकते हैं। इन्हें विषय -वस्तु के रूप में नहीं पढ़ाया जाता, ये चीजें एक अच्छे शिक्षक के उदाहरण के जरिए ही सीखी जा सकती हैं।''[63]

स्वभावगत विशेषताएं - फ्रेरे अध्यापक होने के लिए कुछ गुणों को अनिवार्य मानते हैं, जैसे उसके प्यार करने का सामर्थ्य, दूसरों की स्थिति को स्वीकार किये बिना उन्हें समझना और दूसरों पर क्रोधित न होने की क्षमता। यदि दूसरे स्वयं से भिन्न हों तो भी शिक्षक को उनसे बात करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

फ्रेरे का मानना है कि प्यार और उत्सुकता अध्यापक के अभिन्न अंग होते हैं वस्तुतः एक शिक्षक यदि उन छात्रों से, व्यक्तियों से प्रेम नहीं करता जिनके साथ उसे अपना कार्य सम्पन्न करना है तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता है। उसे

व्यक्तियों, परिवेश व समाज के विषय में जानने के लिए, उन्हें समझने के लिए भी सदैव उत्सुक व जिज्ञासु होना चाहिए।

ऐतिहासिक व सांस्कृतिक संवेदना - संवेदनशीलता शिक्षक का अत्यावश्यक गुण है। सामाजिक, सांस्कृतिक रूप से संवेदन शून्य व्यक्ति अच्छा शिक्षक नहीं बन सकता, चूंकि शिक्षा तो एक मानवीय व सामाजिक प्रक्रिया है। फ्रेरे का मानना है कि- "जो संगठनकर्ता शिक्षा प्रदान करना चाहते हैं उन्हें अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संवेदना अवश्य विकसित करनी चाहिए। जिस अध्यापक या लामबंद करने वाले संगठनकर्ता के पास यह दृष्टि नहीं है उसे इस पेशे में नहीं आना चाहिए। दूसरे, पूर्वाभास की संवेदना के बगैर अध्यापक बनना संभव नहीं है।"[64] साथ ही साथ संवदेना की कमी भी व्यक्ति को अच्छा अध्यापक बनने से रोकती है। चीजों को पहले से समझने की योग्यता होनी चाहिए। परन्तु वे सचेत करते हैं कि पूर्वाभास ही सब कुछ नहीं होता। अपने पूर्वभास को ज्ञान से भी जोड़ना होगा और उस पर सैद्धान्तिक पकड़ भी बनानी होगी। सिर्फ इसलिए नहीं कि वह है, इसी पर सब कुछ छोड़ देना नहीं होगा।

विस्मय पूर्णता - शिक्षक को एक बालक की तरह सदैव जिज्ञासु व विस्मयपूर्ण होना चाहिए। यही वे गुण हैं जो उसे और अधिक जानने तथा अधिक गहराई से जानने के लिए प्रेरित करते हैं। समस्या-अन्धता रखने वाला शिक्षक सब कुछ हरा ही हरा (अच्छा ही अच्छा) देखता है। उसे सब सुन्दर नजर आता है। जागरूकता व संवेदनशीलता रखने वाला शिक्षक ही ज्ञान-पथ पर अग्रसर रहता है। फ्रेरे कहते हैं कि "मेरे विचार से एक अच्छा शिक्षक वह है और वही शिक्षक स्थायी तौर पर कुशल हो सकता है, जो लगतार विस्मय के प्रति सजग रहता है और कभी भी विस्मित होना नहीं छोड़ता। है न? जिंदगी में विस्मित न होना सबसे खराब है। हमें हमेशा अपनी आंखें खुली रखनी चाहिएं। आज हो सकता है, एक फूल आपके आश्चर्य का कारण

बने। दूसरे दिन हो सकता है फूल वही हो लेकिन उसकी रंगत बदल चुकी हो क्योंकि वह पुराना हो चुका है।''[65]

शिक्षक का प्रशिक्षण नही अपितु निर्माण - फ्रेरे शिक्षक के लिए शिक्षण कार्य के निष्पादन में महारत हासिल करने के लिए विषयवस्तु की विशेषज्ञता, इसके इतिहास का बोध तथा इसे पढ़ाने की विधियों में कुशलता आवश्यक मानते हैं। शिक्षण करने वाले ही उनकी दृष्टि में शिक्षक हैं। जो पढ़ाता नहीं बाकी सारे कार्य करता है। जैसा कि अपने देश में प्रायः देखने को मिलता है, वह शिक्षक भी नहीं है। फ्रेरे का दृढ़ विश्वास है कि जो शिक्षक पढ़ाता नहीं वह मृतप्राय होता है। वे कहते हैं कि यदि वह शिक्षक है तो उसे कुछ ने कुछ तो पढ़ाना ही पड़ेगा। शिक्षक के लिए केवल विषय-वस्तु की जानकारी ही पर्याप्त नहीं बल्कि उसे इसकी भी जानकारी होनी चाहिए कि इस विषय को कैसे पढ़ाया जाए। उसे केवल विषय वस्तु की ही नहीं बल्कि इसके इतिहास की भी जानकारी होनी चाहिए।

फ्रेरे शिक्षक के प्रशिक्षण की बात न कहकर उसके निर्माण की बात करते हैं। प्रशिक्षण का अर्थ है एक निश्चित समयावधि में व्यक्ति को कुछ विशेष प्रकार के ज्ञान व कौशलों में दक्ष बनाना। इसमें व्यक्ति में मूलतः विशेष परिवर्तन नहीं आ पाते हैं जबकि निर्माण एक नये शिक्षक के सृजन की निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया है जिसमें व्यक्ति के भीतर आलोचनात्मक बोध उत्पन्न होता है । फ्रेरे का सुझाव है कि बदलती हुयी परिस्थितियों के अनुरूप शिक्षकों को ढालने का यह कार्य भी निरन्तर किया जाये। ऐसे शिक्षक निर्मित किये जायें जो पूर्णतः कर्म के प्रति समर्पित व कटिबद्ध हों।

फ्रेरे कहते हैं -''मैं प्रशिक्षण शब्द को बहुत पसंद नहीं करता। यह मेरा पूर्वग्रह हो सकता है परन्तु मैं निर्माण कहना ज्यादा पसन्द करता हूँ, जिसे फ्रांसीसी में 'फॉरमेशन' और पुर्तगाली में 'फॉरमाकाओ' कहते हैं। एक क्रांतिकारी या प्रगतिशील सरकार के लिए, शिक्षाविद् तथा राजनीतिज्ञों के लिए, सबसे महत्वपूर्ण काम है-

अध्यापकों का निर्माण। मैं अपनी जनता को भी इस परिधि के बाहर नहीं रखना चाहता, यद्यपि अभी तक उसने क्रान्ति नहीं की है। लेकिन निर्माण को समझना ऐसा कुछ नहीं है, जिसे हम सप्ताहांतों में, या कई सेमेस्टरों में कर सकते हैं। बल्कि निर्माण को एक निरन्तर प्रक्रिया होना चाहिए और निर्माण के दौरान हमारे अन्दर एक आलोचनात्मक समझ भी विकसित होनी चाहिए कि हमें क्या करना चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जो लोग इस दल या समूह में शामिल किये जायें, वे शिक्षकों से ज्यादा जानकारी रखते हों और शिक्षक जो कुछ कर रहे हों, उनमें वे सुधार ला सकें। इस प्रकार गंभीर, नाजुक और भारी काम के जरिए हमें शिक्षकों को ढालना, पुनः ढालना चाहिए और स्थायी तौर पर शिक्षक बनाने चाहिएं तथा जनता के साथ छलकपट नहीं करना चाहिए।''[66]

फ्रेरे शिक्षकों की सामाजिक प्रतिष्ठा व कार्यदशाओं के प्रति भी चिन्ता व्यक्त करते हैं । वे मानते हैं कि शिक्षकों की योग्यता और क्षमता बढ़ाने के लिए यह जरूरी है कि उनका सम्मान किया जाये और उन्हें अच्छा वेतन दिया जाये। वे मानते हैं कि लैटिन अमेरिका में कई शिक्षक गंम्भीरतापूर्वक नहीं पढ़ाते हैं क्योंकि उन्हें बहुत कम वेतन मिलता है। शिक्षकों को जरूरत से ज्यादा काम करना पड़ता है और उन्हें आराम करने का मौका कम मिलता है। इसी कारण वे इसे सही समझते हैं कि शिक्षक को संघर्ष करना चाहिए, लड़ना चाहिए। उनका मानना है कि अपने प्रति भेदभाव और कम वेतन के विरुद्ध किसी भी सरकार के खिलाफ संगठित होना एक गंभीर शिक्षक का अधिकार और कर्त्तव्य है। विद्यार्थियों को यह बताने के लिए कि वे अपने कर्त्तव्य के प्रति गंभीर हैं कभी -कभी शिक्षकों को संघर्ष भी करना पड़ सकता है। उन्हें अपने वेतन के लिए संघर्ष करना चाहिए और साथ ही अपनी योग्यता भी बढ़ानी चाहिए।[67]

3.8 छात्र-शिक्षक सम्बन्ध-

फ्रेरे की दृष्टि में विद्यार्थियों को आगे बढ़ाने में एक प्रगतिशील अध्यापक की महत्वपूर्ण भूमिका है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि यह भूमिका बहुत आसान नहीं है। आदर्श छात्र-शिक्षक सम्बन्धों के स्वरूप की पूरी समझ एक प्रगतिशील शिक्षक को अवश्य ही होनी चाहिये। जनतांत्रिक सम्बन्धों का निर्वहन करते हुए शिक्षण अधिगम प्रक्रिया को सुचारू रूप से चलाना शिक्षक के लिए एक चुनौतीपूर्ण कार्य है। एक अधिनायकवादी शिक्षक के सम्मुख ऐसी कोई चुनौती नहीं होती है।

कक्षा की व्यवस्था को बनाये रखने के लिए शिक्षक व छात्र व्यवहार के मापदण्डों का निर्धारण किया जाता है। छात्रों व शिक्षकों को इनका ज्ञान होना चाहिये। इनमें उनकी पूर्ण आस्था होनी चाहिये। अपने कर्तव्यों से विमुख शिक्षक छात्रों से आदर्श व्यवहार की माँग नहीं कर सकता है। अपना सम्मान खो चुके शिक्षक छात्रों पर अपना अधिकार भी खो देते हैं। इसे स्पष्ट करते हुए फ्रेरे कहते हैं-

''शिक्षक द्वारा लगायी गयी सीमाओं के बिना विद्यार्थी जानकारी नहीं प्राप्त कर सकते। कहने का मतलब यह कि शिक्षक को ये सीमाएं जबरन आरोपित करनी होती हैं। उदाहरण के लिए, लोकतंत्र के नाम पर यदि विद्यार्थी मनमाने ढंग से कक्षा के बाहर और अंदर आते जाते रहें तो किसी शिक्षक के लिए पढ़ना कैसे संभव हो सकता है। शिक्षक यदि पहले ही दिन यह नहीं कह पाये कि ''नहीं यह असंभव है, आपको मेरे ही समान समय पर आना और जाना होगा।'' तो क्या हो? उस शिक्षक के लिए विद्यार्थियों के मन में क्या सम्मान होगा जो कभी समय पर नहीं आते, और कक्षा में नहीं आने के लिए विद्यार्थियों से समझौता कर लेते हैं।''[68] जो शिक्षक गुपचुप रूप से विद्यार्थियों को अगली कक्षा में न आने के लिए उकसाते हैं, उन्हें फ्रेरे की निगाह में सम्मान प्राप्ति का कोई अधिकार नहीं है, क्योंकि वे अपने नियंत्रण या अधिकार की सीमा को लांघ चुके होते हैं। आजादी इस प्रकार के आदेश का सम्मान

नहीं करती और इससे संबंध ध्वस्त हो जाते हैं। उनके विचार से यह बहुत महत्वपूर्ण है। उदाहरण के लिए, वे स्वयं और समाज में सत्ता के बीच स्थापित सम्बन्धों में भी यही बात देखते हैं। साथ ही फ्रेरे इस बात को भी स्वीकार करते हैं कि सीमा या प्रतिबंध का एक दूसरा पक्ष भी होता है- निषेधात्मक पक्ष। प्रतिबन्ध वृद्धि और विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। अतः सीमाओं व प्रतिबन्धों को तय करते समय यह ध्यान अवश्य रखा जाये कि ये व्यक्तिगत स्वायत्तता का हनन करने वाली व दमनात्मक न हों। व्यवस्था की दृष्टि से इनका महत्व है इसमें सन्देह नहीं, परन्तु व्यवस्था या अनुशासन के नाम पर, प्रदत्त सत्ता या प्रभुत्व के बल पर दूसरों की स्वतंत्रता हस्तगत कर लेना फ्रेरे अन्यायपूर्ण मानते हैं, चाहे यह शासक द्वारा जनता के साथ किया जाये अथवा शिक्षक द्वारा छात्र के साथ। अतः दोनों को अपनी सीमाओं का बोध होना, कर्तव्यों व अधिकारों का सम्यक ज्ञान होना फ्रेरे के मतानुसार अत्यन्त आवश्यक है।

छात्र छात्रोचित व्यवहार रखें, व्यवहार के मानकों का पालन करें तथा शिक्षक का सम्मान करें इसके लिए जरूरी है कि शिक्षक भी शिक्षक-व्यवहार के मानदण्डों के अनुसार ही आचरण करें। सीमायें या प्रतिबन्ध अर्थात नियम यदि अनुचित, दमनात्मक, पक्षपातपूर्ण व अन्यायपूर्ण दृष्टिगोचर हों तो उनको बदलवाने के लिए प्रयत्न करना फ्रेरे व्यक्ति का अधिकार मानते हैं।

शिक्षक व छात्र सह-कर्ता है - मानववादी और क्रांतिकारी शिक्षक के प्रयास आरम्भ से ही छात्रों के प्रयासों से मेल खाने वाले होने चाहियें, ताकि वह और उसके छात्र आलोचनात्मक चिंतन और पारस्परिक मानुषीकरण के अन्वेषण में संलग्न हो सकें। उसके प्रयास मनुष्यों और उनकी सृजनात्मक शक्ति में गहन विश्वास से अनुप्राणित होने चाहियें। इसके लिए उसे अपने छात्रों के साथ ऐसे सम्बन्ध बनाने चाहियें कि वह उनका साझेदार हो सके।

बैंकीय अवधारणा में ऐसी साझेदारी के लिए कोई जगह नहीं- और उसमें इसके लिए जगह न होना जरूरी भी है, क्योंकि ऐसी साझेदारी से, जो क्रान्तिकारी मानववादी शिक्षा की विशेषता है, शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध का समाधान होता है। शिक्षक जमाकर्ता, निर्देशक और पालतू बनाने वाला न रह कर छात्रों के बीच एक छात्र बन जाता है, और यह चीज उत्पीड़न की जड़ खोदने वाली तथा मुक्ति के उद्देश्य को पूरा करने वाली हो जाती है।

छात्र-शिक्षक के मध्य अन्तर्विरोध का समाधान- फ्रेरे की मुक्तिदायी शिक्षा में सूचनाओं के हस्तांतरण नहीं होते, बल्कि संज्ञान काग्नीशन के कर्म होते हैं। यह अधिगम (लर्निंग) की वह स्थिति है, जिसमें संज्ञेय वस्तु (संज्ञान के कर्म का अंत होने के बजाए) संज्ञाताओं के बीच एक माध्यम का काम करती है। संज्ञाताओं में एक ओर शिक्षक होता है, दूसरी ओर छात्र। तदनुसार, समस्या-उठाऊ शिक्षा सबसे पहले शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध के समाधान की मांग करती है। अन्यथा फ्रेरे मानते हैं कि- संज्ञाताओं के बीच संवादात्मक सम्बन्ध नहीं बन सकते, जो एक ही संज्ञेय वस्तु के बोध में परस्पर सहयोग कर सकने के लिए अनिवार्य है।

वास्तव में, समस्या-उठाऊ शिक्षा उन लंबवत् सांचों (पैटर्न) को, जो बैंकीय शिक्षा की विशेषता होते हैं, तोड़ कर स्वतंत्रता का व्यवहार करने के अपने काम को तभी पूरा कर सकती है, जब वह उपर्युक्त अंतर्विरोध का समाधान कर सके। संवाद से शिक्षक छात्रों का शिक्षक और छात्र शिक्षक के छात्र नहीं रहते, बल्कि एक नया पद सामने आता है। छात्र-शिक्षकों के साथ शिक्षक-छात्र के साथ। अब शिक्षक महज वह नहीं रहता है जो पढ़ाता है, बल्कि छात्रों से संवाद करते समय स्वयं भी उनसे पढ़ता है। दूसरी तरफ छात्र भी वे नहीं रहते जो पढते हैं, बल्कि शिक्षक से संवाद करते समय पढ़ने के साथ-साथ पढ़ाते भी हैं। शिक्षक और छात्र, दोनों उस प्रक्रिया के लिए उत्तरदायी हो जाते हैं, जिसमें सभी की वृद्धि होती है। इस प्रक्रिया में अधिकार पर आधारित तर्कों की कोई वैधता नहीं रहती, क्योंकि यहां अधिकारी को

यदि काम करना है तो उसे स्वतंत्रता के विरूद्ध नहीं, बल्कि उसके पक्ष में होना पड़ेगा। यहां न तो कोई दूसरे को शिक्षित करता है, न स्वयं शिक्षित होता है। यहाँ मनुष्य एक दूसरे को शिक्षित करते हैं और उनके बीच में होता है विश्व, अर्थात वे संज्ञेय वस्तुएं, जो बैंकीय शिक्षा में शिक्षक की अपनी वस्तुएँ होती है।''[69]

शिक्षक सदैव संज्ञानात्मक होता है, छात्र आलोचनात्मक सह-अनुसंधानकर्ता - फ्रेरे का प्रगतिशील शिक्षक अपने कर्म को 'संज्ञानात्मक' व 'वर्णनात्मक' दो भागों में विभाजित नहीं करता है। शिक्षक अपने स्तर पर 'जाने', छात्रों को उसे 'बताये' और छात्र उसे बस याद कर लें, फ्रेरे के मत से यह सच्चा ज्ञानार्जन नहीं है। ऐसा ज्ञान तो शिक्षक द्वारा अर्जित ज्ञान है जिसे वह छात्रों को सौंपता मात्र है। यह शिक्षक का ज्ञान, विचार या अनुभव होता है, छात्र का नहीं। छात्र उसे उपयोग में (परीक्षा कक्ष में उत्तर पुस्तिका पर उत्तर लिख कर) लाता है, तत्पश्चात विस्मृत कर देता है।

बैंकीय अवधारणा में, जिसमें हर चीज को दो फांक करने की प्रवृत्ति होती है शिक्षक के कर्म की दो अवस्थाएं मानी जाती हैं। पहली अवस्था में, जब वह अपने अध्ययन-कक्ष में या प्रयोगशाला में बैठकर छात्रों के लिए पाठ तैयार करता है, संज्ञेय वस्तु का संज्ञान करता है, दूसरी अवस्था में वह छात्रों के सामने उस वस्तु का प्रतिपादन करता है। छात्रों से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वे उस वस्तु को जानें, अपेक्षा यह की जाती है कि शिक्षक ने जो बातें बतायी हैं, उन्हें याद कर लें। छात्र भी किसी संज्ञान कर्म का अभ्यास नहीं करते, क्योंकि जिस वस्तु पर यह कर्म होना चाहिये, वह वस्तु शिक्षक और छात्रों के बीच आलोचनात्मक चिंतन उत्पन्न करने का माध्यम नहीं होती, बल्कि शिक्षक की अपनी संपत्ति होती है। अतः ज्ञान और संस्कृति को सुरक्षित रखने के नाम पर एक ऐसी व्यवस्था निर्मित हो जाती है, जिसमें न तो सच्चा ज्ञान उपलब्ध होता है, न सच्ची संस्कृति।

इसके विपरीत, समस्या उठाऊ शिक्षा की पद्धति शिक्षक-छात्र की गतिविधि को दो फाँक नहीं करती, क्योंकि शिक्षक एक जगह 'संज्ञानात्मक' और दूसरी जगह

'वर्णनात्मक' नहीं होता। वह हमेशा 'संज्ञानात्मक' होता है, चाहे वह शिक्षा की कोई परियोजना तैयार कर रहा हो या छात्रों से संवाद कर रहा हो। वह संज्ञेय वस्तुओं को अपनी निजी संपत्ति नहीं, बल्कि ऐसी वस्तु समझता है, जिस पर उसे और छात्रों को मिल जुल कर विचार करना है। छात्र जो अब दब्बू श्रोता नही रहते- शिक्षक से संवाद करते हुए आलोचनात्मक सह- अनुसंधानकर्ता बन जाते हैं। शिक्षक छात्रों के विचारार्थ सामग्री प्रस्तुत करता है और जब वे उस पर अपने विचार व्यक्त करते हैं, वह उससे सम्बन्धित अपने पूर्ववर्ती विचारों की पुनर्परीक्षा करता है। समस्या उठाऊ शिक्षक की भूमिका, छात्रों के साथ मिल कर, ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने की होती है, जिनमें कट्टर विचार (डोक्सा) के स्तर का ज्ञान तर्क (लॉगोस) के स्तर के उच्चतर ज्ञान में बदले।

शिक्षा वर्णन के रोग से पीड़ित है - फ्रेरे परम्परागत शिक्षण पद्धति की आलोचना करते हैं जिसमें शिक्षक के ही हाथ में कक्षा की पूरी बागडोर होती है, वही सक्रिय होता है, लगातार बोलता है और छात्र निष्क्रिय जड़ वस्तु की भांति, मूक श्रोता के रूप में सिर्फ सुनते हैं। शिक्षक-छात्र सम्बन्ध एकतांत्रिक व्यवस्था की भांति होते हैं। अंतः क्रिया शून्य होती है। स्कूल के अन्दर का हो या बाहर का, किसी भी स्तर के शिक्षक-छात्र सम्बन्ध का सावधानी से विश्लेषण किया जाये तो पता चलता है कि इस सम्बन्ध का चरित्र मूलतः वर्णनात्मक होता है। इस सम्बन्ध में एक ओर वर्णनकारी कर्ता (शिक्षक) होता है और दूसरी ओर उसकी धैर्यवान, श्रवणकारी वस्तुएं (छात्र)। मूल्य हों या यथार्थ के प्रत्यक्ष आयाम, जिन चीजों का वर्णन किया जाता है, वे वर्णन की प्रक्रिया में निर्जीव और जड़ हो जाती हैं। फ्रेरे अंतिम विश्लेषण के सार रूप में घोषित करते हैं कि शिक्षा वर्णन के रोग से पीड़ित है।

शिक्षक यथार्थ के विषय में इस तरह बोलता है, मानो वह (यथार्थ) कोई गतिहीन, स्थिर, खानों में बँटी हुई और ऐसी चीज हो, जिसके विषय में भविष्यवाणी की जा सकती हो। या फिर वह किसी ऐसे विषय का प्रतिपादन करता है, जिसका

छात्रों के अस्तित्वगत अनुभव से कोई सम्बन्ध नहीं होता। उसका काम है अपने वर्णन की अंतर्वस्तुओं से छात्रों को 'भर देना'। और वे अंतर्वस्तुएं यथार्थ से कटी हुई होती हैं- उस संपूर्णता से विच्छिन्न, जिसका वे अंश होती है और जो उन्हें सार्थक बनाती है। इस प्रक्रिया में शब्दों से उनका ठोसपन गायब हो जाता है और फ्रेरे के अनुसार वे ऐसा खोखला वाग्जाल बन जाते हैं, जो यथार्थ से अलग होता है और अलगाव पैदा करता है।

फ्रेरे कहते हैं कि शिक्षक को 'मुक्ति' के लिए अर्थात परम्परागत शिक्षक की अपनी भूमिका का पूर्णतः परित्याग कर एक प्रगतिशील क्रांतिकारी शिक्षक बनने के लिए, इस एकपक्षीय एकतान्त्रिक स्वरूप को आमूल-चूल परिवर्तित करने के लिए ''जीसस की भांति'' मरना ही होगा तभी वह एक नये शिक्षक के रूप में पुनर्जीवित हो सकेगा। यह पुनर्जन्म प्राप्त किया शिक्षक छात्र-शिक्षकों का शिक्षक-छात्र होगा।

3.9 विद्यालय, परिवार व राज्य-पारस्परिक सम्बन्ध-

फ्रेरे की दृष्टि में शैक्षिक प्रणाली एक बड़ी व्यवस्था के भीतर एक छोटी व्यवस्था है। बड़ी व्यवस्था या प्रणाली से उनका तात्पर्य उत्पादक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था, संरचनात्मक व्यवस्था से है। पाओलो इस व्यवस्था के खिलाफ दो मोर्चों पर लड़ना चाहते हैं। एक स्कूली व्यवस्था के भीतर और दूसरा स्कूली व्यवस्था के बाहर। उनका मानना है कि स्कूली व्यवस्था के बाहर काम करने का, निर्णय लेने का, चुनाव करने का अधिक से अधिक अवसर प्राप्त है। उप-व्यवस्था या स्कूली व्यवस्था में भी इस प्रकार के अवसरों और अवकाशों का निर्माण किया जा सकता है। वे कहते हैं कि उन लोगों के साथ ज्यादा से ज्यादा संबंध बनाना चाहिये जो व्यवस्था से बाहर हैं। और उनके अनुभवों का लाभ उठाना चाहिये। वे स्वीकारते हैं कि स्कूली व्यवस्था नौकरशाही के बंधन में इतनी जकड़ी हुई होती है कि कभी-कभी हताशा हो जाती है। दो साल, तीन साल, चार साल, यहाँ तक कि दस-दस साल काम करने के बाद जब काम से कोई नतीजा नहीं निकलता दीखता, तो विश्वास टूटने लगता है। जबकि

स्कूली व्यवस्था के बाहर काम करने की ज्यादा छूट है। फिर भी व्यवस्था के भीतर भी मिल जुलकर काम करने के तरीकों पर विचार करना आवश्यक है, हालांकि वे इसे आसान काम नहीं मानते हैं।

फ्रेरे विद्यालय के महत्व को कम करके नहीं आंकते हैं। परन्तु उनकी दृष्टि में यह जरूरी है कि विद्यालय परम्परागत तौर-तरीकों से उबरें। चूंकि फ्रेरे परम्परागत 'शिक्षण' को 'आरोपण' मानते हैं अतः एक रोचक घटना का उल्लेख करते हुए वे बताते हैं कि कैसे उन्होंने इस प्रकार की शब्दावली में परिवर्तन किया।

''मैंने इस काम (शिक्षण) की शुरूआत विद्यालय से बाहर की थी। हालांकि मैंने कभी भी विद्यालयों के महत्व को नकारा नहीं। उदाहरण के रूप में, मुझे याद है कि जब वयस्कों के लिए विद्यालय का नाम रखने का समय आया, तो मैंने उस स्थान का नाम, जहां विद्यार्थी और शिक्षक मिलते थे, 'सांस्कृतिक केन्द्र' रखा क्योंकि मैं घिसा-पिटा स्कूली नाम नहीं रखना चाहता था। मैंने शिक्षक को शिक्षक कहने की बजाय बातचीत, तर्क-वितर्क और संवाद का 'संयोजक' कहा और मैंने विद्यार्थियों को 'संवाद में भाग लेने वाले' के नाम से सम्बोधित किया।''[70]

स्पष्टतः फ्रेरे के विद्यालय का शिक्षक, शिक्षक नहीं संवाद का संयोजक और छात्र उसके सहभागी हैं। उनके द्वारा किये गये ये नामकरण उनके द्वारा समर्थित शिक्षण-पद्धति को स्वतः स्पष्ट करते हैं। फ्रेरे यह बात नहीं मानते कि विद्यालय अपने आप में खराब होते हैं । वे कहते हैं कि हमें विद्यालय की लौकिक समझ के दायरे से बाहर निकलकर सोचना होगा। उनकी दृष्टि में विद्यालय सामाजिक और ऐतिहासिक संस्था है तथा सामाजिक और ऐतिहासिक संस्था होने के कारण विद्यालय को बदला जा सकता है। साथ ही वे मानते हैं कि विद्यालय को केवल शासनादेश द्वारा बदला नहीं जा सकता है बल्कि इसके लिए शिक्षकों और अध्यापकों की नई पीढ़ी का निर्माण, प्रशिक्षण और तैयारी आवश्यक है।

उनका विश्वास है कि विद्यालय-व्यवस्था का कुशल संचालन प्रशासक व शिक्षकों की कार्य-कुशलता, समर्पण भावना, कार्य से जुडाव तथा विचारात्मक प्रतिबद्धता जैसे कारकों पर निर्भर होता है। उनके अनुसार स्कूल ऐसा होना चाहिये जो बच्चे को अपनी ओर आकर्षित करे। बच्चा स्कूल जाने की इच्छा रखे, उससे भयभीत न हो। स्कूल में बालकों को समुचित स्वतन्त्रता हो। उनमें लोकतांत्रिक नागरिकता तथा बौद्धिक अनुशासन के गुणों का विकास हो। इस सम्बन्ध में फ्रेरे कहते हैं-

"मैं इस बात को समझ ही नहीं पाता हूँ कि वह कैसा स्कूल है, जहाँ बच्चे जाते हुए डरते हों, उदास हो जाते हों। उसे बदतर स्कूल समझना चाहिये। लेकिन मैं उस स्कूल को भी अच्छा नहीं मानूंगा, जहां बच्चे हमेशा खेलते रहते हों। वह स्कूल भी खराब है। अच्छा स्कूल वह है, जहां बच्चे को पढ़ने में आनंद आये। वहां बच्चे का बौद्धिक विकास हो और बौद्धिक विकास होने के साथ-साथ वह अनुशासित भी हो। लोकतांत्रिक दृष्टि से सोचें, तो लगेगा कि अनुशासन हमारे जीवन पर बंधन लगाता है और हमें स्वच्छंद नहीं रहने देता। परन्तु ज्ञान प्राप्त करने के लिए, बेहतर जानकारी प्राप्त करने के लिए, बौद्धिक अनुशासन की आवश्यकता तो है ही।"[71]

फ्रेरे मानते हैं कि माता-पिता के द्वारा परिवार में आने बच्चों को उनकी सीमाओं से भी स्पष्ट रूप से अवगत करा दिया जाना चाहिये। उन्हें बोध कराया जाये कि परिवार में सभी दूसरे सदस्यों की सीमाओं की भांति उनकी भी सीमायें हैं। लाड-प्यार के नाम पर बच्चों को मनचाहा करने की छूट देना, फ्रेरे के अनुसार उन्हें बिगाड़ना ही है। पिता को मार्गदर्शक के रूप में अपने इस दायित्व को चिंतनपूर्वक वहन करना चाहिये। फ्रेरे का विश्वास है कि बालकों को यदि यह अहसास कराया जाये कि विकास के लिए सभी को अनुशासित रहना जरूरी है तो वे सहर्ष इसे स्वीकार करेंगे।

अनुशासन क्रमशः स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हो। फ्रेरे स्पष्ट शब्दों में कहते हैं, "हम इस पर बिल्कुल व्यावहारिक तौर पर बात करें। सबसे पहले हम अपने घर को ही लें। पिता-माता और बच्चों के आपसी सम्बन्ध को गौर से देखें तो मुझे विश्वास है, पक्का विश्वास है, कि यदि एक पिता बच्चों को इतना लाड़-प्यार दे कि वे जो मन चाहे सो करें और अपने बच्चों को यह नहीं बताये कि हम सभी लोग एक खास सीमा के अन्दर रहते हैं, सृजन करते हैं और बड़े होते हैं, तब वह पिता अपने बच्चों के बनिस्वत अपने मार्गदर्शक होने तथा नेतृत्व के दायित्व का पालन नहीं कर रहा है। मैं सोचता हूँ कि इसकी खूबसूरती इस बात में है कि यदि हम दार्शनिक नजरिए से देखें तो पहले लगता है कि अनुशासन ऊपर से आरोपित किया जा रहा है। लेकिन धीरे-धीरे अनुशासन बच्चे के अन्दर पनपने लगता है। इसी राह पर हम आगे बढ़ते हैं, कभी-कभी बाहर से यह स्वायत्तता आती है, कभी-कभी अन्दर से। इसका परिणाम यही होता है।"[72]

माता-पिता व परिवार के बड़े सदस्यों में पारस्परिक प्रेम व सौहार्द से परिपूर्ण वातावरण का बालकों के विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है परिवार में माता-पिता के विचारों में किसी मुद्दे को लेकर मतभेद व बहस हो सकती है। फ्रेरे की नजर में यह स्वाभाविक है चूंकि दोनों दो स्वतन्त्र व्यक्तित्वों के स्वामी हैं। परन्तु यह टकराव बच्चों के सामने न हो। यदि माता-पिता आपस में लड़ते हैं और बच्चे का ठीक से विकास नहीं कर पाते हैं तो यह बड़ी ही दुखद और निराशाजनक स्थिति है। फ्रेरे यह नहीं कहते कि माता-पिता आपस में बहस न करें क्योंकि वे टकराव में विश्वास रखते हैं। टकराव ही चेतना की धात्री है। वे यह भी नहीं कहते कि माता-पिता को आपस में नही लड़ना चाहिये, उन्हें बीच-बीच में अवश्य लड़ना चाहिये। फ्रेरे का कहना है कि- वे समान नहीं हैं, वे समान हो भी नहीं सकते हैं परन्तु यदि वे एक साथ रह रहे हैं तो वे एक दूसरे के विरोधी भी नहीं हैं। उनमें प्यार की कमी आती है, तो वे एक दूसरे के विरोधी बन जाते हैं।

फ्रेरे कहते हैं कि मॉ व पिता बनने के पश्चात इस भूमिका का निर्वहन उत्तम ढंग से कैसे किया जाये, वे स्वयं सीखने के लिए भी निरन्तर प्रयासरत रहे। वे स्वीकारते हैं कि अपने बच्चों की माँ एलजा से भी उन्होंने बहुत कुछ सीखा। उनका विचार है कि बच्चे के लिए दी जाने वाली प्रत्येक सहमति व असहमति अर्थात हाँ या ना का एक औचित्यपूर्ण कारण होना चाहिये तथा इस कारण को बालकों को अवगत भी करा दिया जाना चाहिये। इसी विषय पर वे कहते हैं-

''मुझे याद है कि पिता बनकर मैंने बहुत कुछ सीखा है। माँ के रूप में एलजा को देखकर भी मैंने बहुत कुछ सीखा। मुझे याद है कि मैंने और एलजा ने अपने घर में कभी भी बिना कारण बताये किसी बात से इनकार नहीं किया। कभी नहीं। यदि मैंने किसी बात से इनकार किया तो उसका कारण भी बताया है। देखिये, मैं यह नहीं साबित करना चाहता हूँकि मैं बहुत बुद्धिवादी हूँ। नहीं, यह सही नहीं है, क्योंकि मैं एक भावुक व्यक्ति हूँ और मैं अपनी भावनाओं को बिना किसी डर के अभिव्यक्त करता हूँ यहां मैं यह कहना चाहता हूँ कि ''नहीं'' और ''हां'' के पीछे कुछ तर्क और असहमतियां होती हैं और प्रत्येक तर्क तथा असहमति के साथ कई चीजें जुड़ी होती हैं। मैं तुम्हें इसलिए मना नहीं करूंगा क्योंकि मैं तुमसे प्यार करता हूँ। मैं तुम्हें इसलिए मना करूंगा क्योंकि इस मना करने के पीछे कुछ कारण होंगे। बच्चों को कारणों, तथ्यों और घटनाओं की तह मे जाने की सीख देनी चाहिये क्योंकि प्रत्येक कारक का एक कारण होता है। मुझे हर बार यह बताना पड़ता है कि यह क्यों संभव नहीं है।''[73]

बालकों में अनुशासन का विकास करने हेतु माता-पिता व अभिभावकों को स्वयं भी अनुशासित होना जरूरी है। वे स्वयं भी अपनी सीमायें पहचानें । अपनी आजादी को तो अपना अधिकार मानना और बालकों की स्वतंत्रता को अपनी दया पर निर्भर बनाना कदापि उचित नहीं है। फ्रेरे को लगता है कि उन्होंने अपने बेटे और बेटियों के साथ काम करने से जो सबक सीखा है वह यह है कि अपने

बच्चों के विकास के लिए अपनी सीमा को पहचानना कितना आवश्यक है। सीमा के अभाव में आजादी आजादी नहीं रह जाती और इसमें व्यवस्थापकों के लिए अपना कर्तव्य निभाना भी असंभव हो जाता है जिसका मतलब है सीमा को ढांचे में बाँधना।

फ्रेरे मानते हैं कि हमें सीमाओं की जरूरत होती है और सीमाओं की आवश्यकता का अनुभव करते हुए हम आजादी के लिए सम्मान का भी अनुभव करते हैं और हमें अपने प्राधिकार के उपयोग की जरूरत भी महसूस होती है। माता और पिता के अनुशासन के बिना बच्चे का सही विकास नहीं हो सकता है। फ्रेरे के अनुसार यह कोई हिसाब-किताब नहीं है जिसमें 4 x 4 = 16 होता है।फ्रेरे की मानें तो माता-पिता को चाहिये कि वे पहिचानें कि सीमाओं का 'स्वतंत्रता का सुख' प्राप्त करने की दृष्टि से क्या महत्व है।

फ्रेरे का अभिमत है कि बच्चों को उनकी वय, क्षमता व रूचि के अनुसार घर के कार्यों में भाग लेने तथा अपना सहयोग देने के पर्याप्त अवसर दिये जाने चाहियें। यह 'करके सीखना' उनके समुचित विकास के लिए बहुत जरूरी है। कई बार माता-पिता यह सोचकर कि बच्चा 'यह नहीं कर पायेगा' 'कार्य बहुत कठिन है, 'बच्चे को क्यों कष्ट दें।' 'उसे पढ़ने दें', 'काम से पढ़ाई का नुकसान होगा' आदि, बालक को कुछ भी नहीं करने देते। यहाँ तक कि दैनन्दिन के वे छोटे-मोटे घरेलू व व्यक्तिगत कार्य भी जिन्हें सीखना बच्चों के भावी जीवन के लिए अत्यावश्यक है। ऐसा करके माँ-बाप बालक का नुकसान ही करते हैं। उनमें आत्म-निर्भरता, आत्म विश्वास व श्रम के प्रति प्रेम विकसित नहीं हो पाता है। माता-पिता द्वारा बालकों को सद्गुणों की शिक्षा देना व उनसे निरन्तर संवाद करना भी उनके विकास के लिए महत्वपूर्ण है।

माता-पिता ही सदैव सही नहीं होते हैं, यह उन्हें ध्यान रखना चाहिये। बालकों पर स्वयं के प्रभुत्व को थोपना, अधिकार जमाते हुए उनकी सही बात को

भी स्वीकार न करना अभिभावकों के लिए उचित नहीं है। ऐसा करते हुए तो वे स्वयं भी एक उत्पीड़नकारी व्यवस्था के पोषक बन जाते हैं। परिवार में कठोर नियंत्रण व दमन का वातावरण बालकों के स्वाभाविक विकास को अवरुद्ध कर देता है। परिणामतः वे मानसिक समस्याओं से भी ग्रसित हो सकते हैं। व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर फ्रेरे कहते हैं-

"बिना जोखिम उठाये हर समय बच्चे काम करते हुए सीख सकते हैं, मैं चाहता हूँ कि वे ऐसा करें। इसके बाद मैं उनसे विचार विमर्श करता हूँ। पिता और माता के रूप में, मैं और एलजा बच्चों से बात करते थे और यह बड़ा सुखद अनुभव था। मुझे लगा कि वे हमारे शिक्षण से कभी ऊबते नहीं। हम हमेशा उन्हें कुछ न कुछ पढ़ाते रहते। इसी कारण मैंने कभी ना नहीं कहा और इसके बदले चुप रहा। मुझे याद है कि एक बार मैं अपने को नियंत्रण में नहीं रख सका और मुझे गुस्सा आया, मुझे ठीक-ठीक याद नहीं है कि यह कहाँ की बात है। मैंने क्रिस्टिना के साथ भारी अन्याय किया और वह तुरन्त उदास हो गयी और अपने कमरे में चली गयी। उसके पीछे-पीछे मैं भी उसके कमरे में गया। मैंने उसे चूमा और कहा, बेटे मुझे माफ कर दो, मैं गलत था। उसके होंठ और उसकी आंखें एक साथ मुसकुराईं और उसने मुझे चूम लिया और फिर गहरी नींद में सो गयी। मुझे लगता है कि इसी कारण से उसे आज किसी मनोचिकित्सक की जरूरत नहीं है। मैं इस बड़े खर्चे से बच गया।"[74]

बाल-मनोविज्ञान की ऐसी समझ रखने वाले माता-पिता घर की छोटी-छोटी उलझनों को क्षण-मात्र में सुलझा सकते हैं जो बढ़ते-बढ़ते किसी दिन किसी अनहोनी को जन्म दे सकती हैं।

परिवार समाज की इकाई है। परिवार की व्यवस्था, उसका वातावरण, सदस्यों का चिंतन व आचरण, मूल्य व मानक बृहत्तर समाज से प्रभावित न हों, ऐसा कदापि संभव नहीं है। सामाजिक संरचना अपनी संघटक सभी तत्वों पर प्रभाव डालती है, अपने अनुरूप बनाने का प्रयास करती है। अतः बड़े स्तर पर जो बातें समाज में

दृष्टिगोचर होती हैं वह छोटे स्तर पर परिवार में भी देखी जा सकती हैं। इस बिन्दु का विश्लेषण करते हुए फ्रेरे कहते हैं कि- एक कठोर और उत्पीड़नकारी सामाजिक संरचना अपने भीतर की दो संस्थाओं (एक बच्चों का पालन पोषण, दूसरी उनका शिक्षण) को अनिवार्य रूप से प्रभावित करती है। ये संस्थाएँ उस संरचना की शैली के नमूने पर काम करती हैं और उसी के मिथकों का प्रचार-प्रसार करती है। घर और स्कूल (नर्सरियों से विश्वविद्यालयों तक) का अस्तित्व किसी अमूर्तन में नहीं, बल्कि निश्चित देशकाल में होता है। प्रभुत्व वाली संरचना के अंदर ये संस्थाएं बड़ी हद तक भविष्य के आक्रांताओं को तैयार करने वाली एजेंसियों के रूप में काम करती हैं।

फ्रेरे देख पाते हैं कि- घर में माता-पिता और बच्चे का संबंध प्रायः चारों ओर की सामाजिक संरचना की वस्तुपरक सांस्कृतिक परिस्थितियों को प्रतिबिंबित करता है। यदि घर में घुसपैठ करने वाली परिस्थितियां अधिकारवादी, कठोर तथा प्रभुत्व जमाने वाली हैं, तो घर में उत्पीड़न का वातावरण बढेगा। ज्यों-ज्यों माता-पिता और बच्चों के बीच के अधिकारवादी संबंध घनीभूत होते जाते हैं, त्यों-त्यों बच्चे अपने शैशव से ही पैतृक अधिकार को आत्मसात करते जाते हैं।

फ्रेरे एरिक फ्रॉम को उद्धरृत करते हुए कहते हैं कि फ्रॉम ने शव प्रेम और जीवन प्रेम की समस्या को अपनी सदा की सी स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करते हुए इन दोनों परिस्थितियों को जन्म देने वाली उन वस्तुपरक परिस्थितियों का विश्लेषण किया है, जो घर के अंदर भी हो सकती है जैसे- माता-पिता और बच्चे के संबंध उदासीनता और उत्पीड़न वाले हैं, या प्रेम और स्वतंत्रता वाले और सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ में भी हो सकती हैं। प्रेमविहीनता और उत्पीड़न के वातावरण में पलने वाले बच्चों की संभावनाएं दबा दी जाती हैं। ऐसे बच्चे यदि अपनी युवावस्था में प्रामाणिक विद्रोह के मार्ग पर नहीं चल पाते तो अमानुषीकरण वाली दो दिशाओं में चले जाते हैं । वे या तो उन मिथकों के द्वारा, जो उन्हें ढ़ालने के लिए

अधिकारियों के द्वारा इस्तेमाल किये जाते हैं, यथार्थ से कट कर पूर्ण उदासीनता की ओर बह जाते हैं, या वे विध्वंसक कर्म के विभिन्न रूपों में उलझ जाते हैं।

घर का वातावरण स्कूल में भी जारी रहता है, जहां छात्रों को जल्दी ही पता चल जाता है जैसे- घर में पता चल जाता है कि तनिक सा भी संतोष प्राप्त करने के लिए उन्हें ऊपर से जारी किये गये निर्देशों के अनुसार स्वयं को अनुकूलित करना पड़ेगा। उनमें से एक निर्देश यह होता है कि 'सोचो मत'।

फ्रेरे मानते हैं कि परिवार के अन्दर अधिकारवादी वातावरण में विकसित होने वाला बालक परिवार के बाद विद्यालय के भी इन्हीं मूल्यों को आत्मसात करता हुआ स्वयं भी इसका समर्थक बन सकता है। अमानुषीकरण की यह प्रक्रिया उसके व्यक्तित्व की निहित क्षमताओं का दमन कर देती है। स्वतंत्रता बोध, मानवीय गरिमा व सम्मान से वंचित ऐसे बालक युवावस्था में व्यवस्था के उत्तम चाकर ही बन पाते हैं जो मिथकों को सत्य, आदेशों को ब्रह्म वाक्य व गुलामी को सेवा मानकर उत्पीड़कों का हित साधन करते हैं। परिवार के कठोर नियंत्रण से मुक्ति प्राप्त करने की इच्छा उन्हें आक्रामकता, पलायनवादिता, अलगाव या उच्छृंखलता के रूप में किये जाने वाले विद्रोह की दिशा में भी ले जा सकती है।

फ्रेरे का मानना है कि माता-पिता और शिक्षक का एक नजरिया होना चाहिये। शिक्षक का अपने विद्यार्थियों तथा माता-पिता का अपने बच्चों की स्वायत्तता के पक्ष में होना उनके नजरिये का ही एक हिस्सा है।

❋❋❋❋❋

दृष्टव्यः-

1. माइल्स हार्टन एवं फ्रेरे- शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन, राह बनाकर चलते हम- प्राक्कथन, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, पृ0 81
2. पूर्वोक्त- पृ0-142
3. पूर्वोक्त- पृ0-89
4. पूर्वोक्त- पृ0-89
5. पूर्वोक्त- पृ0-163
6. पाओलो फ्रेरे- उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, भूमिका, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली-1997, पृ0-35
7. पूर्वोक्त- पृ0-37
8. पूर्वोक्त- पृ0-39
9. इलिच इवान, डीस्कूलिंग दी सोसायटी, पैंग्विन बुक्स, 1973, पृ0-40
10. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र- पृ0 - 43
11. राह बनाकर चलते हम पृ0- 170
12. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र- पृ0 - 27
13. पूर्वोक्त पृ0- 29
14. पूर्वोक्त पृ0-78
15. पूर्वोक्त पृ0-15
16. पूर्वोक्त पृ0-28
17. पूर्वोक्त पृ0-17
18. राह बनाकर चलते हम, पृ0-98
19. पूर्वोक्त पृ0- 99
20. पूर्वोक्त- पृ0-100
21. फ्रेरे, पीड़ागोजी इन प्रोसेसः द लैटर्स टू गिनी बिसाउ, अनुवादक जान हन्टर, न्यूयार्क सीबरी प्रेस 1978 पृ0-121
22. राह बनाकर चलते हम पृ0-98
23. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, पृ0 30
24. पूर्वोक्त, पृ0-30
25. राह बनाकर चलते हम, पृ0-78
26. पूर्वोक्त, पृ0-79
27. पूर्वोक्त- पृ0-29
28. पूर्वोक्त- पृ0-29
29. पूर्वोक्त- पृ0-24
30. पूर्वोक्त- पृ0-44
31. पूर्वोक्त- पृ0-19
32. पूर्वोक्त- पृ0-21
33. पूर्वोक्त- पृ0-17
34. पूर्वोक्त- पृ0-119
35. पूर्वोक्त- पृ0-04
36. पूर्वोक्त- पृ0-129

37. पूर्वोक्त- पृ0-130
38. पूर्वोक्त- पृ0-50
39. पूर्वोक्त- पृ0-144
40. पूर्वोक्त- पृ0-180
41. पूर्वोक्त- पृ0-180
42. पूर्वोक्त- पृ0-180
43. पूर्वोक्त- पृ0-122
44. पूर्वोक्त- पृ0-122
45. पूर्वोक्त- पृ0-129
46. पूर्वोक्त- पृ0-146
47. पूर्वोक्त- पृ0-136-137
48. पूर्वोक्त- पृ0-137
49. पूर्वोक्त- पृ0-137
50. पूर्वोक्त- पृ0-137-138
51. पूर्वोक्त- पृ0-47
52. जोनाथन कोजोल, क्रान्ति की बारह खड़ी, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, पृ0-5
53. राह बनाकर चलते हम, पृ0-149
54. पूर्वोक्त- पृ0-145
55. पूर्वोक्त- पृ0-142
56. पूर्वोक्त- पृ0-43
57. पूर्वोक्त- पृ0-76
58. पूर्वोक्त- पृ0-147
59. पूर्वोक्त- पृ0-146
60. पूर्वोक्त- पृ0-147
61. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, पृ0-110
62. राह बनाकर चलते हम, पृ0-110
63. पूर्वोक्त- पृ0-119
64. पूर्वोक्त- पृ0-93
65. पूर्वोक्त- पृ0-51
66. पूर्वोक्त- पृ0-166
67. पूर्वोक्त- पृ0-46
68. पूर्वोक्त- पृ0-107
69. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, पृ0- 41
70. राह बनाकर चलते हम, पृ0-64
71. पूर्वोक्त- पृ0-130
72. पूर्वोक्त- पृ0-142
73. पूर्वोक्त- पृ0-107
74. पूर्वोक्त- पृ0-105

अध्याय-चतुर्थ

जनशिक्षा के संदर्भ में पाओलो फ्रेरे का चिन्तन एवं व्यवहृत पद्धतियाँ

अध्याय - चतुर्थ

जनशिक्षा के संदर्भ में फ्रेरे का चिन्तन एवं व्यवहृत पद्धतियां

पूर्व अध्याय में पाओलो फ्रेरे द्वारा शिक्षा के अंगो के विषय में दिये गये विचारों का अध्ययन किया गया था । प्रस्तुत अध्याय में पाओलो फ्रेरे द्वारा प्रौढ़ शिक्षा अथवा जन साक्षरता के क्षेत्र में प्रस्तावित सिद्धान्तों एवं शिक्षण पद्धतियों का विवेचन किया गया है।

4.1 वयस्क साक्षरता की पद्धतियाँ -

फ्रेरे शिक्षा, विशेषतया सामान्य शिक्षा के बारे में निरन्तर आलोचनात्मक नजरिए से चिंतनरत थे। वे शिक्षा के बारे में सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सोच रहे थे। वे यह भी आत्म-मूल्यांकन कर रहे थे कि व्याकरण के शिक्षक के रूप में उन्होंने क्या-क्या किया। 1960 के आरम्भ में वे साक्षरता की ओर खासकर वयस्क साक्षरता की ओर प्रत्यक्षतः उन्मुख हुए। इसके पीछे उनकी राजनीतिक प्रेरणा यह थी कि ब्राजील में निरक्षर वोट नहीं दे सकते थे। यहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका में नस्लीय भेदभाव के लिए साक्षरता को ढाल बनाया जाता था। ब्राजील में भी ऐसा होता था लेकिन यहां एक सामाजिक वर्गीय भेदभाव भी था। ब्राजील में निरक्षर, गोरा हो या काला, वोट देने का हकदार नहीं था। अब निरक्षर वोट दे सकते हैं परन्तु चुनाव में खड़े नहीं हो सकते। इस अन्याय के खिलाफ लड़ना भी उनका एक सपना था ताकि निरक्षर तेजी से लिखना और पढ़ना सीखें तथा साथ-साथ उन कारणों को भी तलाश करें, जिनके कारण समाज में इतनी बुराइयां हैं। इन्हीं काराणों से फ्रेरे वयस्क साक्षरता की ओर उन्मुख हुए तथा उन्होंने इस दिशा में काम करने का बीड़ा उठाया।

प्रौढ़ शिक्षा की प्रक्रिया : -

प्रौढ़ शिक्षा के अपने व्यावहारिक अनुभवों के आधार पर फ्रेरे कुछ महत्वपूर्ण सुझाव देते हैं जो निम्न प्रकार है -

जनता के ज्ञान का सम्मान करें - फ्रेरे मानते हैं कि जनता को अज्ञानी व नासमझ मानना उत्पीड़कों की सोच है। जनता को 'स्थितियों' का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह ज्ञान व्यावहारिक व अनुभवजन्य होता है, किताबी नहीं। अतः प्रौढ़ शिक्षा के क्षेत्र में कार्य प्रारम्भ करने वाले व्यक्तियों के लिए यह परमावश्यक है कि जनता के ज्ञान में आस्था रखें, उसे सम्मान दें।

व्यवहार से अलग कोई ज्ञान नहीं होता - पाओलो प्रश्न करते हुए अपना मत प्रकट करते हैं कि इतिहास को अपने जिम्मे लेने की प्रक्रिया में लोगों को सत्ताधारियों से अलग अपनी भाषा निर्मित करने का अधिकार है या नहीं? क्या लोगों को अपनी जानकारी बढ़ाने का अधिकार है? क्या लोगों को नया ज्ञान पैदा करने की प्रक्रिया में हिस्सा लेने का अधिकार है? उन्हें लगता है कि यह सामाजिक रूपांतरण की गंभीर प्रक्रिया के मार्फत ही सम्पन्न होगा। अवश्य ही आर्थिक भाषा में इसका अर्थ होता है उत्पादन की पद्धति में बदलाव। सत्ता की प्रक्रिया में जनता की अधिक से अधिक भागीदारी भी इसमें शामिल है। जनता की भाषा में अंगिक ज्ञान की प्रमुखता होती है, जनता का ज्ञान, जिसमें सोचने और जानने की प्रक्रिया में शरीर की भूमिका अधिक होती है। एक प्रगतिशील शिक्षक और अध्यापक के रूप में सबसे पहले यह जानना आवश्यक है कि आम जनता किस तरह जानकारी प्राप्त करती है। इसका अर्थ यह हुआ कि उनके बोलने, वाक्य संरचित करने और अर्थ ग्रहण करने की प्रक्रिया को समझने की आवश्यकता है और दूसरी बात कि शिक्षकों को लोगों से इन तरीकों पर विमर्श करना पड़ेगा जिसके जरिए वे समझ के अपने वर्तमान दायरे को विस्तृत कर सकें।

आपने अनुभवों का जिक्र करते हुए फ्रेरे अपनी कार्यपद्धति इस प्रकार बताते हैं -"मैने लोगों के सोचने, बोलने और कार्य करने के तरीके को पहचानना और उनके समग्र ताने -बाने से अवगत होना शुरू किया। आगे मुझे लोगों के अनुभव और व्यवहारों को भी समझना है। लेकिन मुझे यह भी मालूम है कि व्यवहार के बिना ज्ञान असंभव है। क्योंकि व्यवहार से अलग कोई ज्ञान नही होता। व्यवहार के बिना ज्ञान प्राप्ति मुश्किल है। किसी भी प्रकार की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमारे पास किसी न किसी प्रकार के सिद्धान्त आधारित व्यवहार का होना आवश्यक है। परन्तु व्यवहार अपने आपमें सिद्धान्त नही होते।''[1]

दूसरी बात वे यह बताते हैं कि एक अध्यापक के रूप में लोगों से व्यवहार की बात करते हुए उसकी जानकारी लोगों की जानकारी से अधिक होनी चाहिए। कम से कम जनता के बीच जो व्यवहार प्रचलित है, उसे व्याख्यायित करने की सैद्धान्तिक समझ उसमें होनी चाहिए। व्यवहार को सिद्धान्त में ढालने के लिए पढ़ना आवश्यक है। यदि शिक्षक ऐसा न करें एक जनशिक्षक के रूप में वे एक ही वृत्त के अंदर घूमते रहेंगे, इस घेरे से बाहर कभी निकल नहीं सकेंगे। और यह भी नहीं जान सकेंगे कि वे आगे क्यों नहीं बढ़ पा रहे हैं? इसका सम्बन्ध ज्ञान के सिद्धान्त के महत्वपूर्ण क्षण से है जिसमें जानकार व्यक्ति सूचना से अवगत होता है।

लगभग यही बात क्यूबा की वयस्क शिक्षा कार्यक्रम निर्देशिका डा0 गार्सिया जोनाथन कोजोल से एक बातचीत में कहती हैं कि "ऐसी सामग्री तैयार करना जरूरी है जो वयस्क शिक्षार्थी की नौतिक गहराई और कल्पना के अनुरूप हो और वह महज बच्चों वाली सामग्री में मामूली कांट-छांट से तैयार की गई चीज न हो। हम जब शब्दों का इस्तेमाल करें, वे यथासंभव छात्र के जीवन-संदर्भ से जुड़े हों। पूरी प्रक्रिया में बुनियादी बात है, छात्र की चेतना संपदा में मौजूद शब्दावली को अध्यापक द्वारा चुनौती बतौर लिया जाना। शिक्षक को उनके निर्देशों को उस ज्ञान पर आधारित किया जाना चाहिए जो पहले से उस व्यक्ति के पास मौजूद हैं जिसे

वह पढ़ाने आया है। शिक्षण को वास्तविक निर्देश देने की स्थिति में होना चाहिए पर ठीक उसी समय उसे सूचना ग्रहण करने की स्थिति में भी होना चाहिए।''[2]

निरक्षर सीमान्त व्यक्ति नहीं, उत्पीड़ित है - फ्रेरे के अनुसार निरक्षरों को समाज के हाशिए पर स्थित सीमान्त व्यक्ति मानना मिथ्या दृष्टिकोण है। वे जो उन्हें सीमांत व्यक्ति मानते हैं, उन्हें उस वास्तविकता के अस्तित्व को स्वीकारना होगा जिसकी वजह से वे सीमांत बने हैं। इस तरीके से निरक्षरों को किसी चीज के 'बाहर' 'हाशिए पर' मानना होता है, क्योंकि कुछ भी नहीं के हाशिए पर मानना असम्भव है। लेकिन 'बाहर' या 'हाशिए पर' होने में एक गति अनिवार्यतः अंतनिर्हित है। जिसके अनुसार जो हाशिए पर है, उसकी गतिशीलता केन्द्र, जहां वह था, वहां से परिधि की ओर है। यह गति जो क्रिया भी है, क्रमशः एक कारक ही नहीं उसके कारणों के लिए भी आवश्यक होती है। संरचनात्मक यथार्थ के 'बाहर' या 'सीमान्त' मनुष्यों के अस्तित्व को स्वीकारना, इस सवाल को तर्कसंगत ठहराता प्रतीत होता है कि संरचना के केन्द्र से इसके हाशिए की ओर इस गतिशीलता का स्रष्टा कौन है? तथाकथित सीमान्त लोग, जिनमें निरक्षर भी शामिल हैं, क्या यह उनका फैसला है कि वे समाज की परिधि से बाहर चले जायें? यदि ऐसा है तो सीमांतता एक विकल्प है जिनमें ये सभी बातें जुड़ी हुई हैं। भूख, बीमारी सूखा, पीड़ा, मानसिक विकलता, जीते जी मौत, अपराध, व्याभिचार, नैराश्य और सत्ता की असंभाव्यता। फ्रेरे प्रश्न करते हैं कि तीसरी दुनिया के करोड़ों निरक्षरों ने क्या स्वयं को हाशिए पर रखे जाने का दुःखद विकल्प चुना है? तब यदि सीमांतता लोगों का चुनाव नहीं है, तो सीमांत व्यक्ति को सामाजिक व्यवस्था से निष्कासित किया गया है और उसे बाहर रखा गया है और इसीलिए वह हिंसा का पात्र बना हुआ है। हालांकि, अपने पूर्ण रूप से सामाजिक संरचना 'बहिष्कृत' नहीं करती, और न ही सीमांत व्यक्ति 'एक बाहरी व्यक्ति' होता है। इसके विपरीत, सामाजिक संरचना के अन्तर्गत वह 'एक भीतरी व्यक्ति' ही होता है, और जिन्हें हम झूठे ही स्वायत्त कहते हैं, जो अपने आप में अप्रामाणिक व्यक्ति

होते हैं, उनके साथ निर्भरता के सम्बन्ध की दृष्टि से भी वह भीतरी व्यक्ति ही होता है।

फ्रेरे के अनुसार यदि हम निरक्षर को एक ऐसे व्यक्ति के रूप में स्वीकारते हैं जिसका अस्तित्व समाज के हाशिए पर है, तो हम ऐसे दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहे होंगे जहां वह एक बीमार व्यक्ति की तरह होगा। जिसके लिए साक्षरता उसका उपचार करने के लिए एक 'दवा' की तरह होगी ताकि जिस 'स्वस्थ' संरचना से वह अलग हो गया है। उसकी ओर 'लौटने' की क्षमता उसमें आ सके, जहां शिक्षक ऐसे परोपकारी परामर्शदाता होंगे जो अच्छी जिन्दगी से भाग खड़े हुए हठीले निरक्षरों के लिए शहर के बाहरी हिस्सों में भटकते हैं ताकि उन्हें शब्दों का उपहार देकर, उनके जीवन में खुशियां ला सकें।

दुर्भाग्य से, सर्वत्र व्याप्त ऐसी अवधारणा के प्रकाश में, साक्षरता कार्यक्रम कभी भी मुक्ति की ओर बढ़ने की कोशिश नही कर सकते। वे उस यथार्थ के बारे में कभी सवाल नहीं कर पाएंगे जो मनुष्य को खरी-खरी बात कहने के अधिकार से वंचित करता है। सिर्फ निरक्षरों को ही नहीं बल्कि उन सभी को जो निर्भरता वाले सम्बन्ध में वस्तुओं के रूप में इस्तेमाल किये जाते हैं। वस्तुतः ये लोग निरक्षर हो या न हों, लेकिन हाशिए पर तो नहीं ही हैं। यह दोहराने की बजाए कि ये 'बाहरी लोग' नहीं हैं। फ्रेरे कहते हैं कि ये ऐसे लोग है जिनका जीवन दूसरों के लिए है। इसीलिए उनकी समस्या का हल उन्हें 'बाहरी व्यक्ति' से 'भीतरी व्यक्ति' बनाना नहीं है। बल्कि मनुष्य का अपने को मुक्त करना है, वास्तव में वे सामाजिक सरंचना के हाशिए पर नहीं बल्कि उसमें उत्पीड़ित हैं। विच्छिन्न व्यक्ति उस सामाजिक संरचना में 'सम्मिलित' किये जाने से अपनी निर्भरता पर विजय नहीं पा सकता जो इसकी निर्भरता के लिए जिम्मेदार है। न सिर्फ उनके लिए बल्कि सभी के लिए अमानवीय संरचना के प्रामाणिक रूपांतरण के अलावा मानवीकरण का और कोई रास्ता नहीं है।[3]

इस अन्तिम दृष्टिकोण के अनुसार निरक्षर समाज के हाशिए पर जीने वाला कोई सीमांत व्यक्ति नहीं है बल्कि समाज के शासित वर्ग का ऐसा प्रतिनिधि है जो सचेत या अचेत रूप से उनका विरोधी है जो इस ढांचे में उन्हें एक चीज के रूप में इस्तेमाल करते हैं। इस प्रकार, फ्रेरे की दृष्टि में मनुष्य को लिखना या पढ़ना सिखाना ba, be, bi, bo, bu का विच्छिन्न शब्द के रूप में रटने का महत्वहीन काम नही है बल्कि संसार में अपनी पहचान बनाने का मुश्किल प्रशिक्षण है।

शिक्षार्थी ज्ञानवानकर्ता है - पहली परिकल्पना में जहां निरक्षरों को समाज के हाशिए के लोगों के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, वहां साक्षरता की प्रक्रिया यथार्थ को मंद रखकर और असंख्य विच्छिन्न शब्दों और मुहावरों के साथ शिक्षार्थी की 'खोखली चेतना' को निष्प्रभ करते हुए उस यथार्थ के मिथकीकरण को सुदृढ़ करना है। इसके विपरीत दूसरी परिकल्पना में जहां निरक्षर लोगों को व्यवस्था के अंतर्गत उत्पीड़ित व्यक्ति के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, वहां मुक्ति के लिए सांस्कृतिक कार्रवाई के रूप में साक्षरता की प्रक्रिया ज्ञान प्राप्ति का ऐसा कार्य है, जहां शिक्षार्थी शिक्षक के साथ संवाद के जरिए ज्ञानवानकर्ता की भूमिका स्वीकार करता है। सिर्फ इसी वजह से यह यथार्थ के विमिथकीकरण का साहसिक कार्य है, यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य जो पहले पूरी तरह यथार्थ में निमग्न था, अब आलोचनात्मक सजगता के साथ इसमें पुनः शामिल होने के लिए उससे उबरना शुरू करता है।

फ्रेरे कहते हैं कि इसीलिए शिक्षक को अपने कर्म के मार्ग को, कभी-कभार अपने सचेत ज्ञान के बिना भी अधिक स्पष्टता के साथ प्रकाशमान करना होगा। केवल इसी तरीके से वह सच्चे रूप में इस कर्म के कर्ताओं में से एक की भूमिका को पूरा करने में समर्थ हो पायेगा और इस प्रक्रिया में वह सुसंगत भी रह सकेगा।

शैक्षिक कार्यक्रम की अर्न्तवस्तु :-

फ्रेरे शिक्षा के संवादात्मक चरित्र पर बल देते हैं। उनका मानना है कि संवाद के लिए आलोचनात्मक चिंतन आवश्यक होता है। संवाद के बिना कोई संप्रेषण नहीं होता, और संप्रेषण के बिना कोई सच्ची शिक्षा नहीं हो सकती। शिक्षक-छात्र अंतर्विरोध का समाधान करने वाली शिक्षा में शिक्षक और छात्र, दोनों उस वस्तु का संज्ञान करते हैं, जो उनके बीच मध्यस्थता करती है। इस प्रकार शिक्षा का संवादात्मक चरित्र स्वतंत्रता का व्यवहार है। उसका यह चरित्र उस समय सामने नहीं आता, जब शिक्षक-छात्र एक शैक्षिक स्थिति में छात्र -शिक्षकों से मिलते हैं। दरअसल, वह तब सामने आना शुरू करता है, जब शिक्षक-छात्र स्वयं से पूछता है कि छात्र -शिक्षकों से उसका संवाद किस विषय में होगा। संवाद की अंतर्वस्तु की चिंता वास्तव में शिक्षा की कार्यक्रम -अंतर्वस्तु की चिंता है।

बैंकीय शिक्षा वाले संवाद -विरोधी शिक्षक के लिए अंतर्वस्तु का प्रश्न केवल उस कार्यक्रम से सम्बन्धित होता है, जिसके बारे में उसे छात्रों को बताना है, और इस प्रश्न का उत्तर वह अपना कार्यक्रम बनाकर देता है। संवादात्मक और समस्या-उठाऊ शिक्षा वाले शिक्षक छात्र के लिए शिक्षा की कार्यक्रम-अंतर्वस्तु छात्रों को दिया जाने वाला कोई उपहार नहीं होती। उसके लिए वह सूचना के टुकड़ों के रूप में छात्रों के भीतर जमा करके उन पर थोपी जाने वाली चीज भी नहीं होती। उसके लिए वह किसी चीज की संगठित, व्यवस्थित और विकसित 'पुनर्प्रस्तुति' होती है जो उस चीज के बारे में और अधिक जानना चाहने वालों के लिए की जाती है।

निरक्षर मनुष्य हैं, एक स्थिति विशेष में जीने वाले मनुष्य - फ्रेरे कहते है कि प्रामाणिक शिक्षा का क्रियान्वयन 'ख' के लिए 'क' के द्वारा या 'ख' के बारे में 'क' के द्वारा नही, बल्कि 'क' और 'ख' के साथ होता है। उसमें विश्व मध्यस्थ होता है - एक ऐसा विश्व, जो दोनों पक्षों को प्रभावित करता है, दोनों को चुनौती देता है। इससे दोनों के मत या विचार बनते हैं। इन विचारों में चिंताएं होती हैं, संदेह होते हैं,

आशाएं या निराशाएं होती हैं। अतः इन विचारों में ऐसे मूलविषय (थीम्स) अंतनिर्हित रहते हैं जिनके आधार पर शैक्षिक कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का निर्माण किया जा सकता है। वह भोला मानववाद, जो अच्छे आदमी का आदर्श मॉडल (प्रतिरूप) पैदा करना चाहता है, वास्तविक मनुष्यों की ठोस, अस्तित्वगत, वर्तमान स्थिति की अनदेखी कर देता है। प्रामाणिक मानववाद, पियरे फर्टर के शब्दों में, ''हमारी पूर्ण मनुष्यता की अभिज्ञा को, एक शर्त और एक जिम्मेदारी के रूप में, एक स्थिति और एक योजना के रूप में उभरने देता है, ''हम श्रमिकों के पास-चाहे वे शहरी मजदूर हो या ग्रामीण किसान, बैंकीय शैली में उन्हें ''ज्ञान देने' के लिए नहीं जा सकते। हम स्वनिर्मित शैक्षिक कार्यक्रम के अनुसार उन पर 'अच्छे आदमी' का मॉडल थोपने के लिए भी नहीं जा सकते। बहुत-सी राजनीतिक और शैक्षिक योजनाएं इसीलिए असफल हुई हैं कि उन्हें बनाने वालों ने उन्हें यथार्थ सम्बन्धी अपनी निजी विचारों के अनुसार बनाया और इस बात का जरा भी ध्यान नहीं रखा कि ये योजनाएं कथित रूप से जिनके लिए हैं, वे मात्र उनके कर्म की वस्तुएं नहीं मनुष्य हैं और एक स्थिति विशेष में जीने वाले मनुष्य हैं।

फ्रेरे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि सच्चे मानववादी शिक्षक और प्रामाणिक क्रान्तिकारी के लिए कर्म की वस्तु अन्य मनुष्य नहीं, बल्कि वह यथार्थ होता है, जिसका रूपान्तरण अन्य मनुष्यों के साथ मिल-जुलकर किया जाना है। ये तो उत्पीड़क ही होते हैं, जो मनुष्यों को वस्तु मानकर उन पर इस उद्देश्य से कर्म करते हैं कि उन्हें उस यथार्थ से तालमेल बनाये रखने का पाठ पढ़ाया जा सके, जिसे यथावत् बनाए रखा जाना है। लेकिन, दुर्भाग्य से, क्रान्तिकारी नेता भी अपने क्रान्तिकारी कर्म के लिए जनता का समर्थन पाने की इच्छा से अक्सर बैंकीय शिक्षा का तरीका अपना लेते हैं और शैक्षिक कार्यक्रम की अंर्तवस्तु का निर्माण 'ऊपर से नीचे की ओर' या लंबवत् ढंग से करते हैं। वे शहरी या ग्रामीण जनता के पास ऐसी योजनाएं लेकर जाते हैं, जो विश्व के बारे में उनके अपने विचारों से तो मेल खाती हैं, लेकिन जनता के विचारों से मेल नहीं खातीं। वे भूल जाते हैं कि उनका मूल

उद्देश्य लोगों को अपने पक्ष में 'जीत लेना' नहीं बल्कि उन लोगों के साथ-साथ उनकी अपहृत मनुष्यता की वापसी के लिए लड़ना है। लोगों को अपने पक्ष में 'जीत लेने' का मुहावरा क्रान्तिकारी नेताओं की शब्दावली का नहीं, बल्कि उत्पीड़क की शब्दावली का हिस्सा है। क्रान्तिकारियों की भूमिका लोगों को जीत लेने की नहीं, बल्कि उनके साथ मिल कर उन्हें और स्वयं को मुक्त करने की है।[5]

यथार्थ को गहराई से जानना और उनका लाभ उठाना - फ्रेरे हाइलैंडर संस्थान के संदर्भ में चर्चा करते हुए कहते हैं कि जो यहाँ सीखने के लिए आते हैं और जिन्हें शिक्षक पढ़ाते हैं, उनके लिए यह एक साझा प्रयत्न होता है। और इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक अध्यापक के लिए विद्यार्थियों के साथ मिलजुलकर अध्ययन करना और सीखना संभव है। एक ही प्रक्रिया में संलग्न होकर दोनों को विकास होता है। अध्यापक को कुछ विषयों का व्यवस्थित ज्ञान होता है, जो विद्यार्थियों के पास नहीं होता। वे कहते हैं कि यही उनके काम करने का और सोचने का तरीका है। पहले वे घेरा बनाते हैं ताकि मुद्दा उसके बाहर न जा सके।

फ्रेरे निश्चित रूप से मानते हैं, जब विद्यार्थी यहां आते हैं तो वे अपने साथ आशाएं, निराशाएं, आकाक्षाएं, ज्ञान आदि लेकर आते हैं जो उनके रग-रग में समाया होता है, जिसे वे अपने जीवन, परिवेश, संघर्ष, निराशा से अर्जित करते हैं। निश्चित रूप से वे यहां खाली हाथ नहीं आते हैं। वे जब यहां आते हैं, तो भरे -पूरे होते हैं। अधिकांश मामलों में, दुनिया के बारे में जीवन के बारे उनके अपने विचार होते हैं। उनके सामान्य ज्ञान का एक स्तर होता है और ज्ञान के इस स्तर से आगे जाने का उन्हें अधिकार प्राप्त होता है। जिन तथ्यों को वे पहले से जानते हैं, उस ज्ञान के भी कई स्तर होते हैं, जिससे जानकारी प्राप्त करने के अन्य तरीकों का पता चलता है, जिनसे शिक्षकों कों तथ्यों के बारे में अधिक सटीक जानकारी हो जाती है। बेहतर जानने का तात्पर्य है सामान्य ज्ञान से आगे बढ़ना और तथ्यों के कारणों की तह में जाने का प्रयास करना। सवाल कक्षा में आने और देश की राजनीतिक सत्ता जैसे

विषयों पर ओजपूर्ण व्याख्यान देने का नहीं है, सवाल यह है कि यथार्थ को पढ़ने का फायदा कैसे उठाया जाये, जैसा कि लोग कर रहे हैं ताकि विद्यार्थियों के लिए यथार्थ को अलग तरह और गहराई से पढ़ना संभव हो।

प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम की अर्न्तवस्तु का गठन :-

शैक्षिक या राजनीतिक कर्म के लिए बनाए जाने वाले कार्यक्रम की अंतर्वस्तु का संघटन करते समय फ्रेरे के अनुसार सबसे पहले जनता की आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करने वाली वर्तमान, अस्तित्वगत और ठोस स्थिति को देखा जाना चाहिए। कुछ बुनियादी अंतर्विरोधों का उपयोग करते हुए इस अस्तित्वगत, ठोस वर्तमान स्थिति को लोगों के सामने एक ऐसी समस्या के रूप में प्रस्तुत करना चाहिए, जो उनको चुनौती देती हो और उनसे जवाब मांगती हो- सिर्फ बौद्धिक स्तर का जवाब नहीं, बल्कि कर्म के स्तर का जवाब।

फ्रेरे कहते हैं कि हमें वर्तमान स्थिति पर महज भाषण कभी नही देना चाहिए। हमें लोगों को ऐसे कार्यक्रम कभी नहीं देने चाहिएं, जिनका उनकी चिंताओं, संदेहों, आशाओं और भय से कोई सम्बन्ध न हो, या बहुत कम सम्बन्ध हो, क्योंकि ऐसे कार्यक्रम कभी -कभी उत्पीड़ित चेतना के भय को वस्तुतः और बढ़ा देते हैं। हमारी भूमिका न तो यह है कि हम विश्व के बारे में अपना निजी विचार लोगों को बताएं, न ही यह कि अपना विचार उन पर थोपने की कोशिश करें। हमारी भूमिका तो यह है कि उनके और अपने विचारों के बारे में उनसे संवाद करें। हमें यह बात अवश्य समझ लेनी चाहिए कि विश्व के बारे में उनका विचार जो उनके कर्म में विभिन्न प्रकार से व्यक्त होता है, विश्व में उनकी स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। फ्रेरे सचेत करते हैं कि उस शैक्षिक या राजनीतिक कर्म में, जो इस स्थिति को आलोचनात्मक ढंग से नहीं समझता, यह खतरा रहता है कि या तो वह बैंकीय शिक्षा में बदल जाएगा, या 'बियाबान में उपदेश' बन कर रह जाएगा।[6]

फ्रेरे आम अनुभव के आधार पर बताते हैं कि अक्सर ऐसा होता है कि शिक्षक और राजनेता बोलते हैं तो उनकी बातें लोगों की समझ में नहीं आती। कारण यह है कि उनकी भाषा उन मनुष्यों की ठोस स्थिति से सुर नहीं मिला पाती, जिन्हें वे सम्बोधित करते हैं इसीलिए उनकी बातें महज एक अलगावग्रस्त और अलगावकारी वक्तृता बन कर रह जाती हैं। शिक्षक या राजनेता की भाषा जनता की भाषा की भांति ही विचार के बिना जीवित नहीं रह सकती, और उस संरचना के बिना, जो भाषा और विचार का संदर्भ होती है, न भाषा जीवित रह सकती है न ही विचार। प्रभावशाली संप्रेषण के लिए शिक्षकों और राजनेताओं को उन संरचनात्मक परिस्थितियों को अवश्य समझना चाहिए जिनमें जनता की भाषा और विचार द्वंद्वात्मक रूप से निर्मित होते हैं।

शैक्षिक कार्यक्रम की अंतर्वस्तु प्राप्त करने के लिए मनुष्यों के बीच मध्यस्थता करने वाले यथार्थ की ओर तथा शिक्षकों और जनता द्वारा किये जाने वाले उस यथार्थ के बोध की ओर अवश्य देखा जाना चाहिए। जनता के पास 'जननशील मूलविषयों' (जेनरेटिव थीम्स) का विशाल तंतुजाल होता है, जिसे फ्रेरे ने 'मूलविषयों की समष्टि' (थीमेटिक यूनिवर्स) का नाम दिया है। स्वतंत्रता के व्यवहार के रूप में शिक्षा संवाद से आरम्भ होती है और संवाद आरम्भ होता है 'मूलविषयों की समष्टि' के अनुसंधान से। अतः इस अनुसंधान की पद्धति भी संवादात्मक ही होनी चाहिए। इससे जननशील मूलविषयों को खोजने का अवसर तो मिलता ही है, इन मूलविषयों से सम्बन्धित जनता की अभिज्ञा को उद्दीप्त करने का अवसर भी मिलता है। संवादात्मक शिक्षा के मुक्तिदायी उद्देश्य की संगति में, इस अनुसंधान की वस्तु मनुष्य नहीं बल्कि वह विचार -भाषा है, जिसका प्रयोग मनुष्य यथार्थ की ओर संकेत करनें के लिए करते हैं। इस अनुसंधान की वस्तु उस बोध के विभिन्न स्तर हैं, जिन पर मनुष्य यथार्थ का अवबोधन करते हैं और इस अनुसंधान की वस्तु है विश्व के सम्बन्ध में लोगों की दृष्टि जो उनके जननशील मूलविषयों का स्रोत होती है।

जननशील मूलविषय संकेन्द्रित वृत्तों में सामान्य से विशिष्ट की ओर जाते हुए मिल सकते हैं। वृहत्तर युगीन इकाई में- जिसमें महाद्वीपीय, क्षेत्रीय, राष्ट्रीय आदि विभिन्न प्रकार की इकाइयां तथा उप -इकाइयां शामिल होती हैं, सार्वभौमिक चरित्र वाले मूलविषय पाये जाते हैं। फ्रेरे के विचार से वर्तमान युग का आधारभूत मूलविषय प्रभुत्व है। इसी में इसका विरोधी मूलविषय भी शामिल है कि मुक्ति हमारा लक्ष्य होना चाहिए। यह वह यंत्रणादायी 'मूलविषयित्व' है, जो इस युग को मानवशास्त्रीय चरित्र प्रदान करता है। मानुषीकरण के लक्ष्य तक पहुँचने के लिए, जिसकी पहली शर्त है कि अमानुषिक बनाने वाले उत्पीड़न को मिटाया जाये उन प्रतिबंधक स्थितियों को पार करना परम आवश्यक है, जिनमें मनुष्यों को चीजों में बदल कर रख दिया जाता है।

मूल विषयों का अनुसंधान - फ्रेरे के विचार से मनुष्यों को जब अपने यथार्थ की आलोचनात्मक समझ नहीं होती, वे उसे खंड-खंड रूप में समझते हैं और उन खंडों को भी सम्पूर्ण यथार्थ से अंतः क्रिया करने वाले संघटक तत्वों के रूप में नहीं देखते, अतः वे उस यथार्थ को जान नहीं पाते। उसे जानने के लिए उन्हें अपने प्रस्थान बिंदु को उलट देना पड़ेगा। अर्थात उन्हें संदर्भ को उसकी सम्पूर्णता में देखना पड़ेगा, ताकि बाद में वे उसके संघटक तत्वों को अलग-अलग समझ सकें और इस विश्लेषण के जरिए सम्पूर्ण का अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट बोध कर सकें।

मूल विषय की अर्थपूर्णता - फ्रेरे कहते हैं कि एक ऐतिहासिक परिस्थिति में मुक्तिदायी कर्मों के लिए आवश्यक है कि वे जननशील मूलविषयों के अनुरूप तो हों ही, इसका भी ध्यान रखें कि इन्हें किस ढंग से देखा जा रहा है। इस आवश्यकता में एक और आवश्यकता अंतर्निहित अर्थपूर्ण मूलविषयों का अनुसंधान हैं। ऐतिहासिक बोध को गहन बनाने वाला मूलविषयों का प्रत्येक अनुसंधान, इस प्रकार वास्तव में शैक्षिक होता है, क्योंकि समस्त प्रामाणिक शिक्षा चिंतन का अनुसंधान करती है। शिक्षक और जनता जितना ही जनता के चिंतन का अनुसंधान करते हैं - और इस

प्रकार संयुक्त रूप से शिक्षित होते हैं - उतना ही अधिक वे अनुसंधान को जारी रखते हैं। समस्या-उठाऊ शिक्षा की अवधारणा में शिक्षा और मूलविषयों का अनुसंधान एक ही प्रक्रिया के सिर्फ दो भिन्न क्षण हैं।

फ्रेरे सचेत करते हैं कि यह बात अच्छी तरह जान लेनी चाहिए कि अर्थपूर्ण मूलविषयों में अंतर्निहित आशंकाएं, इरादे और उद्देश्य मानवीय आकांक्षाएं, इरादे और उद्देश्य होते हैं। उनका अस्तित्व कहीं 'बाहर' किन्हीं स्थिर चीजों के रूप में नहीं होता, क्योंकि वे घटित हो रहे होते हैं। वे उतने ही ऐतिहासिक होते हैं, जितने स्वयं मनुष्य। अतः वे मनुष्यों से अलग बोधगम्य नहीं होते। इन मूलविषयों को समझना दोनों को समझना है। उन मनुष्यों को समझना, जिन वे मूर्तिवान होते हैं, और उस यथार्थ को भी समझना, जिसकी ओर वे संकेत करते हैं। लेकिन ठीक इसी कारण से कि इन मूलविषयों को मनुष्यों से अलग करके समझना संभव नहीं है, यह आवश्यक है कि उन्हें भी समझा जाये। इस प्रकार मूलविषयों का अनुसंधान यथार्थ के और अपने, दोनों के बोध का साझा प्रयास बन जाता है, और इस तरह वह इसे शैक्षिक प्रक्रिया का अथवा मुक्तिदायी चरित्र वाले सांस्कृतिक कर्म का आरम्भ बिन्दु बना देता है।[7]

शिक्षार्थी सह-अनुसंधानता के रूप में - फ्रेरे की दृष्टि में अनुसंधान को खतरा इससे नहीं है कि अनुसंधान की 'वस्तु' कहलाने वाली जनता सह - अनुसंधाता बनकर विश्लेषण के परिणामों को 'दूषित' कर देगी। इसके विपरीत, असली खतरा इस बात में है कि अनुसंधान अर्थपूर्ण मूलविषयों को न होकर कहीं जनता का ही न होने लगे। अर्थात जनता को कहीं अनुसंधान की वस्तु न माना जाने लगे। चूंकि यह अनुसंधान एक ऐसे शैक्षिक कार्यक्रम को विकसित करने का आधार है, जिसमें शिक्षक- छात्र और छात्र-शिक्षक एक समान वस्तु के अपने संज्ञान को संयुक्त करते हैं, इसलिए यह अनुसंधान भी उसी तरह कर्म के आदान-प्रदान पर आधारित होना चाहिए।

फ्रेरे शंका करते हैं कि कुछ लोग सोच सकते हैं कि जनता को उसके अपने अर्थपूर्ण मूलविषयों के अनुसंधान में अनुसंधाता के रूप में शामिल करना उचित नहीं होगा, क्योंकि उसकी घुसपैठ के प्रभाव से अनुसंधान के परिणाम 'दूषित' हो जायेंगे और इससे अनुसंधान की वस्तुपरकता नष्ट हो जायेगी। जिस जनता को अपनी शिक्षा में सबसे ज्यादा रूचि है-या होनी चाहिए-उसी को 'घुसपैठ करने वाली बताया जाता है। इस दृष्टिकोण में बड़े गलत ढंग से यह मान कर चला जाता है कि मूलविषयों का अस्तित्व अपने मौलिक तथा वस्तुपरक रूप में मनुष्यों से बाहर कहीं होता है-मानो मूल विषय चीजें हों। वास्तव में, मूलविषयों का अस्तित्व मनुष्यों में, विश्व से मनुष्य के सम्बन्धों में, ठोस तथ्यों के संदर्भ में होता है।

मूलविषयों को समस्याओं के रूप में उनके परिप्रेक्ष्य में देखना - मूल विषयों का अनुसंधान, जो मानवीय क्षेत्र में घटित होता है, फ्रेरे के मत से, यांत्रिक कार्य में नहीं बदला जा सकता। वह खोज की, ज्ञान की और इस प्रकार सृजन की प्रक्रिया के रूप में यह मांग करता है कि अनुसंधाता अर्थपूर्ण मूलविषयों को परस्पर जोड़ने में समस्याओं के एक -दूसरे में व्याप्त होने का पता लगाये। अनुसंधान उस समय सर्वाधिक शैक्षिक होगा, जब वह सर्वाधिक आलोचनात्मक होगा, और सर्वाधिक आलोचनात्मक वह तब होगा, जब वह यथार्थ को समझने के प्रयास में लगा रहेगा। इस प्रकार अर्थपूर्ण मूलविषयों की तलाश की प्रक्रिया में मूलविषयों को जोड़ने वाली कड़ियों का ध्यान रखना भी आवश्यक है। इसका अर्थ है, इन मूलविषयों को समस्याओं के रूप में उठाना, और उनके ऐतिहासिक -सांस्कृतिक संदर्भ का ध्यान रखना।

यथार्थ के अनुभव में अनुसंधाता की सहभागिता - जिस तरह शिक्षक स्वयं जनता के लिए कोई कार्यक्रम सविस्तार प्रतिपादित नहीं कर सकता, उसी तरह अनुसंधाता भी अपने द्वारा पूर्वनिश्चित बिन्दुओं से आरम्भ करके मूलविषयों की समष्टि का अनुसंधान करने जाते समय उसके 'मार्ग विवरण' का सविस्तार प्रतिपादन नहीं कर

सकता। जनता की सहायता का उद्देश्य लेकर चलने वाली शिक्षा और इसी उद्देश्य से किये जाने वाले अनुसंधान, दोनों को शब्द के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ में 'सहानुभूतिशील' होना चाहिए। अर्थात दोनों के लिए यह आवश्यक है कि जनता से संवाद करें और निरन्तर 'संभवन' की जटिलता में देखे गये यथार्थ के अनुभव में उसमें साझेदारी करें।

फ्रेरे पुनः बल देते हुए कहते हैं कि "मूलविषयों के अनुसंधान में जनता के चिंतन का अनुसंधान शामिल है और यह चिंतन यथार्थ को मिल-जुलकर खोजने वाले मनुष्यों में और उन्हीं के बीच घटित होता है। मैं 'दूसरों के लिए' या 'दूसरों के बिना' नहीं सोच सकता, न ही दूसरे मेरे लिए सोच सकते हैं। भले ही जनता का चिंतन भोलेपन या अंधविश्वासों से भरा हुआ हो, वह उसे तभी बदल सकती है, जब वह कर्म करते हुए अपनी मान्यताओं पर पुनर्विचार करती है। यह प्रक्रिया दूसरे के विचारों को आत्मसात कर लेने की नहीं, बल्कि जनता द्वारा अपने ही विचारों के आधार पर कर्म करने और अपने ही विचारों के जनन की प्रक्रिया है।"[8]

परिवर्तन में सच्चा विश्वास - फ्रेरे की दृष्टि में वह अनुसंधाता परिवर्तन से डरने वाला आदमी है जो वैज्ञानिक वस्तुपरकता के नाम पर जीवित को निर्जीव में, संभव होते हुए' को 'जो है' में और जीवन को मृत्यु में बदल देता है यह परिवर्तन से इनकार तो नहीं करता, लेकिन परिवर्तन चाहता भी नहीं। अतः वह परिवर्तन में जीवन का चिह्न नहीं देखता, बल्कि मृत्यु और क्षय के चिन्ह देखता है। वह परिवर्तन का अध्ययन करना तो चाहता है, लेकिन उसे विस्तार और गहराई देने के लिए नहीं, बल्कि उसे रोकने के लिए। लेकिन परिवर्तन को मृत्यु का चिह्न मानने में और अगम्य प्रतिमानों तक पहुँचाने के लिए जनता को अनुसंधान की निष्क्रिय वस्तु मानने में वह अपने ही चरित्र को प्रकट करता है। यह जीवन को नष्ट करने वाले का चरित्र होता है।

फ्रेरे के अनुसार मनुष्य 'एक स्थिति में' मनुष्य होते हैं। इस रूप में वे स्वयं को देश काल की ऐसी परिस्थितियों में बद्धमूल पाते हैं, जो उन पर अपनी छाप डालती हैं, लेकिन जिन पर वे भी अपनी छाप डालते हैं। वे अपनी 'स्थितीयता' ('सिचुएशनैलिटी') पर उसी हद तक विचार करते हैं, जिस हद तक वह उन्हें स्वयं कर्म करने की चुनौती देती है। मनुष्यों का होना एक स्थिति में होना है। और वे उतना ही अधिक होंगे, जितना अपने अस्तित्व पर आलोचनात्मक ढंग से न केवल चिंतन करेंगे, बल्कि उस पर आलोचनात्मक ढंग से कर्म भी करेंगे।

फ्रेरे के अनुसार मानवीय स्थिति पर किया जाने वाला चिन्तन अस्तित्व की बुनियादी शर्त ही पर किया जाने वाली चिन्तन है, और यह बुनियादी शर्त है, आलोचनात्मक चिंतन जिसके जरिए मनुष्य एक -दूसरे को 'एक स्थिति' में खोज पाते हैं। प्रतिबद्धता केवल तभी संभव है, जब यह स्थिति उन्हें सघन और आच्छादित कर लेने वाले यथार्थ के रूप में या एक दुखदायी अंधी गली के रूप में दिखनी बंद हो जाती है। और वे उस स्थिति को एक वस्तुपरक -समस्यामूलक स्थिति के रूप में देखने लगते हैं। ज्यों-ज्यों यथार्थ का अनावरण होता जाता है, मनुष्य अपनी डूब में से उभरते जाते हैं और हस्तक्षेप करने की क्षमता अर्जित करते जाते हैं। यथार्थ में हस्तक्षेप स्वयं एक ऐतिहासिक बोध है। इस प्रकार वह उभरने से एक कदम आगे बढ़ने की अवस्था है। यह स्थिति के विवेकीकरण का परिणाम है। विवेकीकरण बोधवृत्ति का गहन होना है, जो हर प्रकार को उभरने की विशेषता है।

शिक्षा की बैंकीय पद्धति की संवाद विरोधी और संप्रेषणहीन जमाओं से बिलकुल भिन्न समस्या उठाऊ शिक्षा की कार्यक्रम अंतर्वस्तु -जो अपनी संवादात्मकता में सर्वोत्कृष्ट है - छात्रों की उस विश्व दृष्टि से निर्मित और संघटित होती है, जिसमें उनके अपने जननशील मूलविषय विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार यह अंतर्वस्तु निरन्तर अपना विस्तार करती रहती है अनुसंधाता शिक्षाशास्त्रियों की विविध विषयों वाली टीम में काम करता है। वह मूल विषयों की उस समष्टि पर काम करता है, जो टीम

के सभी सदस्यों द्वारा किये गये अनुसंधान से उद्घाटित होती है। उसका काम होता है मूलविषयों की उस समष्टि को उन लोगों के समक्ष 'पुनर्प्रस्तुत' करना, जो पहले उसे उन्हीं से मिली होती है। यह 'पुनर्प्रस्तुति' वह व्याख्यान के रूप में नहीं करता, बल्कि मूल विषयों की उस समष्टि को समस्या के रूप में उठा कर करता है।

फ्रेरे एक उदाहरण से इसे स्पष्ट करते है। वे कहते हैं कि मान लो एक समूह को यह जिम्मेदारी दी जाती है कि वह किसी खेतिहर इलाके में, जहां निरक्षरता का प्रतिशत बहुत ज्यादा है, प्रौढ़ शिक्षा की एक योजना का संयोजन करें। योजना में काम दो चरणों में होना हैः पहले एक साक्षरता अभियान, फिर एक उत्तर साक्षरता अभिमान। पहले चरण में समस्या-उठाऊ शिक्षा 'जननशील शब्द' का पता लगाती है और इसका अनुसंधान करती हैं दूसरे चरण में वह 'जननशील मूलविषय' का पता लगाती है और उसका अनुसंधान करती है। लेकिन उदाहरण के तौर पर यहां केवल जननशील मूलविषयों के अनुसंधान की ही चर्चा की जा रही है।

जननशील अथवा सार्थक मूल विषयों के अनुसंधान -

पहली अवस्था - अनुसंधाता जब यह निश्चय कर लेते हैं कि उन्हें किस क्षेत्र में काम करना है और वे गौण स्रोतों से उसका प्रारम्भिक परिचय प्राप्त कर लेते हैं, तब अनुसंधान की पहली अवस्था का आरम्भ होता है। आरंभ में कठिनाइयां और जोखिम होते हैं, जैसा कि मानव समाज में किसी भी कार्य को आरम्भ करते समय होता है । हालांकि ये कठिनाइयां और जोखिम उस क्षेत्र के लोगों से पहला सम्पर्क होने पर हमेशा प्रत्यक्ष नही होता, फिर भी ये एक हद तक सामान्य ही होते हैं। इस पहले सम्पर्क में अनुसंधाताओं के लिए आवश्यक होता है कि वे वहां के लोगों की एक महत्वपूर्ण संख्या को एक अनौपचारिक बैठक के लिए राजी करें, जिसमें वे उन्हें यह बता सकें कि उस क्षेत्र में उनके आने का उद्देश्य क्या है। इस बैठक में वे लोगों को यह समझाते हैं कि अनुसंधान का कारण क्या है, वह कैसे किया जायेगा और उसका क्या उपयोग होगा। वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि आपसी समझदारी और

भरोसे के बिना यह अनुसंधान असंभव होगा । यदि बैठक में भाग लेने वाले लोग अनुसंधान और उसके बाद की प्रक्रिया से सहमत हो जाते है तो अनुसंधाता उन्हीं लोगों में से स्वयंसेवक मांगते है जो उनके सहायकों के रूप में काम करेंगे। ये स्वयंसवेक उस क्षेत्र के जीवन के बारे में क्रमशः कई जानकारियां एकत्र करेंगे। लेकिन इससे भी ज्यादा महत्वपूर्ण होगा अनुसधान में इन स्वयंसेवकों का सक्रिय रूप से उपस्थित रहना ।

इसी बीच अनुसंधाता स्वयं क्षेत्र में जा जाकर लोगों से भेंट करना शुरू कर देते हैं। वे वहां के लोगों पर जबरदस्ती स्वयं को थोपते नहीं, बल्कि ऐसे सहानुभूतिशील प्रेक्षकों के रूप में काम करते हैं, जिनका रवैया चीजों को देखने और समझने का होता है। सामान्य बात है कि अनुसंधाता क्षेत्र में कुछ ऐसे मूल्यों के साथ आते हैं, जो उनके बोध को प्रभावित करते हैं, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वे मूलविषयों के अनुसंधान को उन मूल्यों को दूसरों पर थोपने के साधन में बदल दें। यहां जनता के मूलविषयों का अनुसंधान किया जाता है। अनुसंधाताओं के मूल्यों का एक ही आयाम है, जिसके बारे में आशा की जा सकती है कि जनता उसमें साझेदारी करेगी। वह है विश्व का आलोचनात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान जिसमें यथार्थ का अनावरण करने के लिए उस तक पहुंचने की सही पद्धति शामिल है। और आलोचनात्मक प्रत्यक्ष ज्ञान को थोपा नहीं जा सकता। इस प्रकार मूलविषयों का अनुसंधान आरंभ से ही एक शैक्षिक प्रयास होता है, एक सांस्कृतिक कर्म होता है।

अवकोडन या विसंकेतीकरण - लोगों से अपनी मुलाकातों के दौरान अनुसंधाता उस क्षेत्र के बारे में, जिसका अध्ययन वे कर रहे हैं, अपना आलोचनात्मक 'लक्ष्य' निर्धारित करते हैं। इसमें वह क्षेत्र उनके लिए मानों एक विशाल, अद्वितीय और जीवंत कोड (संकेत) होता है और उनका उद्देश्य उसका अवकोडन करना या उस संकेत का अर्थ निकालना। वे क्षेत्र को एक संपूर्णता मानते हैं और क्रमशः प्रत्येक मुलाकात में स्वयं को प्रभावित करने वाले उसके आंशिक आयामों का विश्लेषण

करके उसकी 'चीरफाड़' करते हैं। इस प्रक्रिया से उनकी समझ का विस्तार होता है कि सम्पूर्णता में गहराई से प्रवेश करने में मदद मिलेगी ।

अवकोडन की इस अवस्था के दौरान अनुसंधाता उस क्षेत्र के जीवन के कुछ क्षणों का अवलोकन करते हैं-कभी प्रत्यक्ष रूप से, तो कभी वहां के लोगों से अनौपचारिक बातचीत के जरिए। वे अपनी कापियों में सब कुछ दर्ज करते चलते है, जिनमें प्रत्यक्ष रूप से महत्वहीन प्रतीत होने वाली चीजें भी होती हैं, जैसे : लोगों के बोलने का ढंग क्या है, उनकी जीवन-शैली कैसी है, चर्च में वे कैसा व्यवहार करते हैं और काम पर होने के समय उनका कैसा व्यवहार है। वे लोगों की बोली भी रिकार्ड करते हैं। उनकी अभिव्यक्तियों को उनकी शब्दावली को, उनके वाक्यविन्यास को उनके विचार की संरचना के ढंग को भी नोट किया जाता है। अनुसंधाताओं के लिए अनिवार्य है कि वे क्षेत्र का अवलोकन विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में करें, जैसे खेतों में मजदूर कैसे काम करते हैं, स्थानीय सभा की बैठकें कैसे होती हैं। फ्रेरे सचेत करते हैं कि क्षेत्र के प्रारम्भिक सर्वेक्षण के दौरान वहां की कोई गतिविधि ऐसी नही रहनी चाहिए, जिस पर ध्यान न दिया गया हो।

प्रत्येक अवलोकन के लिए की गई मुलाकात के बाद अनुसंधाता को एक रपट लिखनी चाहिए और टीम को उस पर बहस करनी चाहिए, जिससे पेशेवर अनुसंधाताओं और स्थानीय सहायकों, दोनों की प्रारम्भिक खोजों का मूल्यांकन किया जा सके। सहायकों की भागीदारी को सुविधाजनक बनाने के लिए ये मूल्यांकन बैठकें क्षेत्र में हीं होनी चाहिएं ।

मूल्यांकन बैठकें अद्वितीय जीवंत कोड का अवकोडन करने के क्रम में दूसरी अवस्था की सूचक हैं । प्रत्येक व्यक्ति अपने अवकोडन निबंध में यह बताता है कि उसने किसी घटना या स्थिति को कैसे देखा या महसूस किया। उसका विवरण अन्य अवकोडकों के लिए एक चुनौती होता है, क्योंकि वह उसी यथार्थ को उनके समक्ष पुनः प्रस्तुत करना है, जिसे वे स्वयं ध्यान से देख रहे होते हैं। उस समय वे दूसरों के

द्वारा उस पर किए गए 'विचार' के जरिए अपने द्वारा किए गये पहले के विचार पर पुनर्विचार करते हैं। क्षेत्र के निवासियों के प्रतिनिधि अनुसंधान करने वाली टीम के सदस्य के रूप में सभी गतिविधियों में भाग लेते हैं।

अनुसंधाताओं का समूह जितना ही अधिक 'पूर्ण' के अंशों को अलग अलग करके उन्हें पुनः जोड़ने का काम करता है, उतना ही अधिक वह उन मुख्य और गौण अंतर्विरोधों के नाभिकों (न्यूक्ली) के निकट पहुचंता है, जिनसे उस क्षेत्र के लोग उलझे होते हैं। अनुसंधाता अंतर्विरोधों के इन नाभिकों या केन्द्रों का पता लगाकर इस अवस्था में भी अपने शैक्षिक कर्म के कार्यक्रम की अंतर्वस्तु को संगठित कर सकते हैं वस्तुतः ये अंतर्विरोध अगर उस अंतर्वस्तु में प्रतिबिंबित होंगे तो उसमें सार्थक मूलविषय अवश्य ही होंगे। यह बात आराम से कही जा सकती है कि इन अवलोकनों के आधार पर किए गये कर्म की सफलता की सम्भावना ऊपर से आने वाले निर्णयों के आधार पर किए जाने वाले कर्म की तुलना में कहीं अधिक होगी। फ्रेरे सावधान करते हैं कि अनुसंधाताओं को इस संभावना के मोह में नही पड़ना चाहिए । बुनियादी बात यह है कि उन्हें अंतर्विरोधों (जिनमें एक वृहत्तर युगीन इकाई के रूप में मुख्य अंतर्विराध भी शामिल है) के इन नाभिकों (केन्द्रों) के आरंभिक बोध से शुरूआत करते हुए इस बात का अध्ययन करना है कि इन अंतर्विरोधों के बारे में क्षेत्र के निवासियों की जानकारी (बोध) का स्तर क्या है।

आभ्यंतरिक रूप से ये अंतर्विरोध प्रतिबंधक (नियामक) स्थितियों से बनते हैं। इनमें मूलविषय होते है, जो कार्यभारों की ओर इंगित करते हैं। लोग यदि इन प्रतिबंधक स्थितियों में जकड़े हुए हैं और स्वयं को इनसे अलग नहीं कर पा रहे है तो इन स्थितियों के संदर्भ में उनका मूल विषय होगा भाग्यवाद, और इस मूलविषय में अंतनिर्हित कार्यभार होगा उन्हें उनके ऐतिहासिक कार्यभार से अवगत कराना ।

दूसरी अवस्था, कोडीकरण - अंतर्विरोधों के सम्मिश्रण को समझ लेने पर अनुसंधान की दूसरी अवस्था आरंभ होती है। हमेशा एक टीम की तरह काम करते हुये अनुसंधाता इनमें से कुछ अंतर्विरोधों को मूलविषयों के अनुसंधान में काम आने वाले

कोडीकरण तैयार करने के लिए चुन लेते हैं कोडीकरण (रेखाचित्र या फोटोग्राफ) चूँकि अवकोडकों के आलोचनात्मक विश्लेषण में मध्यस्थता करने वाली वस्तु होती हैं, इसलिए इन्हें दृश्य सामग्री तैयार करने के प्रचलित सिद्धांतों से भिन्न सिद्धांतों के अनुसार तैयार करना चाहिए ।

पहली जरूरत यह है कि इन कोडीकरणों में अनिवार्यतः उन लोगों की परिचित स्थितियों का निरूपण होना चाहिए, जिनके मूलविषयों की जांच पडताल की जा रही है। इससे वे उन स्थितियों को आसानी से पहचान लेते हैं। सहभागियों के सामने ऐसे यथार्थ के चित्र कभी नहीं प्रस्तुत किए जाने चाहिएं जो उनका परिचित यथार्थ न हो। हालांकि अपरिचित यथार्थ के चित्र प्रस्तुत करना भी एक द्वंद्वात्मक तरीका है, क्योंकि अपरिचित यथार्थ का विश्लेषण करने वाले लोग उसकी तुलना अपने यथार्थ से कर सकते हैं और दोनों की सीमाओं का पता लगा सकते है, फिर भी यह तरीका तब तक नहीं अपनाया जा सकता, जब तक इससे पहले कि वह बुनियादी प्रक्रिया पूरी न हो जाए जो सहभागियों की डूब की दशा के कारण आवश्यक होती है। बुनियादी प्रक्रिया यह है कि लोग अपने ही यथार्थ का विश्लेषण करते हुए अपने पहले वाले विकृत बोधों से अवगत हो जाएँ और इसके जरिए यथार्थ के नए बोध तक आ पहुँचे।

कोडीकरण तैयार करने के लिए एक अन्य आधारभूत आवश्यकता यह भी है कि उनके मूलविषयों का नाभिक (केन्द्रक) न तो बहुत ज्यादा स्पष्ट हो और न बहुत ज्यादा अस्पष्ट। यदि वह बहुत ज्यादा स्पष्ट होगा तो महज प्रचार बन कर रह जाएगा, क्योंकि प्रकटतः पूर्वनिश्चित अंतर्वस्तु का कथन करने के अलावा उसका कोई वास्तविक अवकोडन होगा ही नहीं। यदि वह बहुत ज्यादा अस्पष्ट होगा तो उसमें यह जोखिम रहेगी कि यह कहीं एक पहेली या अनुमान का खेल न बन जाए।

कोडीकरण तैयार करने पद्धति के लिए एक बड़ा मूल्यवान योगदान गैब्रियेल बोडे ने किया है। उत्तर साक्षरता की अवस्था में इस पद्धति का उपयोग करते हुये बोडे ने देखा कि चर्चा में किसान तभी रूचि लेते हैं जब कोडीकरण उनकी अनुभूत

आवश्यकताओं से सीधे संबंधित होते हैं। कोडीकरण में कोई विचलन होता, या शिक्षक द्वारा अवकोडन से संबंधित बहस को अन्य क्षेत्रों में ले जाने की कोशिश की जाती, तो वे चुप और उदासीन हो जाते। दूसरी तरफ, उन्होंने देखा कि कोडीकरण जब उनकी अनुभूत आवश्यकताओं पर केन्द्रित होता था तब भी किसान चर्चा पर व्यवस्थित रूप से ध्यान केन्द्रित नहीं कर पाते थे और बहस इस तरह बिखर जाती थी कि संश्लेषण तक कभी नही पहुंचती थी। यह भी होता था कि वे अपनी अनुभूत आवश्यकताओं और उनके प्रत्यक्ष तथा परोक्ष कारणों में कोई संबंध प्रायः कभी नही देख पाते थे। कहा जा सकता है कि वे अपनी आवश्यकताओं को उत्पन्न करने वाली प्रतिबंधक स्थिति के परे की अनपरखी संभाव्यता को नहीं देख पा रहे थे । तब बोडे ने विभिन्न स्थितियों के युगपत अनुमान (प्रोजेक्शन) का प्रयोग करने का निश्चय किया और इसी तकनीक में उनके योगदान का मूल्य निहित है। आरंभ में वे किसी अस्तित्वगत स्थिति के बडे सरल कोडीकरण का अनुमान लगाते हैं। वे अपने पहले कोडीकरण को तात्विक कहते हैं। इसमें बुनियादी नाभिक का निरूपण किया जाता है और यह मूलविषयों के पंखे की तरह खुल कर सहायक कोडीकरणों तक फैल जाता है। जब तात्विक कोडीकरण का अवकोडन किया जाता है, शिक्षक उसके बिंब को सहभागियों के लिए एक संदर्भ के रूप में दिखाना जारी रखता है और उसके पास ही अन्य सहायक कोडीकरणों का क्रमशः अनुमान (प्रोजेक्शन) करता जाता है, जो तात्विक कोडीकरण से सीधे संबंधित होते हैं। इसके माध्यम से वह विश्लेषण में सहभागियों की स्पष्ट रूचि बनाए रखता है और उन्हें एक संश्लेषण तक पहुँचने में समर्थ बना देता है।

तीसरी अवस्था, अवकोडन व विश्लेषण - जब कोडीकरण तैयार हो जाते है और जब शिक्षकों की अंतर्विषयी (इंटर डिसिप्लिनरी) टीम के द्वारा उनके मूलविषयों से संबंधित समस्त सजीव पक्षों का अध्ययन कर लिया जाता है, तब अनुसंधाता क्षेत्र में वापस जाकर मूलविषयी अनुसंधान मंडलों में अवकोडन करने वाले संवाद शुरू करते हैं। यह अनुसंधान की तीसरी अवस्था होती है। इन बहसों को जिनमें पहले वाली

अवस्थाओं में तैयार की गयी सामग्री का अवकोडन किया जाता है, टेप कर लिया जाता है, ताकि बाद में अंतर्विषयी शिक्षकों की टीम इनका विश्लेषण कर सके। इन बैठकों में तीन विशेषज्ञ भाग लेते हैं, एक विशेषज्ञ तो वह अनुसंधाता ही होता है, जो अवकोडन संयोजक के रूप में काम करता है, शेष दो में से एक मनोविज्ञानी होता है और एक समाजविज्ञानी। उनका काम है अवकोडकों की महत्वपूर्ण (और उपर से महत्वपूर्ण न लगने वाली) प्रतिक्रियाओं को नोट करना तथा उनका लेखा तैयार करना। इस प्रक्रिया में संयोजक के लिए निहायत जरूरी है कि वह लोगों की बातें न केवल सुने, बल्कि कोडित अस्तित्वगत स्थिति को तथा उनके उत्तरों को समस्याओं के रूप में उठाकर उन्हें चुनौती भी दे। मूलविषयी अनुसंधान मंडलों के सहभागी इस पद्धति की विरेचनकारी शक्ति के कारण अपने बारे में विश्व के बारे में और दूसरों के बारे में ऐसे बहुत सी भावनाएं और राय प्रकट करते हैं जिन्हें भिन्न परिस्थितियों में वे शायद कभी प्रकट न करते।

अंतिम अवस्था, मूल विषयों का सीमांकन एवं विश्लेषण - जब मंडलों में अवकोड़न का काम पूरा हो जाता है, अनुसंधान की अंतिम अवस्था आरंभ होती है, जिसमें अनुसंधाता अब तक प्राप्त परिणामों का व्यवस्थित अंतर्विषयी अध्ययन करते हैं। अवकोडन सत्रों में टेप की गई सामग्री को सुनते हुए और मनोविज्ञानी तथा समाजविज्ञानी द्वारा नोट की गयी चीजों का अध्ययन करते हुए अनुसंधाता सत्रों में कही गई बातों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप में मौजूद मूलविषयों की सूची बनाना शुरू करते हैं। इन मूलविषयों का वर्गीकरण विभिन्न समाजविज्ञानों के अनुसार किया जाना चाहिए । वर्गीकरण का अर्थ यह नहीं है कि जब कार्यक्रम बनाया जाए तो मूलविषय अलग-अलग कोटियों से संबंधित नजर आएं इसका अर्थ केवल यह है कि वे समाजविज्ञान की जिस शाखा से संबंधित हैं, वह उन पर विशेष रूप से ध्यान दे। उदाहरण के लिए विकास का मूलविषय अर्थशास्त्र से विशेष रूप से संबंधित होते हुए भी केवल अर्थशास्त्र से संबंधित नहीं है। इस मूलविषय पर समाजशास्त्र, मानवविज्ञान और सामाजिक मनोविज्ञान द्वारा भी दिया जाए। (ये क्षेत्र सांस्कृतिक

परिवर्तन और मूल्यों तथा दृष्टिकोणों में होने वाले बदलाव के प्रश्नों से जुड़े हैं और ये प्रश्न विकास के दर्शन के लिए भी समान रूप से प्रासंगिक है)। विकास का संबंध राजनीतिविज्ञान जो विकास संबंधी निर्णयों का क्षेत्र है और शिक्षा आदि से भी है। अतः इस पर राजनीतिविज्ञान और शिक्षाशास्त्र द्वारा भी ध्यान दिया जाएगा। इस प्रकार मूलविषयों को संकुचित दृष्टि से कभी नही समझा जा सकता क्योंकि उनकी तो विशेषता ही संपूर्णता है।

मूलविषयों का सीमांकन हो जाने पर प्रत्येक विशेषज्ञ अंतर्विषयी टीम के समक्ष अपने मूलविषय के विश्लेषण (ब्रेक डाउन) के लिए एक परियोजना प्रस्तुत करता है। इसके जरिए विशेषज्ञ मूलविषय के उन आधारभूत नाभिकों की तलाश करता है, जिनमें अधिगम इकाइयाँ होती हैं। ये नाभिक पूर्वापर क्रम बना कर मूलविषय का एक व्यापक चित्र प्रस्तुत करते हैं। जब किसी परियोजना पर चर्चा की जाती है, दूसरे विशेषज्ञ उस पर अपनी राय और सुझाव देते हैं। ये सुझाव परियोजना में और / या उन संक्षिप्त निबंधों में शामिल किए जा सकते हैं जो मूलविषय पर लिखे जाने होते हैं इन निबंधों में संदर्भ संकेत भी जोड़े जाते हैं। ये निबंध उन शिक्षक छात्रों के प्रशिक्षण के लिए बड़ी मूल्यवान सामग्री होते हैं, जिनको संस्कृति मंडलों में काम करना होता है।

फ्रेरे कहते हैं कि अर्थपूर्ण मूलविषयों के विश्लेषण के इस प्रयास के दौरान टीम कुछ ऐसे मूलविषयों को शामिल करने की जरूरत महसूस करेगी, जो पहले के अनुसंधान में सीधे जनता द्वारा नहीं सुझाए गए हैं, लेकिन आधारभूत हैं। ऐसे मूलविषयों को शामिल करना आवश्यक सिद्ध हुआ है और यह शिक्षा के संवादात्मक चरित्र से मेल भी खाता है। यदि शैक्षिक कार्यक्रमों का निर्माण संवादात्मक है तो शिक्षक -छात्रों को भी उन मूलविषयों को शामिल करने का अधिकार है, जो पहले नही सुझाए गए हैं। फ्रेरे इस प्रकार के मूलविषयों को कब्जेदार मूलविषय कहते हैं क्योंकि इनका काम वही है, जो किवाड़ में चूल या कब्जे का होता है। वे या तो दो मूलविषयों को जोड़ने का काम करते हैं, ताकि दोनों के बीच की छूटी हुई खाली

जगह भर जाए, या वे सामान्य कार्यक्रम की अंतर्वस्तु और जनता की विश्वदृष्टि के बीच के संबंध का दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। अतः इनमें से किसी मूलविषय को मूलविषयी इकाइयों के आरंभ में रखा जा सकता है।

फ्रेरे उदाहरण देकर स्पष्ट करते हैं कि इन कब्जेदार मूलविषयों में से एक है संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा। यह मूलविषय विश्व में और विश्व के साथ मनुष्यों की भूमिका को इस रूप में स्पष्ट करता है कि मनुष्य अनुकूलित होने वाले प्राणी नहीं, बल्कि रूपांतरण करने वाले प्राणी हैं।[9]

कोडीकरण - कोडीकरण या संकेतीकरण विद्यार्थी के ठोस यथार्थ (उदाहरण के लिए स्लम में रहना) के कुछ महत्वपूर्ण पक्ष की कल्पना करना या स्वयं बिंब को विकल्प के रूप में बताना है उसी रूप में यह शिक्षक-विद्यार्थी संवाद की वस्तु और जननशील शब्द के परिचय के लिय संदर्भ दोनों होता है।

जब मूलविषयों के विश्लेषण का काम पूरा हो जाता है तब उनके कोडीकरण की अवस्था आती है, जिसमें प्रत्येक मूलविषय तथा उसके निरूपण के लिए संप्रेषण का सर्वोत्तम माध्यम चुना जाता है, कोडीकरण सरल या जटिल कैसा भी हो सकता है। सरल कोडीकरण में या तो दृश्य (चित्रात्मक या लेखाचित्रीय) और स्पृश्य माध्यमों का उपयोग किया जाता है या श्रव्य माध्यम का, जिसमें विविध प्रकार के माध्यम होते हैं। चित्रात्मक या लेखा चित्र माध्यम का चयन कोडीकृत सामग्री पर ही नही, इस पर भी निर्भर करता है कि जिन व्यक्तियों के साथ संप्रेषण किया जाना है, वे शिक्षित हैं या अशिक्षित।

मूलविषयों का कोडीकरण हो जाने के बाद, शिक्षा के लिए सहायक सामग्री (फोटोग्राफ, स्लाइडें, फिल्म-पट्टियां, पोस्टर, पठन-सामग्री आदि) तैयार की जाती हैं। टीम कुछ मूलविषयों को या उनके कुछ पक्षों को बाहर के विशेषज्ञों के पास भेज कर उनसे संबंधित उनके साक्षात्कार भी रिकार्ड करा सकती हैं।

जब किसी व्यक्ति के सामने कोई कोडित अर्थात संकेत रूप में पेश की गई अस्तित्वगत स्थिति उदाहरणार्थ एक फोटोग्राफ या रेखाचित्र, जो अमूर्तन के जरिए

अस्तित्वगत यथार्थ की मूर्तता तक ले जाता है) प्रस्तुत की जाती है, तो वह उसकी 'चीरफाड़' (यथार्थ को उसके चित्र से अलग) करना चाहता है। अवकोडन की प्रक्रिया में इससे मिलती जुलती स्थिति को फ्रेरे 'स्थिति का वर्णन' कहते हैं।, जिससे असंबद्ध पूर्ण के अंशों में होने वाली पारस्परिक क्रिया की खोज में सुविधा होती है। यह पूर्णता (कोडित स्थिति) जो पहले केवल धुंधले रूप में समझी गयी थी, उस समय अर्थ ग्रहण करने लगती है, जब इस पर कई आयामों से विचार किया जाता है। लेकिन चूंकि कोडन एक अस्तित्वगत स्थित का निरूपण है, अवकोडनकर्ता (यानी संकेत का खुलासा करने वाला) में निरूपण से आगे बढ़ कर उस मूर्त स्थिति तक जाने की प्रवृत्ति होती है, जिसमें और जिसके साथ वह स्वयं को पाता है। इस प्रकार अवधारणा के स्तर पर इस चीज की व्याख्या संभव हो जाती है और यथार्थ अब एक अंधी गली न रह कर अपना सच्चा आकार ग्रहण कर लेता है -अर्थात एक ऐसी चुनौती बन जाता है, जिसका जबाब मुनष्यों को अवश्य देना चाहिए कि ऐसी हालत में विभिन्न व्यक्ति उस वस्तुपरक यथार्थ के प्रति भिन्न-भिन्न प्रकार के व्यवहार क्यों करने लगते हैं।

फ्रेरे बताते हैं कि बुनियादी शिक्षा वाले शिक्षकों का पहला काम है शैक्षिक अभियान के सामान्य कार्यक्रम को प्रस्तुत करना। जनता को यह कार्यक्रम बेगाना नही, अपना लगेगा। वह उसमें स्वयं को पाएगी, क्योंकि उसकी शुरूआत जनता से ही हुई थी। शिक्षक (शिक्षा के संवादात्मक चरित्र के आधार पर) कार्यक्रम के क़ब्जेदार मूलविषयों की उपस्थिति को तथा उनके महत्व को स्पष्ट करेंगे।

इन बुनियादी मूलविषयों में से एक, जिसे फ्रेरे केन्द्रीय तथा अपरिहार्य मानते हैं संस्कृति की मानववैज्ञानिक अवधारणा है। मनुष्य किसान हो या शहरी मजदूर, पढ़ना सीख रहे हों या उत्तर साक्षरता कार्यक्रम में भाग ले रहे हों, और अधिक जानने की उनकी चेष्टा का प्रस्थान बिन्दु (शब्द के कारक अर्थ में) अवधारणा संबंधी वाद-विवाद होना चाहिए । जब वे सांस्कृतिक जगत की चर्चा करते हैं, वे अपने यथार्थबोध के स्तर को सामने लाते हैं, जिसमें अनेक प्रकार के मूलविषय अंतर्निहित

रहते हैं। उनकी चर्चा यथार्थ के अन्य पक्षों को भी छूती है। इससे यथार्थ उत्तरोत्तर अधिक आलोचनात्मक रूप में दिखाई पड़ने लगता है। पुनः यथार्थ के ये पक्ष भी बहुत से दूसरे मूलविषयों से संबंधित होते हैं।

फ्रेरे का मानना है कि यदि संस्कृति की अवधारणा की चर्चा कल्पनाशील ढंग से उसके सभी या अधिकतम आयामों में की जाए तो उससे शैक्षिक कार्यक्रमों के बहुत से पहलू सामने आ सकते हैं। इसके अलावा संस्कृति मंडल के सहभागियों के साथ कई दिनों के संवाद के बाद शिक्षक सहभागियों से सीधे ही पूछ सकता है कि "इन विषयों अथवा मूलविषयों के अलावा हम और किन विषयों अथवा मूलविषयों पर चर्चा कर सकते हैं?" प्रत्येक व्यक्ति इस प्रश्न का जो उत्तर देता है, उसे नोट कर लिया जाता है और तुरन्त उसे एक समस्या के रूप में समूह के सामने प्रस्तुत कर दिया जाता है।

फ्रेरे के अनुसार मुक्तिदायी शिक्षा के दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण चीज यह है कि मनुष्य अपने तथा अपने साथियों के सुझावों में स्पष्ट या अस्पष्ट रूप से व्यक्त होने वाले अपने विश्व संबंधी विचारों तथा दृष्टिकोणों की चर्चा करें और इसके जरिए यह महससू करें कि यह चिंतन उनका ही है। चूंकि शिक्षा सबंधी यह दृष्टिकोण इस दृढ़ धारणा से आरंभ होता है कि यह स्वयं अपना कोई कार्यक्रम प्रस्तुत नही कर सकता, बल्कि उसे इस कार्यक्रम की तलाश जनता के साथ संवादात्मक रूप से करनी चाहिए, जिसके विकास में उत्पीड़ितों को अवश्य ही सहभागी होनी चाहिए।[10]

फ्रेरे विकास के मूलविषय को उदाहरण के लिए लेते हैं। टीम भिन्न-भिन्न चिंतन प्रणालियों वाले दो या दो से अधिक अर्थशास्त्रियों से सम्पर्क करती हैं, उन्हें कार्यक्रम के बारे में बताती है, उन्हें साक्षात्कार के लिए आमंत्रित करती है, और उनसे अनुरोध करती है कि वे ऐसी भाषा में बोलें, जो श्रोताओं की समझ में आ जाए। विशेषज्ञ अनुरोध स्वीकार कर लेते हैं तो पंद्रह बीस मिनट का साक्षात्कार टेप कर लिया जाता है। विशेषज्ञ जब बोल रहे हों तो उनमें से प्रत्येक का फोटो भी लिया जा सकता है।

जब टेप किया हुआ साक्षात्कार सांस्कृतिक मंडल के सामने प्रस्तुत किया जाता है तो प्रत्येक वक्ता के बारे में एक परिचयात्मक वक्तव्य दिया जाता है कि वह कौन है, उसने क्या लिखा है, क्या किया है और आजकल वह क्या कर रहा है, इस बीच उसका फोटो परदे पर प्रक्षेपित किया जाता है। समूह को पहले से ही बता दिया जाता है कि रिकार्ड किए गए साक्षात्कार के बाद उसकी विषयवस्तु पर चर्चा की जाएगी (अर्थात यह साक्षात्कार एक श्रव्य कोडीकरण का काम करेगा)। चर्चा में सहभागियों की जो प्रतिक्रियाएं होंगी, टीम उनकी रपट विशेषज्ञ के पास भेजेगी। फ्रेरे इस पद्धति के लाभों की चर्चा करते हुए कहते हैं कि इस तकनीक से वे बुद्धिजीवी भी जनता और यथार्थ से जुड़ जाते हैं, जो सदाशयी होते हुए भी प्रायः उससे कटे हुए रहते हैं। इससे जनता को भी बुद्धिजीवियों के विचार सुनने का तथा उनकी आलोचना करने का अवसर मिलता है।

कुछ मूलविषयों को अथवा उनके नाभिकों को संक्षिप्त नाटकों का रूप देकर भी प्रस्तुत किया जा सकता है, लेकिन उनमें केवल मूलविषय ही रहने चाहिएँ, कोई समाधान नहीं। यह नाटकीकरण एक समस्या-उठाऊ स्थिति के रूप में, जिस पर चर्चा की जानी है, एक कोडीकरण का काम करता है।

एक और शिक्षात्मक साधन भी फ्रेरे बताते हैं। वह यह है कि पत्रिकाओं में प्रकाशित लेख, अखबार और पुस्तकों के अध्याय (आरंभ में अध्यापकों के कुछ अंश) पढ़े जाएं और उन पर चर्चा हो। जैसा कि रिकार्ड किए गए साक्षात्कार के मामले में बताया गया है, आरंभ में लेखक का परिचय दिया जाए और बाद में लेख की अंतर्वस्तु पर चर्चा की जाए। फ्रेरे सचेत करते हैं कि इस साधन का प्रयोग शिक्षा की समस्या उठाऊ पद्धति में ही किया जाये, बैंकिंग में नहीं

इसी प्रकार अखबारों की संपादकीय टिप्पणियों की अंतर्वस्तु का विश्लेषण भी फ्रेरे मानते हैं कि अपरिहार्य है। किसी घटना के बाद लिखे गए अखबारों के संपादकीय पढ़ कर सुनाने के बाद यह प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि अलग-अलग अखबार एक ही तथ्य की ऐसी अलग-अलग व्याख्याएं क्यों करते हैं? इससे जनता

की आलोचनात्मक समझ के विकास में सहायता मिल सकती है। यह काम इस उद्देश्य से किया जाना चाहिए कि लोग स्वयं को निष्क्रिय वस्तुओं के रूप में और अखबारों तथा समाचार प्रसारणों को अपने लिए जारी की गई विज्ञप्तियों के रूप में देखना बंद कर दें और उनके प्रति ऐसी चेतनाओं के रूप में प्रतिक्रिया करें, जो मुक्त होना चाहती हैं। शिक्षात्मक सामग्री (सहायक सामग्री) के साथ छोटी छोटी परिचयात्मक नियम पुस्तिकाएं भी होनी चाहिएँ, जिनमें सामग्री के उपयोग की विधियां बताई गयी हों। इस प्रकार सारी सामग्री तैयार हो जाने पर शिक्षकों की टीम जनता के सामने उसके अपनी ही मूलविषयों को व्यवस्थित और विस्तृत रूप में पुनर्प्रस्तुत करने के लिए तैयार हो जाती है। जनता से आने वाले मूलविषय पुनः जनता के पास जाते हैं तो ऐसी अंतर्वस्तुओं के रूप में नहीं जो जमा की जानी है बल्कि समस्याओं के रूप में जिन्हें हल किया जाना है।

4.2 जानने की क्रिया के रूप में प्रौढ़ साक्षरता की प्रक्रिया

फ्रेरे प्रौढ साक्षरता की प्रक्रिया को जानने की क्रिया के रूप में देखते हैं वे कहते हैं कि जानने की क्रिया के रूप में प्रौढ़ साक्षरता की प्रक्रिया शिक्षकों और विद्यार्थियों के बीच प्रमाणिक संवाद के रिश्ते की मांग करती है। कर्ताओं के बीच मध्यस्थता करने वाली ज्ञेय वस्तु के बोध में निहित सच्चा संवाद इनको एकजुट करता है।

फ्रेरे की धारणा है कि बिना विचार के भाषा असंभव है और भाषा और विचार दोनों उस दुनिया के बिना नामुमकिन हैं, जिससे उनका वास्ता है। पढ़ना और लिखना सीखना मनुष्य के लिए ऐसा अवसर होना चाहिए ताकि वह जान सके कि शब्द वास्तव में क्या बता रहा है। शब्द, शब्दकोश में दिये गये शब्दों से ज्यादा अर्थवान होते हैं - यह शब्द और कर्म है। साक्षरता प्रक्रिया के बोधात्मक आयामों को अपनी दुनिया के साथ मनुष्य के सम्बन्धों को शामिल करना होगा।

शब्द बोलना सच्चा कर्म नहीं है। यदि वह उसी के साथ आत्मभिव्यक्ति और विश्व -अभिव्यक्ति के साथ, रचना और पुनर्रचना के साथ, फैसला लेने और चुनाव करने के साथ और अंततः समाज की ऐतिहासिक प्रक्रिया में भाग लेने के साथ नही जुड़ा है।[11]

खामोशी की संस्कृति में जनता 'मूक' होती है यानी कि अपने समाज के रूपान्तरण के रचनात्मक रूप में भाग लेने से उन्हें रोका गया है और इसीलिए उन्हें अपने 'होने' से भी रोका गया है। यदि वे कभी कभार पढ़ लिख सकते हैं क्योंकि उन्हें मानववादी नहीं वरन मानवीय साक्षरता अभियानों में 'शिक्षित' किया गया है, तो भी वे अपनी खामोशी के लिए जिम्मेदार सत्ता से विच्छित्र रहते हैं।

निरक्षर लोग जानते हैं कि वे ठोस मनुष्य हैं। वे जानते हैं कि वे चीजों को संभव कर सकते हैं। खामोशी की संस्कृति जिसमें वे संदिग्ध और द्वैत प्राणी हैं, उसमें वे यह नहीं जान पाते हैं कि मनुष्य के कार्य रूपांतरणशील, रचनात्मक और पुनर्रचनात्मक होते हैं। इस संस्कृति के मिथक के साथ -साथ अपनी स्वयं की ' सववाभाविक हीनता' के मिथक से पराभूत, वे नहीं जानते कि संसार में किये गये उनके कर्म भी रूपांतरणशील हैं। उनसे जुड़े तथ्यों के 'संरचनात्मक परिप्रेक्ष्य' को रखने से रोके जाने की वजह से वे नहीं जान पाते कि वे अपनी 'आवाज नही रख सकते' यानी वे अपने समाज के सामाजिक -ऐतिहासिक रूपांतरण में सचेत रूप से भाग लेने के अधिकार का इस्तेमाल नहीं कर सकते क्योंकि उनके कार्य का सम्बन्ध उनसे नहीं है।

विद्यार्थियों और शिक्षकों दोनों के आलोचनात्मक चिंतन को प्रकट करने वाली घटना के रूप में साक्षरता की प्रक्रिया को रूपांतरणशील यथार्थ को बताने वाले शब्द, और इस रूपांतरण में मनुष्य की भूमिका से जुड़ना होगा। फ्रेरे का कहना है कि यदि हम सचमुच मुक्ति से प्रतिबद्ध हैं तो वे जो पढ़ना और लिखना सीख रहे हैं उनके लिए उस सम्बन्ध के महत्व को समझना अपरिहार्य है। ऐसा परिप्रेक्ष्य शिक्षार्थी को

सिर्फ साक्षर होने से कहीं ज्यादा बड़े अधिकार को पहचानने की ओर ले जाएगा। अंतत मनुष्य के रूप में वे पहचान पाऐंगे कि उनकी अपनी आवाज हो, यह उनका अधिकार है।

जानने की क्रिया के रूप में प्रौढ़ साक्षरता प्रक्रिया में परस्पर जुड़े दो संदर्भो का अस्तित्व निहित होता है। एक है, समान रूप से जानकार कर्ताओं के रूप में विद्यार्थियों और शिक्षकों के बीच प्रामाणिक संवाद का संदर्भ। जिसे स्कूलों को करना चाहिए यह संवाद का वहीं सैद्धान्तिक संदर्भ है। दूसरा, तथ्यों का वास्तविक ठोस संदर्भ यानी सामाजिक यथार्थ जिसमें मनुष्य जीता है।

मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई के रूप में प्रौढ़ साक्षरता की प्रक्रिया -

प्रत्येक शिक्षक व्यक्ति और जगत के अन्तर्सम्बन्धों के विषय में एक वैचारिक आधार रखता है। उसे इस तथ्य को भली भांति समझना चाहिऐ कि यदि जानवरों के लिए जगत में अवस्थिति का मतलब जगत में अनुकूलन है तो मनुष्य के लिए इसका मतलब है यथार्थ अथवा जगत का रूपांतरण, उसका मानवीकरण । जानवरों के लिए कोई ऐतिहासिक बोध नहीं होता और न ही जगत में उनका अवस्थिति में कोई विकल्प या मूल्य निहित होते हैं। लेकिन मनुष्य के लिए ऐतिहासिक बोध और मूल्य दोनों आयाम होते हैं। जानवरों की नैसर्गिक मूल प्रवृत्यात्मक दिनचर्या के विपरीत मनुष्य 'परियोजना' अर्थात विचारपूर्ण उद्‌देश्य पूरे करने का बोध रखते हैं।

प्रौढ़ों को पढ़ना-लिखना सिखाने के कार्य को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए, विश्लेषित किया जाना चाहिए और समझा जाना चाहिए। शिक्षकों और विद्यार्थियों द्वारा अपनाई गई पद्धतियों और पाठ्य पुस्तकों में आलोचनात्मक विश्लेषक उन व्यावहारिक मूल्य विकल्पों की खोज करेंगे जो अच्छे या कमजोर ढंग से प्रस्तुत हो सकते हैं, जो सुसंगत या असंगत हो सकते हैं, लेकिन जो मनुष्य के दर्शन के साथ विश्वासघात करते हैं। जिन्हें मार्क्स ने 'स्थूल भौतिकवादी' कहा है, ऐसे कुछ यांत्रिक मानसिकता वाले लोग ही प्रौढ़ साक्षरता कार्यक्रम को पूरी तरह से

तकनीकी कार्रवाही में घटा सकते हैं। ऐसा सीधा दृष्टिकोण यह समझने में नाकामयाब होता है कि संसार में अपनी अवस्थिति में मनुष्य के साधन के रूप में स्वयं तकनीक व्यवस्था नहीं होती।

प्रौढ़ों को पढ़ना लिखना सिखाने के लिए बुनियादी पाठ्य-पुस्तकों के रूप में प्रयुक्त होने वाली प्राइमरों पर विचार करते हुए हम तर्कसंगत ढंग से इस नतीजे पर पहुँच सकते हैं कि भले ही लेखक माने या न माने, लेकिन प्राईमरों की विषयवस्तु और पद्धति में मनुष्य की अवधारणा अंतर्निहित होती है। इस अवधारणा को विभिन्न कोणों से पुनः रचा जा सकता है। फ्रेरे कहते हैं कि हम इस तथ्य के साथ शुरू कर सकते हैं कि प्राइमर के विचार और इसके इस्तेमाल में यह अंतर्निहित है कि वह शिक्षक ही है जो शब्दों को चुनाव करता है और उन्हें शिक्षार्थियों के सामने प्रस्तुत करता है। जहां तक शिक्षक और शिक्षार्थियों के बीच प्राइमर मध्य स्थित वस्तु के रूप में है, और विद्यार्थियों को उन शब्दों के साथ 'भरा जाना' है जिन्हें शिक्षकों ने चुना है, तब कोई भी आसानी से मनुष्य की छवि के प्रथम महत्वपूर्ण आयाम को पहचान सकता है जो यहां उभरना शुरू होता है। यह ऐसे मनुष्य का व्यक्ति चित्र है जिसकी चेतना 'स्थानिक' है और जानने के क्रम में जिसे 'संपूरित' और 'पुष्ट' करना होता है। ठीक यही अवधारणा हमें सार्त्र की आलोचना तक ले जाती है, जो उसने 'सिचुएशंस' में 'जानना ही खाना है' मत की करी थी। उसने विस्मय के साथ कहा था,'' O philosophie, alimentaire"[12]

ज्ञान की यह 'पाचकवादी' अवधारणा वर्तमान शैक्षिक व्यवहार में बहुत सामान्य बात है और जिसे साफ तौर पर प्राईमरों में देखा गया हैं। निरक्षरों को 'अल्प-पोषित' माना जाता है, अपने शाब्दिक अर्थ में नहीं जिसमें कि वे ज्यादातर सचमुच अल्प पोषित होते हैं। बल्कि इस अर्थ में कि उनमें 'आत्मा के भोजन' (मानसिक खुराक) का अभाव होता है। भोजन के रूप में ज्ञान की अवधारणा की संगति में निरक्षरता को ऐसी 'विषैली औषधि' समझा जाता है, जो ऐसे लोगों को

जो न पढ़ना जानते हों, न लिखना जानते हों, उन्हें मदमस्त और दुर्बल बनाती है। इस प्रकार, रोग का उपचार करने के लिए निरक्षरता के उन्मूलन की बात बार-बार कही गई है। इस तरह मनुष्य की विचार भाषा का संघटन करने वाले भाषिक संकेतों के रूप में अपने चरित्र से वंचित शब्द महज शब्दकोश में रूपांतरित हो जाते हैं, आत्मा के भोजन के रूप में जिन्हें निरक्षर लोगों को 'खाना' और 'पचाना' भर होता है।

ज्ञान का यह 'पोषणवादी' दृष्टिकोण शायद कुछ दक्षिण अमरीकी प्रौढ़ साक्षरता अभियानों के मानववादी चरित्र की व्याख्या भी करता है। यदि लाखों -लाख लोग अनपढ़ हैं, 'अक्षरों के भूखे और प्यासे' हैं तो उन्हें इस भूख-प्यास से बचाएं। चेतना की प्रकृतवादी अवधारणा के अनुसार प्राईमरों में अंतर्निहित शब्द 'भंड़ारित' होने चाहिएं, न कि शिक्षार्थियों के रचनात्मक प्रयास से उत्पन्न होने चाहिएं जैसा कि इस अवधारणा में समझा गया है कि मनुष्य एक निष्क्रिय प्राणी है, पढ़ना और लिखना सीखने की प्रक्रिया की वस्तु, न कि उसका कर्ता। एक वस्तु के रूप में उसका कार्य है तथाकथित पाठों का 'अध्ययन' करना, जो वस्तुतः कमोबेश पूरी तरह से विच्छिन्न करने वाला और स्वयं विच्छिन्न होता है और विद्यार्थी के सामाजिक सांस्कृतिक यथार्थ से अगर उसका कोई सम्बन्ध होता भी है तो बहुत मामूली सा।

फ्रेरे एक प्राइमर के एक पाठ उदाहरण देते हैं -

'पीटर नहीं जानता था कि कैसे पढ़े। पीटर लज्जित था। एक दिन पीटर स्कूल गया और रात्रि पाठ्यक्रम में उसने पंजीकरण कराया। पीटर के अध्यापक बहुत अच्छे थे। पीटर अब पढ़ना जान गया है। पीटर के चेहरे की ओर देखो। (ये पाठ ज्यादातर चित्रों के साथ होते हैं।) पीटर मुस्करा रहा है। वह एक खुश इनसान है। उसे पहले से अच्छी नौकरी मिल गई है। प्रत्येक को उसके उदाहरण का अनुकरण करना चाहिए।' [12]

यह कहना कि पीटर मुस्करा रहा है क्योंकि वह पढ़ना जानता है। वह प्रसन्न है क्योंकि अब उसे अच्छी नौकरी मिल गई है और वह ऐसा उदाहरण है जिसका सबको अनुकरण करना चाहिए। यहाँ लेखकों ने पढ़ना जानने और अच्छी नौकरी पाने के बीच जो रिश्ता कायम किया है, वास्तव में ऐसा हो नहीं सकता। यह निष्कपटता, कम से कम यह तो उजागर करती ही है कि न सिर्फ निरक्षरता की सरंचना को नहीं समझा गया है बल्कि सामान्य सामाजिक परिघटना को भी नहीं समझा गया है। ऐसा दृष्टिकोण यह तो मान सकता है कि ये परिघटनाएं विद्यमान हैं, लेकिन जिस सामाजिक संरचना में ये पायी जाती हैं उनके सम्बन्धों को यह नहीं समझ सकता। वह है मानो ये परिघटना ठोस स्थितियों के पार और परे मिथकीय हों, या लोगों के निश्चित वर्ग की अंतर्भूत हीनता का परिणाम हो। सीधे तौर पर अविकसित संरचनाओं से सम्बन्धित 'खामोशी की संस्कृति' की विशिष्ट अभिव्यक्ति के रूप में समकालीन निरक्षरता को ग्रहण करने में असमर्थ, यह दृष्टिकोण निरक्षरता की चुनौती के वस्तुपरक, आलोचनात्मक प्रत्युत्तर को प्रस्तावित नहीं कर सकता। लोगों को महज पढ़ना-लिखना सिखाने से किसी चमत्कार की उम्मीद नहीं है, उनको पढ़ना-लिखना सिखाने से नौकरियां पैदा नहीं हो जाएंगी।

'चिड़ियों के पंख होते हैं', 'इवा न अंगूर देखा', 'कौआ कांव -कांव करता है' और 'कुत्ता भौंकता है' ऐसे भाषिक संदर्भ हैं जिन्हें जब यांत्रिक ढंग से रटा जाता है, तो यथार्थ के साथ परस्पर गतिशील क्रिया करते हुए विचार-भाषा के रूप में अपने प्रामाणिक आयाम से वंचित रह जाते हैं। इस प्रकार ये अशक्त अभिव्यक्तियां संसार की प्रामाणिक अभिव्यक्तियां नहीं बन पातीं।

❋❋❋❋❋

दृष्टव्यः

1. माइल्स हार्टन एवं फ्रेरे- शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन, राह बनाकर चलते हम, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2003, पृ0 74
2. जोनाथन कोजोल, क्रांति की बारहखड़ी, (चिल्ड्रन ऑफ द रिवोल्यूशन), ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 1997, पृ0- 78
3. फ्रेरे पाओलो, प्रौढ़ शिक्षा-मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली-1997, पृ0-40
4. पाओलो फ्रेरे- उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, भूमिका, ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली-1997, पृ0-35
5. पूर्वोक्त- पृ0-54
6. राह बनाकर चलते हम, पृ0- 55
7. उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, पृ0 - 58
8. पूर्वोक्त- पृ0-67
9. पूर्वोक्त- पृ0-77
10. पूर्वोक्त- पृ0-80
11. मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई, पृ0- 17, 18
12. पूर्वोक्त- पृ0-11
13. पूर्वोक्त- पृ0-13

अध्याय-पंचम

वर्तमान भारतीय परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में फ्रेरे के विचारों की उपादेयता एवं व्यवहार्यता

पंचम - अध्याय

भारतीय परिप्रेक्ष्य में फ्रेरे के विचारों की उपादेयता

भारतीय संदर्भ में फ्रेरे के विचारों की प्रासंगिकता की चर्चा करने से पूर्व फ्रेरे की ही इस बात का पुनः स्मरण करना जरूरी है कि शिक्षा भी राजनीति है। राजनीति में अक्सर यह होता है कि प्रभुत्वशाली वर्ग अपने विरोधी क्रांतिकारी वर्गों के संघर्ष के तरीकों को बेअसर बनाने के लिए उन्हें आत्मसात करके अपने उद्‌देश्य के लिए इस्तेमाल कर लेता है। क्रांतिकारी विचारों को भी वह पहले तो उपेक्षा या दमन से मार डालने की कोशिश करता है, लेकिन जब इसमें कामयाब नहीं हो पाता तो उन्हें तोड़-मरोड़ कर अपने अनुकूल बना लेने की कोशिश करता है। इसका एक जाना-पहचाना तरीका है क्रान्तिकारी विचार को एक पद्धति में सीमित कर देना और अपने हित में उसका इस्तेमाल कर लेना। जिस प्रकार बहुत से प्रतिक्रियावादी रंगकर्मी बर्तोल ब्रेश्ट के रंग-दर्शन को 'पार्थक्व-प्रभाव' की पद्धति में ही सीमित कर देते हैं, उसी प्रकार उत्पीड़नकारी व्यवस्था की सेवा करने वाले बहुत से शिक्षक और शिक्षा शास्त्री उत्पीड़ितों के शिक्षाशास्त्र को केवल 'संवादात्मक पद्धति' में सीमित करके इस्तेमाल करने की कोशिश करते हैं। पाओलो फ्रेरे के शिक्षादर्शन को शिक्षा की संवादात्मक पद्धति मात्र बना कर उसका अवमूलन करने तथा उसे अपने परम्परागत तौर तरीकों में ही समाहित कर लेने के प्रयास भारत में भी किए जाते रहे हैं।

सोवियत संघ के विघटन के बाद समाजवाद में आस्था रखने वाले लोगों के बीच जो निराशा फैली या फैलाई जा रही है, उसके माहौल में पाओलो फ्रेरे का आशावादी स्वर एक प्रेरणा के रूप में अलग से गूंजता सुनाई पड़ता है। निराशा फैलाने वालों में वे उत्तर-आधुनिकतावादी सबसे आगे हैं, जो यह बताया करते हैं कि 'इतिहास का अन्त' हो गया है। वे फ्रेरे को जबर्दस्ती अपने साथ खड़ा करके उनके विचारों को पूंजीवाद की सेवा में नियुक्त कर लेने की कोशिश करते हैं,

लेकिन यह संभव नहीं है। फ्रेरे शुरू से ही क्रांति और समाजवाद में जनवाद और मानववाद के साथ आगे बढ़ने की जरूरत पर जोर देते रहे हैं। लेकिन मानुषीकरण के लिए सामाजिक रूपांतरण और उसके लिए विवेकीकरण की जो प्रक्रिया वे शैक्षिक कर्म के लिए अपरिहार्य बताते हैं, वह उन्हें उत्पीड़नकारी पूंजीवादी व्यवस्था के पक्ष में हरगिज नहीं जाने दे सकती है । उनका शिक्षाशास्त्र कोई ऐसा निर्जीव हथियार नहीं कि उसे जो चाहे इस्तेमाल कर ले।

वर्तमान परिस्थितियों पर दृष्टिपात करें तो साफ देखा जा सकता है कि आज के भारतीय संदर्भ में इसकी जरूरत और उपयोगिता पहले से भी कहीं ज्यादा बढ़ गई है। यह तथ्य उत्तरोत्तर अधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि भारतीय जनता की मुक्ति केवल राजनीति से नहीं होगी, मुक्ति की राजनीति में नैतिक और सांस्कृतिक आयाम जोड़ने ही होंगे। इसके लिए फ्रेरे द्वारा संकल्पित मुक्तिदायी शिक्षा अनिवार्य होगी ।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि फ्रेरे भारतीय परिस्थितियों में पूरी तरह प्रासंगिक हैं, यह निष्कर्ष अव्यावहारिक होगा । लैटिन अमेरिकी समाज ओर भारतीय समाज में अनेक बुनियादी असमानताएँ हैं। वहाँ के अधिकांश देशों में सैनिक तानाशाही है और वे संयुक्त राज्य अमेरिका पर पूरी तरह आश्रित हैं। दूसरी तरफ भारतीय समाज एक सीमा तक लोकतांत्रिक वातावरण में जी रहा है। यहाँ के शासक वर्ग को पूर्ण दलाल भी नही कहा जा सकता। पिछले पचास-साठ वर्ष में यहाँ के शासक वर्ग ने पर्याप्त युक्ति-कौशल अर्जित किया है। इसके अतिरिक्त, यहाँ की सामाजिक समस्याएँ वहाँ से किन्हीं अर्थो में भिन्न हैं। यहाँ जितनी वर्ण तथा भौगोलिक विषमताएँ हैं, वहाँ वैसी स्थिति नही है। यद्यपि घेरेबन्द समाज यहाँ हैं परन्तु उनका सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता ।

भारतीय समाज में अनेक संस्कृतियों का सम्मिश्रण है। यह सांस्कृतिक बहुलता इसे एक विशिष्ट सांस्कृतिक स्वरूप प्रदान करती है। भाषाई, क्षेत्रीय व

जातीय साम्प्रदायिक भेद तथा राजनीतिक विचारधाराओं की प्रचुरता भी इसे अन्य समाजों से अलग करती है। पाओलो का मानना है कि शैक्षिक कर्म करने के लिए उस समुदाय की संस्कृति और संवेदना को महसूस करना परमावश्यक है। वे कहते हैं-

"संस्कृति की आत्मा को पहचाने बिना तथा संस्कृति की भावना और संवेदना का अनुभव किए बिना किसी भी समुदाय के साथ काम करना संभव नहीं है। हम इनकी संस्कृति में हस्तक्षेप करना नहीं चाहते, इसलिए संस्कृति की आत्मा को जाने बिना, हम केवल संस्कृति को रौंदने का ही काम कर सकते हैं।"[1]

यह बात सच है कि राष्ट्रीय स्तर पर जो शिक्षा-पद्धति अपनाई गई है, वह कमो-बेश पश्चिमी मूल्य-व्यवस्था को सामने रखकर अपनाई गई है। निःसन्देह समाज का अन्तिम व्यक्ति इससे बिल्कुल कटा हुआ है। अतः फ्रेरे अन्तिम व्यक्ति को मुक्त कराने की दिशा में प्रासंगिक अवश्य हैं, परन्तु उनके शिक्षा-दर्शन को भारतीय परिस्थितियों के संदर्भ में ढालना होगा। गांधी जी का यह कथन आज भी प्रासंगिक है -"शिक्षा को इस प्रकार से क्रांतिकारी बनाया जाये जिससे कि वह निर्धनतम ग्रामीण की जरूरतों का जवाब बन सके, बजाय इसके कि वह केवल साम्राज्यवादी शोषकों की ही जरूरतों की पूर्ति करे।" यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि पिछले बीस-पच्चीस वर्षो में पाओलो फ्रेरे का नाम तो लगातार फैलता रहा है, पर उनके चिंतन को समझने वालों की संख्या विशेष नहीं बढ़ी है । प्रथमतः तो फ्रेरे के कृतित्व की भाषा और शैली ही काफी कठिन है, फिर एक अन्य समस्या उनके चिंतन की 'सम्पूर्णता' है जो फ्रेरे का नाम जपने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देती है। कहने को फ्रेरे एक शिक्षा चिन्तक हैं, पर उनके शिक्षाशास्त्र और शिक्षणशास्त्र को उनके समाजदर्शन से अलग करके देखना एकदम व्यर्थ है वैसे भी फ्रेरे के शैक्षिक-दर्शन और उनके द्वारा आजमाई गई शिक्षण विधियों में निहित पूर्वधारणाएं वर्तमान समय की तीन बड़ी चिंतनधाराओं से जुड़ी हुई हैं जिनका फलक शिक्षणकर्म से कहीं अधिक व्यापक है। ये धाराएं है

मार्क्सवाद, मनोविश्लेषण और अस्तित्ववाद। इन तीनों से विचार बिन्दु लेकर और अपनी मानववादी नजर और ठोस अनुभवों से उपजी समझ जोड़कर फ्रेरे ने आज की दुनिया के संकट और उसके संदर्भ में शिक्षा की भूमिका को चित्रित किया है।

फ्रेरे की दृष्टि से देखें तो आधुनिक दुनिया की विभिषिका का रहस्य विषमता में छिपा है। विषमता का प्रकट रूप गरीबी के रूप में दिखाई देता है जो सदा से करूणा और दया जगाती आई है। पारंम्परिक समाजदार्शनिक उसकी जड़ें कभी नियति में तलाशते हैं तो कभी अज्ञान और अकर्मण्यता में। फ्रेरे का शिक्षा दर्शन बतलाता है कि समस्या को 'गरीबी' कहना ही एक गलत प्रस्थान बिन्दु है। गरीबी उत्पीड़न का वह सुविधाजनक और भ्रामक नाम है जिसे लेकर संम्पन्न मनुष्य अपनी भूमिका से मानसिक तौर पर बरी हो रहता है। उत्पीड़ित को गरीब बताकर वह अपनी स्थिति और हैसियत को वैध ठहराने में समर्थ होता है। यह आत्मलीनता उत्पीड़न की संरचना को बनाए रखने के लिए अनिवार्य है।

आज की दुनिया में शिक्षा की भूमिका संपन्न या उत्पीड़क वर्ग के आत्मलीन जीवनदर्शन का प्रचार और दलितों में आत्महीनता का प्रसार करने में निहित है। फ्रेरे का यह विश्लेषण उन तमाम समाज वैज्ञानिकों, विशेषकर समाजशास्त्रियों पर काफी तेज प्रहार है जो शिक्षा को बहुत सरलीकृत रूप में देखते रहे हैं और उसे सामाजिक परिवर्तन का अनिवार्य साधन बताते आए हैं। हमारे देश में शिक्षा की ऐसी भोथरी व्याख्या बहुत लोकप्रिय है। फ्रेरे का शैक्षिक चिन्तन इस व्याख्या को चुनौती देगा और शिक्षा के राजनीतिक संदर्भ के प्रति जागरूकता पैदा करेगा, ऐसी आशा की जा सकती है। जो लोग इस जागरूकता के अगले चरण के तौर पर शिक्षा को सच्चे सामाजिक परिवर्तन का साधन बनाने के रास्ते ढूँढना चाहेंगे, उन्हें भी फ्रेरे का शिक्षा दर्शन बहुत सहायक सिद्ध होगा। क्योंकि फ्रेरे का चिन्तन केवल समझने की चुनौती नहीं, चीजों को बदलने की तैयारी के बारे में भी है।

फ्रेरे शिक्षा को सामाजिक संघर्ष की वृहत्तर परिधि में रखने की सलाह देते हैं। उनके अनुसार अच्छी शिक्षा किसी सामूहिक एवं संघर्षशील कार्यक्रम के प्रसंग में ही पाई या दी जा सकती है, एकान्त में बैठकर नहीं। साक्षरता के संदर्भ में फ्रेरे के शिक्षा दर्शन का एक तकनीकी पक्ष भी है, लेकिन वह तकनीकी पक्ष सामाजिक आंदोलन वाले पक्ष की तुलना में काफी गौण है। यह भी सच है कि आंदोलन वाले पहलू की अवहेलना करने वाले सरकारी और गैरसरकारी कार्यक्रम प्रायः तकनीकी पक्ष पर अपना पूरा ध्यान और प्रयास केन्द्रित करके फ्रेरे के शिक्षादर्शन का विकृत और भ्रामक रूप प्रचारित करते रहे हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि ऐसे कार्यक्रमों में कोई जोखिम नही होता, न ही लंबे समय तक चल सकने वाला जिम्मेदारी का भाव रहता है । ऐसे कार्यक्रम अंततः साक्षरता और शिक्षण को उत्पीड़न पर आधारित समाजतंत्र के पोषण का जरिया बनाकर छोड़ते हैं। सहायता या अनुष्ठान के द्वारा चलने वाले स्वयं-सेवी संगठन हों अथवा संवेदनहीन नौकरशाही तंत्र, एक अनुष्ठान की भांति ही प्रौढ़ शिक्षा जैसे कार्यक्रम चलाते हैं ? जिनके लिए ये काम करते हैं उनकी दशाओं में कोई परिवर्तन नही दीख पड़ता है, हाँ, इनके स्वयं सेवकों तथा साहबों की जेबें अवश्य भरती जा रही हैं।

दुनिया के कई देशों में, जिनमें भारत भी शामिल है, फ्रेरे के चिंतन का दुरुपयोग काफी बड़े पैमाने पर हुआ है। फ्रेरे का अपना जीवन हमें इस दुरुपयोग की पहचान कराने के लिए पर्याप्त हैं । अपने शैक्षणिक काम के लिए जेल और निर्वासन की सजा भुगतने वाले आदमी के रूप में फ्रेरे शिक्षा के विश्व इतिहास में निराले हैं। क्यूबा, निकारागुआ, मोजांबिक और गिनी-बिसाऊ समेत तीसरी दुनिया के अनेक समाजों में फ्रेरे का दर्शन क्रान्तिकर्म की कसौटी पर चढ़ कर निखरता रहा है। उनके दर्शन से सम्बन्धित विचार शैक्षिक विमर्श और कर्म को नई रोशनी प्रदान करेंगे, यह विश्वास लेकर चलने में शोधकर्ता को कोई संकोच नहीं है।

वस्तुतः फ्रेरे की आवाज तीसरी दुनिया की आवाज है जिसके बारे में अकसर कुछ-न-कुछ कहा जाता रहा है, लेकिन जो खुद अपने बारे में यदा कदा ही बोलती है यह आवाज न तो सिर्फ तीसरी दुनिया तक सीमित है, और न ही 'मातृ देशों' की सत्ताओं के लिए है। यह न तो प्रतिनिधित्व की आवाज है, न ही याचना की और न ही प्रतिवाद की। यह तो एक संदेश है, जो कुछ साल पहले लैटिन अमेरीका में फैलना शुरू हुआ था और आज पहली दुनिया के उन इलाकों में भी सुना जा रहा है जो किसी-न-किसी वजह से तीसरी दुनिया से अपनी एकरूपता महसूस करते हैं। इस संदेश की अनुगूँज भी इन इलाकों में मिल जाती है।

जब फ्रांच फेनॉन की धरती के अभागे (दि रेचेड आफ दि अर्थ) पुस्तक सामने आई जो ज्यां-पॉल सार्त्र ने चेतावनी भरे स्वर में कहा था : वह हमसे बात नहीं कर रहा है। सार्त्र ने कहा था कि फेनॉन में तीसरी दुनिया ने अपने को पा लिया है, यह पुस्तक मालिक दुनिया के बारे में नहीं है। फिर भी, उसका मानना था कि मालिक दुनिया यानी यूरोपवासी, यदि अपने अस्तित्व के प्रति सचेत हैं तो वे इस आदमी की बात की उपेक्षा नहीं कर पाएंगे। यही बात फ्रेरे पर भी लागू होती है। फ्रेरे ने इस तीसरी दुनिया के लोगों, उत्पीड़ितों, शोषितों व दलितों तथा हाशिये पर डाल दिये गये मनुष्यों के लिए शिक्षा का एक क्रान्तिकारी दर्शन देते हुए उसे मुक्ति की कार्यवाही के लिए निरन्तर चलने वाली प्रक्रिया घोषित किया ।

वास्तव में फ्रेरे का शिक्षा-दर्शन अनुभव, व्यवहार तथा परिणाम की ठोस जमीन पर खड़ा है। यह कहना बेहतर होगा कि लैटिन अमेरीका में उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्षरत उत्पादक शक्तियों द्वारा उर्वरित मिट्टी से इस शिक्षा-दर्शन का जन्म हुआ। फ्रेरे ने तीसरे विश्व के सीमान्त मानव या उप-मानव की मुक्ति के अंकुर शिक्षा में देखे हैं, यथास्थितिवादी शिक्षा-दायरे में नही, वरन् एक ऐसी शिक्षा-प्रणाली में जो उत्पादक शक्त्तियों तथा उत्पादक-नियंत्रक संस्थाओं के बीच के रिश्तों को संवादात्मक आयाम देगी।

पाओलो फ्रेरे की आवाज में तीसरी दुनिया, अभी भी पहली दुनिया के प्रबंधकों से खुद अपने को संबोधित किए जाने से घृणा करती है। उसके ओर उसके बहुत से साथियों का मानना है कि विरोधियों के बीच कोई संवाद नहीं हो सकता है। लेकिन फ्रेरे, समृद्ध दुनिया के अभी तक खामोश हिस्सों को या कम से कम इन अतिप्रबंधन, अति- उपभोक्तावादी समाजों के जागरूक सदस्यों को एक ऐसे संसार की पुनः खोज के लिए आमंत्रित करते हैं जिसमें कि वे रहते हैं। अपने ही समाज के उत्पीड़ित वर्ग के प्रति वे अपने कर्तव्य के लिए उन्हें इस संवाद में शामिल होने के लिए आमंत्रित करते हैं। उनका निमंत्रण नक्कारखाने की तूती साबित नहीं हुआ, यह उस समय साफ हो गया जब 1969 में पाओलो फ्रेरे ने संयुक्त राज्य अमेरीका की संक्षिप्त यात्रा की और वहां छात्रों ने और दूसरे अल्पमत हिस्सों ने उनका गर्मजोशी से स्वागत किया। विकास और सामाजिक परिवर्तन अध्ययन केन्द्र जिसने कई दूसरों के सहयोग से इस यात्रा को मुमकिन बनाया था, वे इस बात के कायल थे कि पाओलो फ्रेरे की अमरीकी यथार्थ के साथ मुठभेड़ और जमीन से जुड़े आंदोलनों के कार्यकर्ताओं का उनके व्यक्तित्व और विचारों के साथ संपर्क का असर बहुत ही लाभप्रद साबित होगा। उनका यह सोचना गलत नही था।

फ्रेरे के शिक्षा दर्शन पर आधारित शैक्षिक व्यवस्था उत्पीड़ितों, चाहे वे व्यक्ति हों या समस्त जनता, के लिये ऊपर से निर्मित न होकर, उन्हीं के सहयोग और प्रयासों से निर्मित होगी। फ्रेरे के दर्शन पर आधारित शैक्षिक व्यवस्था में उत्पीड़न और उसके कारणों को उत्पीड़ितों द्वारा विचार के जरिए अपनी मुक्ति के लिए किए जाने वाले संघर्ष में उनकी संलग्नता व सहभागिता पूर्णरूपेण सुनिश्चित होगी। परन्तु यह कैसे संभव है? फ्रेरे के चिन्तन से इस प्रश्न का उत्तर भी सहज ही मिलता है। उत्पीड़कों के शिक्षाशास्त्र के प्रत्युत्तर में फ्रेरे उत्पीड़ितों के जिस शिक्षाशास्त्र को सुझाते हैं, वही लागू होना ही इसका समाधान है।

केन्द्रीय समस्या यह है : उत्पीड़ित लोग, जो विभाजित हैं और अप्रामाणिक अस्तित्व वाले मनुष्य हैं, अपनी मुक्ति के शिक्षाशास्त्र के विकास में किस प्रकार सहभागी हो सकते हैं ? उनका मुक्तिदायी शिक्षाशास्त्र उन्हें उत्पीड़न से मुक्ति दिलाने वाली दाई है, जिसके काम में वे तभी अपना योगदान कर सकते हैं, जब वे स्वयं को उत्पीड़क के मेजबान के रूप में पहचानें। जब तक वे उस द्वैत में पड़े रहेंगे, जिसमें 'होना' तो होता है 'होने जैसा', और होने जैसा होता है उत्पीड़क होने जैसा, तब तक उनका यह योगदान असंभव है। उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र उनकी इस आलोचनात्मक खोज का औजार है कि वे और उनके उत्पीड़क दोनों ही अमानुषीकरण की अभिव्यक्ति हैं।

पिछले कुछ वर्षों से देश के नीति-निर्माता तथा गैर-नीति-निर्माता क्षेत्रों से जिन मुद्दों पर तीखी बहस चल रही है, उनमें, ''राष्ट्रीय प्रौढ़ शिक्षा कार्यक्रम'' तथा 'समन्वित ग्रामीण विकास योजना'' वर्तमान परिस्थितियों के संदर्भ में विशेष महत्वपूर्ण हैं। दोनों कार्यक्रमों का सम्बन्ध देश की लगभग 80 प्रतिशत जिन्दगियों की ''बेहतरी'' से जुड़ा है। दोनों में यही ''बुनियादी अन्तर-सम्बन्धता''है। सन् 1967 के बाद के राजनीतिक एवं प्रशासनिक नीतिनिर्माताओं द्वारा विभिन्न नामों से कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं जैसे - भूदान, ग्रामदान, सामुदायिक विकास योजना, सहकारिता आन्दोलन, हरित-क्रान्ति, बन्धक - श्रमिक प्रथा उन्मूलन, कृषक-श्रमिक साक्षरता अभियान, बुनियादी शिक्षा, आदि। परन्तु ''कुछ बात बनी नही'' जैसे नतीजे सामने आये। समग्र क्रान्ति के पश्चात के राजनीतिक नेतृत्व वर्ग ने इन कार्यक्रमों से 'कुछ बात बने'' जैसी एक नयी आजमाइश शुरू की। प्रौढ़ शिक्षा का आधारभूत कार्यक्षेत्र ग्रामीण भारत है, उसे ग्रामीण विकास का वाहक स्वीकार किया गया। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए 2 अक्टूबर 1978 को राष्ट्रीय स्तर पर प्रौढ़ शिक्षा अभियान शुरू किया गया, जिसके अन्तर्गत 1984 तक 10 करोड़ व्यक्तियों को साक्षर बनाने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। इस समूचे कार्यक्रम को लागू करने के लिए 30 हजार

प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र खोलना तथा लगभग ढाई अरब रुपये व्यय किया जाना तय किया था।

अब सवाल उठता है कि प्रौढ़ शिक्षा का मकसद सिर्फ व्यक्ति (वह ग्रामीण या अर्ध शहरी या शहरी भारत का हो) को साक्षर बनाना है या ऐसी प्रक्रिया में निर्णायक भूमिका निभाने के लिए शिक्षित करना है, जो समान उत्पादन सम्बन्धों पर आधारित व्यवस्था स्थापित करने के लिए शुरू की जाती है। वास्तव में कोई भी शिक्षा प्रणाली एक स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं है। समाज में व्याप्त उत्पादक शक्तियों, उत्पादन नियंत्रण एवं उत्पादन संबंध निर्धारण संस्थाओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के सांस्थानिक स्वरूप से शिक्षा-दर्शन प्रभावित होता है। अतः प्रत्येक समाज व्यवस्था का अपना एक निश्चित शिक्षा तंत्र होता है। परन्तु जब शिक्षा को एक स्वतंत्र इकाई (उत्पादन सम्बन्ध प्रक्रिया से अप्रभावित) के रूप में स्वीकार किया जाता है, तो निश्चित ही वह ''शिक्षित इन्सान'' के स्थान पर सिर्फ ''साक्षर इन्सान'' पैदा करती है। यह साक्षर इन्सान आगे चलकर शासक वर्ग की जरूरत का ''ईंधन'' बनता है, जिसे दफ्तर की भट्टियों में भी झोंका जाता है और साक्षर उत्पादन मशीनों (विद्यालय) में भी ईंधन का अम्बार लगता रहता है। परन्तु यह ईंधन समाज के उत्पादन सम्बन्धों अथवा व्यवस्था में परिवर्तन लाने के लिए बेकार सिद्ध होता है- किसी भी सृजन के लिए मृत । यह मृतावस्था जन्म देती है उत्पीड़न की संस्कृति तथा खामोशी की संस्कृति को। फ्रेरे के मत में आज समूचा तीसरा विश्व इस खामोशी की संस्कृति की गिरफ्त में हैं।

वास्तव में तीसरे विश्व की यह विडम्बना रही है कि वहां के शासक वर्ग ने हमेशा शिक्षा के सवाल पर सतही एवं स्थूल दृष्टि से सोचा है। इस तीसरे विश्व की श्रेणी में वे देश शामिल नहीं है, जहां की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक व्यवस्थाओं में आधारभूत परिवर्तन लाया जा चुका है और उत्पादन सम्बन्धों के स्वरूप निर्धारण का कार्य उत्पादक शक्तियों के हाथों में है।

शिक्षा के मसले का इस हद तक सामान्यीकरण किया गया है कि वह केवल साक्षरों की संख्या में वृद्धि के लक्ष्य तक सीमित हो गया है। संक्षेप में अब तक 'लक्ष्य प्रणाली' की नीति अपनायी गयी है। यदि कुछ आगे बढ़े तो सामुदायिक विकास योजना या उन्नत कृषि शिक्षा तक प्रयास सीमित रह गया। स्पष्ट शब्दों में कहा जाये तो, शिक्षा के सवाल को जान बूझकर समूची समाज व्यवस्था से काटकर देखा गया है दशकों पूर्व गांधी जी ने भी यह स्पष्ट रूप से कहा था कि शिक्षा के मसले को एकांगी दृष्टिकोण से नहीं देखा जा सकता, उसमें राजनीतिक चेतना के तत्व अवश्य होने चाहिए।[2]

यद्यपि कुछ देशों में शिक्षा को सामाजिक शक्तियों के दायरे से बाहर रखने की नीति को त्यागा गया है, ब्राजील, क्यूबा और चिली में भी इस प्रकार की शिक्षा नीति पर अमल किया गया था। परन्तु सैनिक तानाशाही सरकारों[3] (ब्राजील में अप्रैल 1964 और चिली में सितम्बर 1973) के स्थापित होने के बाद उत्पीड़ित वर्ग के हितों से जुड़ी नयी शिक्षा पद्धति समाप्त कर दी गयी । अब पुनः शिक्षा को मानव की स्वतन्त्रता की दिशा में निरन्तर प्रयास के रूप में स्वीकार किया जा रहा है निश्चित ही तीसरे विश्व में शिक्षा को एक नया आयाम देने का श्रेय पालो फ्रेरे को दिया जा सकता है। अतः तीसरे विश्व, विशेषतः भारत, की उन विशिष्टताओं पर सरसरी दृष्टि प्रासंगिक होगी, जिनके परिप्रेक्ष्य में फ्रेरे के क्रान्तिकारी शिक्षा दर्शन की की चर्चा की जायेगी।

विशिष्टताएँ :

तीसरे विश्व के राजनीतिक, प्रशासनिक और बौद्धिक नेतृत्व वर्ग ने जहाँ नियोजित ढंग से शिक्षा का अति सामान्यीकरण किया, वहीं सम्बन्धित देशों की वस्तुस्थितिजन्य विशिष्टताओं को भी अनदेखा किया गया। नतीजा यह हुआ है कि तीसरा विश्व उपनिवेशवादी एवं साम्राज्यवादी शिक्षा की खपत मण्डी बन गया। दूसरी ओर समूचा नेतृत्व स्वयं मानसिक रूप से कभी मुक्त नहीं हो सका। इसलिए वह

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दलाल की भूमिका निभाता रहा। स्थिति यहां तक पहुँच गयी है कि उसने पश्चिम के मूल्यों की स्वस्थ प्रतिकृति के स्थान पर उसकी विद्रूप अनुकृति को अपने जीवन आदर्श के रूप में स्वीकार किया। इस विद्रूप अनुकृति का ''कैंसरी प्रभाव'' शिक्षा पर पड़ा। शासक वर्ग और जनता के बीच खाई बढ़ती चली गयी। राजनीतिक वर्ग की कथित लोकतांत्रिक एवं समाजवादी नीतियों के बावजूद, रजनी कोठारी[4] के शब्दों में आज शिक्षा हमारे समाज में सुविधावादी वर्ग का आधार तथा उच्च शिक्षा शोषण का हथियार एवं विषमताओं की जननी बनी हुई है।

कमोबेश यही स्थिति भूतपूर्व औपनिवेशिक देशों तथा लैटिन अमेरिका के अधिनायकवादी देशों में भी व्याप्त है। यद्यपि सम्बन्धित देशों की शिखर सत्ता संस्थाओं (कार्यपालिका, विधायिका, न्यायपालिका) के स्वरूप का आधुनिकीकरण अवश्य किया गया है, परन्तु उनके संचालक तत्वों के चरित्र में कोई बुनियादी तब्दीली नहीं आयी है। शिखर सत्ता प्रतिष्ठान तथा ग्रामीण समाज व्यवस्था में इतना व्यापक अन्तर है कि एक ही देश में दो स्वतंत्र प्रभुता सम्पन्न सत्ताएं दिखाई देती है। भारत में यह स्थिति 200 वर्षो से भी अधिक समय से व्याप्त है।[5] ग्रामीण भारत के कृषि सम्बन्धों में परिवर्तन लाने के मार्ग में यह संस्थानिक अन्तराल[6] एक प्रमुख बाधा रहा है। ग्रामीण भारत की सामंती व्यवस्था केन्द्रीय सरकार के सत्ता प्रतिष्ठान को आज भी स्वीकार नहीं करती। इस वस्तुस्थिति की पृष्ठभूमि में जो विशिष्टताएं उभरती हैं, उनमें प्रमुख हैं -

1. उत्पीड़ित एवं उत्पादक वर्ग का सत्ता तन्त्र से मानसिक, आर्थिक और राजनीतिक अलगाव रहा। परिणामतः असंवाद की स्थिति बनी रही।

2. परम्परागत उत्पीड़ित वर्ग में विवेचना और प्रतिरोधात्मक शक्ति का अभाव परिलक्षित होता है।[7]

3. संरचना में व्याप्त विकासात्मक विषमताएँ जैसे (क) अन्तर्विरोधहीन आदिम व्यवस्था, (ख) सांक्रांतिक आदिवासी समाज, (अन्तर्विरोधयुक्त), (ग) कृषक समाज, (घ) सांक्रांतिक कृषक समाज तथा (च) औद्योगिक समाज।

4. आर्थिक एवं राजनीतिक सत्ता के निर्माण में वर्ण के साथ साथ वर्ग की पूरक भूमिका। वर्ण मानसिकता एवं वर्ग मानसिकता एक निर्णायक सीमा तक परस्पर पूरक हैं।[8]

5. उत्पादन के साधनों में परिवर्तन के बावजूद सामाजिक स्तर पर उत्पादन संबंधों में परिवर्तन का अभाव है।

6. नियंत्रक या व्यवस्थापक संस्थाओं के ऊपरी एवं आंतरिक ढांचे में बुनियादी विसंगतियां बनी हुयी हैं।

7. मानसिक एवं सांस्कृतिक व्यवहार की दृष्टि से सांमतवादी एवं उपनिवेशवादी नेतृत्व ही दीख पड़ता है।

8. आर्थिक एवं राजनीतिक नीति-निर्माण के क्षेत्र में स्वतंत्रता का अभाव है। फलस्वरूप आर्थिक साम्राज्यवाद एवं नवउपनिवेशवाद का व्यापक उत्पीड़न बढ़ता जा रहा है।

9. उत्पीड़न के उप-फल विशिष्ट वर्गीय संस्कृति (शिक्षा संहिता) का व्यापक प्रभाव।

10. संगठन की दृष्टि से संगठित एवं असंगठित उत्पादक शक्तियां।

प्रासंगिकता -

भारतीय समाज की उपर्युक्त विशिष्टताओं के परिप्रेक्ष्य में शिक्षा के क्षेत्र में फ्रेरे दर्शन की प्रासंगिकता को अग्रलिखित रूप में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

भारतीय सन्दर्भ में बैंकिंग शिक्षा प्रणाली के प्रभाव आज व्यापक स्तर पर दिखायी देते हैं। इन प्रभावों के शिकार विशेष रूप से परम्परागत उत्पीड़ित वर्ग एवं वर्ण (आदिवासी और हरिजन) हुए हैं। 1976-1977 में बस्तर के आदिवासियों में आधुनिक शिक्षा के अध्ययन[9] के दौरान पाया गया कि प्रशासक से लेकर सवर्ण अध्यापक तक प्रायः इस विश्वास के थे कि यह जाहिल, काहिल, जंगली जाति (आदिवासी) कभी सभ्य नहीं बन सकती। इनकी शिक्षा पर सरकार जो खर्च कर रही है, वह सब व्यर्थ है, क्योंकि आदिवासी अपनी जंगली व्यवस्था से बाहर आना ही नहीं चाहते हैं। स्पष्ट शब्दों में, आधुनिक सभ्यता के प्रतिनिधि उन्हें निम्न कोटि का इन्सान मानते थे। परन्तु यह मानने को तैयार नहीं थे कि जो कुछ आदिवासियों को पहले से पढ़ाया जा रहा है, अप्रासंगिक है। राष्ट्रीय मुख्यधारा में विलय के नाम पर छात्रावासों में रामायण और हनुमान चालीसा का पाठ अबोध आदिवासी छात्रों पर लाद दिया गया था, जो कि उनके लिए सर्वथा अप्रासंगिक था और उनकी परिस्थितिजन्य वास्तविकताओं से कतई मेल नहीं खाता था। गौरतलब है कि बस्तर के गोंड़, मुरिया, हलबा, भरता आदि आदिवासियों की एक समृद्ध परम्परा है और शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष (1876 और 1910) का एक गौरवपूर्ण इतिहास है।[10] परन्तु वर्तमान पीढ़ी को उससे अनभिज्ञ रखा जा रहा है।

यहीं एक और अनुभव सामने आया। बस्तर की दन्तेवाड़ा तहसील की यात्रा के दौरान देखा गया कि सरकार पौष्टिक आहार कार्यक्रम गांवों में चला रही है । एक परिवार में करीब 70-80 आदिवासी स्त्री-पुरुष जमा हैं। उनके सामने खड़े हैदराबाद, बम्बई और भोपाल से आये पौष्टिक आहार के विशेषज्ञ मसालादोसा, इडली, आमलेट और इसी किस्म की अजनबी पौष्टिक वस्तुओं को स्टोव पर फ्राइपेन में बनाने की विधि समझा रहे हैं। प्रायः आदिवासी स्थितप्रज्ञ बन पथराई आंखों से स्टोव को देख रहे थे। सब कुछ उनके लिए अच्छा खासा मनोरंजन था। यदि उन्हें

महुआ या अन्य स्थानीय उपलब्ध वन-उत्पादों से पौष्टिक आहार तैयार करने की विधि समझायी जाती तो वह अधिक उपयोगी सिद्ध होती ।

संक्षेप में, सरकारी कार्यक्रमों में सब कुछ पूर्व निर्धारित पाठ्यक्रमों एवं मानदण्डों के अंतर्गत संचालित किया जाता है, जिसका स्थानीय वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता। अध्ययन से जो तथ्य सामने आये उनसे पता चलता है कि आदिवासी क्षेत्रों में शिक्षा प्रसार के मार्ग में अवांछित पर्यावरण (शाला, अध्यापक का व्यवहार, पाठ्यक्रम के संदर्भ में) तथा निर्धनता प्रमुख बाधाएं हैं। इन बाधाओं को दूर करने के सम्बन्ध में जो सुझाव विश्लेषण के बाद सामने आये हैं, उनमें करीब 70 प्रतिशत शिक्षा में बुनियादी सुधार तथा 25 प्रतिशत वांछित पर्यावरण एवं आर्थिक स्थिति ठीक करने के पक्ष में हैं। आदिवासियों के लिए यहाँ शिक्षा में बुनियादी सुधार से अर्थ शिक्षा को उनके जीवन के अनुकूल बनाना है। आज से करीब चार दशक पूर्व प्रसिद्ध मानव-शास्त्री एलविन[11] ने सुझाव दिया था कि इन उत्पीड़ित वन-संतानों की आधुनिक सभ्यता के कथित प्रतिनिधियों से सुरक्षा की दृष्टि से यह आवश्यक है कि शिक्षा एवं शालाओं को आदिवासी संस्कृति, परम्परा तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं के साथ जोड़ा जाय। आज इन स्कूलों में हिन्दू, मुसलमान और ईसाइयों के जो तीज त्यौहार मनाये जाते हैं, उन्हें रोका जाये। संक्षेप में, एलविन के समय में सवर्ण शिक्षक आदिवासियों को 'बर्बर' और स्वयं को 'सभ्य एवं उच्च' मानते थे, आज भी गैर आदिवासी शिक्षक का मूल निवासियों के प्रति वही तिरस्कार का रवैया है। वास्तव में पूर्व ब्रिटिश काल, ब्रिटिश काल तथा स्वतंत्रता काल के दौरान शिक्षा तथा समाज में मौजूद सत्ताधारी वर्ण एवं वर्गो के बीच पारस्परिक रिश्तों में कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं आया है। 19 वीं शताब्दी में गुरुकुल, पाठशाला, मदरसा, मकतब आदि हिन्दुओं और मुसलमानों की औलादों की तालीम के केन्द्र रहे थे, और उत्पीड़ित खेतिहर श्रमिक जातियों को उनसे दूर रखा गया था। आज भी वही परम्परा जारी है। ग्रामीण भारत में निर्विवाद रूप से शालाएं सवर्णों की

बस्तियों में खोली जाती हैं, जहाँ हरिजनों के बच्चों का प्रवेश कठिन है। कई गांवों में तो यहाँ तक देखा गया कि शालाएं मन्दिर में चलाई जा रही हैं।

इन सबका निष्कर्ष एक ही निकलता है कि बैंकिंग अवधारणा पर आधारित शिक्षा उत्पीड़ित वर्ण एवं वर्ग के हितों की रक्षा के स्थान पर उत्पीड़क वर्णवादी एवं वर्गवादी व्यवस्था की सुरक्षा के लिए की गयी किलेबन्दियों में सहायक रही है।

फ्रेरे ने 'उत्पीड़ितों का शिक्षाशास्त्र' तथा 'प्रौढ़ साक्षरता-मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई' में इन किलेबन्दियों और उनके प्रभावों का बारीकी से अध्ययन किया है। इस अध्ययन में यह बताया गया है कि तीसरे विश्व, विशेष रूप से लैटिन अमेरिकी देशों में शासित व्यक्ति एक घेरेबन्द समाज में साँस ले रहा है। उत्पीड़क वर्ग ने इन समाजों में सभी इन्सानी रिश्तों का अमानवीकरण कर दिया है। उत्पीड़क वर्ग अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए इन्हें कतरा दर कतरा ज़िन्दा रखता है। इन्हें ज़िन्दा रखने के लिए जिन हथियारों का इस्तेमाल किया जाता है, उनमें से शिक्षा भी एक है।

फ्रेरे सिद्धान्त और उसके व्यावहारिक पक्ष की बारीकी से चर्चा करते हैं और यह बतलाते हैं कि बैकिंग शिक्षा के स्थान पर एक गतिशील, सकारात्मक, रचनात्मक शिक्षा किस प्रकार अपनायी जाये, उसके अनुभव जन्य व्यावहारिक पक्ष क्या क्या हैं और उनके माध्यम से उत्पीड़ित वर्ग की खामोशी की संस्कृति कैसे तोड़ी जा सकती है। अतः तीसरे विश्व के संदर्भ में खामोशी की संस्कृति की क्या भूमिका है, इस पर यहाँ चर्चा प्रासंगिक होगी ।

फ्रेरे का निष्कर्ष है कि क्यूबा को छोड़ कर समस्त अमेरिकी देश 'खामोशी की संस्कृति' से ग्रस्त हैं। वे मानते हैं कि इन देशों में खामोशी की संस्कृति ने उस समय से जन्म लिया है, जब स्पेन और पुर्तगाल ने इन पर विजय प्राप्त की थी। क्रांति पश्चात के क्यूबा के अपवाद को छोड़कर ये देश (लैटिन अमेरिकी देश) आज तक घेरेबन्द समाज के पर्याय बने हुए हैं। ये पराधीन समाज हैं और इन पराधीन

समाजों के लिए विभिन्न ऐतिहासिक क्षणों में (पुर्तगाल, स्पेन इंग्लैण्ड या संयुक्त राज्य) सिर्फ निर्णय के ध्रुव ही बदले हैं, जिनके लिए वे (पराधीन समाज) वस्तु मात्र हैं। संक्षेप में, नियंत्रण केन्द्रों में परिवर्तन हुआ, परन्तु नियंत्रण बदस्तूर जारी है। ब्राजील के संदर्भ में फ्रेरे कहते हैं कि 1964 के सैनिक विद्रोह के पश्चात् ही से वहाँ की सरकार ने नियंत्रक ध्रुवों के प्रति दासता की नीति अपनायी, जनता पर खामोशी हिंसात्मक ढंग से थोप दी गयी।

'मुक्ति की कार्रवाई' में लैटिन अमेरिका के घेरेबन्द समाज का विश्लेषण करते हुए फ्रेरे कहते हैं कि वहां कठोर श्रेणीबद्ध व्यवस्था है। इस घेरेबन्द व्यवस्था की अर्थ-व्यवस्था बाहरी शक्तियों द्वारा नियंत्रित है। अतः एक स्वतंत्र आंतरिक बाजार का अभाव है, क्योंकि कच्चे माल का दोहन नियंत्रक केन्द्रों द्वारा कर लिया जाता है। कहीं कोई आवाज नहीं होती । शोषण की यह प्रक्रिया एक विशिष्ट प्रकार की शिक्षा व्यवस्था (जिसके अन्तर्गत विद्यालय यथास्थिति बनाये रखने के हथियार हैं) के माध्यम से जारी है। आज ये घेरेबन्द समाज व्यापक निरक्षरता, बीमारियों, कुपोषण, शिशुओं की बढ़ती मृत्युदर, बढ़ते अपराध आदि से ग्रस्त हैं, क्योंकि ये समाज खामोशी की संस्कृति की कठोर गिरफ्त में है।

वास्तव में नियंत्रक समाज यह मानकर चलते हैं कि "तीसरा विश्व बुराई का अवतार, आदिम, राक्षस, पापी, काहिल कुल मिलाकर निदेशक समाज के बगैर ऐतिहासिक दृष्टि से अर्थहीन है।" अतः प्रथम विश्व के देश अपने मापदण्डों के अनुसार तीसरे विश्व, उसके शासक वर्ग तथा शासित जनता को नियन्त्रित मूल्य व्यवस्था के तहत गढ़ते हैं, जिससे कि वे (तीसरा विश्व) सिर्फ, वस्तु बने रहें। फलतः तीसरे विश्व के शासक अपने निदेशक समाजों (प्रथम विश्व) के मापदण्डों को भोंडे ढ़ंग से अपनाते हैं और एक दास- मानसिकता को शेष जनता पर लाद देते हैं। यह दास मानसिकता जीवन के प्रत्येक क्षेत्र (आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक) को खोखला एवं निर्जीव बनाती चली जाती है। इसका नतीजा यह निकला है कि शासित

जनता पूरी तरह से शासक वर्ग द्वारा गढ़ी मानसिकता को वास्तविकता समझने लगती है। वह शासक वर्ग की संस्कृति में विलीन हो जाती है। उसके पास स्वयं की विवेचनात्मक चेतना और स्वतंत्र बोध का अभाव होता है। अपने इस पराश्रित बोध के कारण शासित वर्ग यह नहीं जान पाता कि शासित एवं शासक के मध्य मौजूद अन्तर्विरोधों (यहां अन्तर्विरोधों से तात्पर्य दो विपरीत सामाजिक शक्तियों के मध्य व्याप्त द्वंद्वात्मक संघर्ष से है) के 'समाधान से ही एक नये मानव का जन्म होगा।'

फ्रेरे का यहां तक कहना है कि तीसरे विश्व के देशों में जो लोकप्रिय राजनीतिक आंदोलन होते हैं, यद्यपि एक तरफ उनसे जनता में पैदा होने वाली चेतना का पता लगता है, परन्तु सूक्ष्म स्तर पर देखने से यह भी तथ्य सामने आता है कि लोगों की आदत निर्देशित होने की बना दी गयी है। ब्राजील तथा अन्य लैटिन अमेरिकी देशों में लोकप्रियता के नाम पर विशिष्ट वर्ग ने संरक्षात्मक राजनीतिक नेतृत्व दिया है, जो सिर्फ जीवन के ही स्वामी नहीं बल्कि एक मूक और आज्ञाकारी जन-समूह भी उनके अधीन है। इस तरह के राजनीतिक नेतृत्व का चरित्र जोड़तोड़ वाला होता है और इस जोड़-तोड़ की राजनीति के बल पर समाज में लोकप्रियता एवं जनतन्त्र का मिथक पैदा किया जाता है। शातिर ढ़ंग से स्वतंत्र जनचेतना का अपहरण कर लिया जाता है। इस संदर्भ में फ्रेरे का ब्राजील के एक नेता के सम्बन्ध में दिया गया उदाहरण प्रस्तुत है। चुनाव के दौरान ब्राजील में एक उम्मीदवार की प्रतिमा सार्वजनिक स्थान पर लगायी गयी। चार तीरों के माध्यम से उसके सिर, आंख, मुंह और हाथों की ओर संकेत किया गया था। प्रतिमा के नीचे चार पंक्तियों लिखी थीं।

> तुम्हें सोचने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए सोचेगा।
> तुम्हें देखने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए देखेगा।
> तुम्हे बोलने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए बोलेगा।
> तुम्हे कुछ करने की आवश्यकता नहीं, वह तुम्हारे लिए करेगा।

ठीक इसी प्रकार की स्थिति भारत में भी देखने को मिलती है । आपात काल में नारा दिया गया था ''इन्दिरा भारत है, भारत इन्दिरा है'' नेताओं को मसीहा बनाकर पेश किया जाता है। चाटुकारिता, स्वार्थपरता तथा व्यक्ति पूजा का आलम यह है कि नेता को देवी-देवता बनाकर उसकी प्रशंसा में चालीसा रची जाती है। बुद्धिजीवी, लेखकों व साहित्यकारों को सरकारी अंलकरण प्रदान कर, ओहदे प्रदान कर मानसिक रूप से गुलाम बना लिया जाता है और वे व्यवस्था की तारीफ में भाटों व चारणों को भी लज्जित करने वाले राग आलापते हैं।

जनता की मुक्ति का सवाल एक व्यक्ति के पतन या उत्थान से जोड़ दिया जाता है। नेता के हारने पर लोग आत्मदाह कर लेते हैं। दिल्ली की सड़कों पर ऐसे पोस्टर देखे जा सकते हैं, जिनमें सार्वजनिक नेताओं को हरिजनों का मसीहा, किसानों का एकमात्र रक्षक, लोकतंत्र का प्रहरी, जनता का नायक, क्रांतिकारी या क्रांतिदूत, गरीबों का रहनुमा, इत्यादि के रूप में प्रस्तुत किया जाता है, यहाँ तक कि कुछ राजनीतिक पार्टियों की पहचान ही कतिपय व्यक्तियों से की जाती है। उपभोक्ता वस्तुओं के विज्ञापन के अंदाज में पार्टियों को जनता का एक मात्र प्रतिनिधि या केवल एक ही सच्ची पार्टी के रूप में पेश किया जाता है, जो कि हद दर्जे का भोंडापन है और विवेचनात्मक मानसिकता से रहित है। कुल मिलाकर शासित समाज की चेतना को एक व्यक्ति में केन्द्रित कर दिया जाता है। वही चेतना उत्पीड़क समाज द्वारा अनुकूलित कर ली जाती है। वह अपनी विवेचना शक्ति खो बैठती है और धीरे धीरे वह एक व्यक्ति जो कि नियंत्रक समाज का होता है, के उत्थान और पतन में अपनी मुक्ति तथा दासता खोजने लगती है। साथ-साथ खामोशी की संस्कृति की बुनियादें और भी मजबूत होती जाती हैं। फिर शासक और शासित के मध्य संवाद के लिए कोई स्थान नहीं रहता। शासित बगैर विभेद विवेक और चुनौती के शासक वर्ग द्वारा लादे हुए हर मूल्य को स्वीकार कर लेता है।

यदि शिखर सत्ता और उसके विभिन्न स्थानीय स्तम्भों द्वारा 'अभिशप्त समाजों' का निर्माण नहीं किया गया होता तो कम से कम बीमारी का नाम और उसके कारण अवश्य सामने आ सकते थे। वास्तव में 'अभिशप्त समाज' मानवीय सम्बन्धों के अमानवीकरण की पराकाष्ठा है। फ्रेरे की भाषा में और जितना अधिक उत्पीड़कों का उत्पीड़ितों पर शिकंजा कसता चला जाता है, उतना ही अधिक वह उन्हें जड़वस्तु में बदलते चले जाते है। उत्पीड़क समाज की मानसिकता इन अभिशप्त समाजों की निर्जीवता में आनन्द का अनुभव करने की बन जाती है। वह उन सभी को पसन्द करती है, जो मृतावस्था में जीते हैं अर्थात् जहाँ अंकुर पौधा और पौधे से वृक्ष नहीं बन सकता है।

भारत में इन्सान की निर्जीवता में आनन्द की अनुभूति भोगने की क्रूरतम घटना जागीरदारों के यहां देखने को मिलती थी। जागीरदार हथियारबंद गुमाश्तों की टुकड़ी रखते थे। इस भौतिक शक्ति का इस्तेमाल 10-12 गांवों की हरिजन खेतिहर श्रमिकों की विशाल आबादी को आंतकित करने, उन्हें अपने शिकंजें में रखने तथा उनसे बेगार लेने में किया जाता था। अव्वल तो किसी भी श्रमिक में बेगार के विरोध का साहस ही नहीं था, यदि किसी ने किया भी तो उसकी लठैतों से पिटाई करवाई जाती थी। पेड़ से बांध कर पीटा जाता। उसे इतना आतंकित कर दिया जाता कि अन्त में उसे गांव से ही भागना पड़ता। आलम यह था कि गांवों में जागीरदार की इजाजत के बगैर दाखिल होना नामुमकिन था। कुल मिलाकर उक्त आतंकग्रस्त गांवों में उनकी एक स्वयंभू सरकार चलती थी। निर्जीवता में आनन्द के इन भक्षको ने इन्सानी बस्तियों को एक कब्रिस्तान बना ड़ाला था, जिसको बौद्धिक भाषा में अभिशप्त समाज या घ़ेरेबंद समाज कहा जाता है। एक संसद सदस्य के यहां तो कहा जाता है कि तालाब में मगरमच्छ पाले गये हैं जिनके सामने विरोध करने वालों को फेंक दिया जाता है।

फ्रेरे के शब्दों में मानसिकता की यह अवस्था निर्जीवता से लगाव (यह मनोविज्ञान का शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है शवकामुकता) है। फ्रेरे मानते हैं कि जो व्यक्ति इस व्यवहार से ग्रस्त है, वह जैव को अजैव में बदलने तथा जीवन को यांत्रिक ढ़ंग से समझने अर्थात् सभी जीवित इन्सान को वस्तु मात्र समझने की इच्छा से संचालित होता है। यदि उसके नियंत्रण में फूल या व्यक्ति भी है, तो वह उनको वस्तु के रूप में देखता है। अतः उसके नियंत्रण या अधिकार को खतरे का अर्थ है, उसे स्वयं को खतरा। यदि वह नियंत्रण खो देता है तो उसका संबंध बाहरी दुनिया से भी कट जाता है। उसको नियंत्रण से प्यार है और नियंत्रण बनाये रखने की कोशिशों में वह जीवन की हत्या करता है। फ्रेरे इसी जड़वादी एवं यांत्रिक मानसिकता को बैकिंग शिक्षा से सम्बद्ध करते हैं। वे मानते हैं 'शिक्षा की बैकिंग अवधारणा' भी जो कि उत्पीड़क के हितों की पोषक है, शवकामी है। चेतना की यांत्रिक गतिहीन प्रकृतिवादी दृष्टि पर आधारित यह बैकिंग शिक्षा विद्यार्थियों को ग्रहण करने वाले पात्र में परिवर्तित करती है। इसकी कोशिश सोचने एवं करने को नियंत्रित करना, इन्सानों को दुनिया के ढ़ांचे में ढ़ालना तथा उसकी सर्जनात्मक ऊर्जा को रोकना है और इस खामोशी की संस्कृति की जकड़न को तोड़ने के लिए एक जीवित शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है, जो कि इन्सानों के बीच रिश्तों को मुखर, संवादात्मक तथा मानवीय बनाती है।

उड़ीसा में कालाहाण्ड़ी[12] के भूमिहीन एवं बंधक श्रमिक, जो कि मुख्यतः हरिजन और आदिवासी हैं, स्वयं को सुखवासी कहलवाने में गर्व महसूस करते हैं, क्योंकि जिले के सम्पत्तिधारी वर्ग ने इन दलितों, उत्पीड़ितों को इसी ढंग से परिभाषित किया है। वास्तविकता यह है कि वे दुःखवासी हैं। परन्तु अपनी वास्तविकता से अपरिचित हैं, वह शासक वर्ग की वास्तविकता में विलीन हो चुकी है। आपातकाल के दौरान अनेक गांवों में यह देखा गया कि अनेक हरिजन एवं

आदिवासी बंधक श्रमिकों ने इसलिए मुक्त होने से इन्कार कर दिया कि जमींदार उनका जीवन ऱक्षक था।

यह स्थिति 'खामोशी की संस्कृति' के दो रूप सामने रखती है प्रथम दैविक भय तथा दूसरा भौतिक भय। प्रथम में शासित वर्ग दैविक भय से ग्रस्त है, जिसका उसके आंतरिक जगत से संबंध है। उस आंतरिक जगत में पुजारी द्वारा प्रतिपादित मूल्य व्यवस्था का शासन है वहीं दूसरी ओर बाह्य जगत में नौकरशाही द्वारा आरोपित व्यवस्था (आतंक या भय) का शासन है। कहीं भी अपने विवेक का प्रयोग करने में वे अक्षम सिद्ध हुए। दोनों अवस्थाओं में शासित वर्ग ने शासक वर्ग की मूल्य व्यवस्था का आभ्यन्तरीकरण किया है। यही 'खामोशी की संस्कृति' राष्ट्रीय स्तर से आरम्भ होकर छोटे से गांव तक फैल गयी है।

राष्ट्रीय श्रम संस्थान के तत्वावधान में आयोजित ग्रामीण शिविरों के दौरान देखा गया कि 'खामोशी की संस्कृति' की जड़ें कितनी व्यापक मजबूत और गहरी हैं। आज भी भारत के पिछड़े क्षेत्रों में जीप या किसी खाकी वर्दीधारी को देखकर लोग डर जाते हैं। इतना ही नहीं हर शहरी पोशाकधारी विशेष रूप से सरकारी कर्मचारी को अन्नदाता, हुजूर, हाकिम, साहब बहादुर, भगवान, देवता, आदि से सम्बोधित किया जाता है। बिहार, मध्य प्रदेश व दक्षिण भारत के अनेक गांवों में आज भी हरिजन एवं आदिवासी सवर्णो के सामने चारपाई या खटोले पर नहीं बैठ सकते, यहां तक कि जूते या साफ वस्त्र पहन कर भी उनके सामने से नहीं निकल सकते। हरिजनों के कुएँ व मन्दिर अलग हैं। हरिजन दूल्हा घोड़ी पर चढ़कर सवर्णों की बस्ती से नही गुजर सकता है। सम्पत्तिधारी सवर्ण ने सम्पत्तिहीन गैर सवर्ण वर्ग के लिए निकृष्ट और तिरस्कारपूर्ण भाषा गढ़ी है। बिना अपवाद के खेतिहर तथा बंधक श्रमिकों के नामों को बिगाड़ दिया जाता है, आम तौर पर उन्हें बुड़वक, हरामखोर, कामचोर, काहिल, जाहिल आदि कहा जाता है। धीरे धीरे सब जड़ हो जाता है। इन्सान के अमानवीकरण की प्रक्रिया आरंभ हो जाती है।

ग्रामीण भारत में प्रायः देखा गया है कि अमानवीकरण की प्रक्रिया के कारण उत्पादन के क्षेत्र में इंसान जानवर से भी कम महत्व रखता है। विभिन्न स्थानों में सर्वेक्षण से जो तथ्य सामने आये हैं, उनके अनुसार एक जमींदार का बैल के रख-रखाव पर जितना खर्च होता है, उससे कहीं सस्ता उसे इन्सान का श्रम पड़ता है। बिहार के अनेक भागों में बैल के मरने पर मातम मनाया जाता है, कफन दिया जाता हैं, क्योंकि बैल उसके लिए लक्ष्मी पात्र (लक्ष्मीपुत्र) होता है, जबकि इन्सान एक मामूली दर की वस्तु। जमींदार जानता है कि उसके बंधक श्रमिक के मर जाने पर उसने कुछ नहीं खोया है, बल्कि बैल के मर जाने पर उसने काफी कुछ खो दिया है। मृत बन्धक श्रमिक के स्थान पर तत्काल दूसरा श्रमिक आ जायेगा और कोई अतिरिक्त मूल्य नहीं देना होगा। परन्तु नया बैल लाने के लिए उसका अधिक मूल्य चुकाना होगा। अतः जमींदार के गणित में जानवर का इन्सान की तुलना में अधिक महत्व है, कारण स्पष्ट है। 'खामोशी की संस्कृति' ने इन्सान को 'प्रतिस्थापनीय वस्तु' में परिवर्तित कर दिया हैं।

निजी पब्लिक स्कूलों व अन्य निजी उच्च शिक्षा संस्थाओं के शिक्षक, कर्मचारी व अभिभावक प्रबन्धकों के शोषण के विरुद्ध एक शब्द बोलने का साहस नहीं कर पाते हैं। कर्मचारी को उत्पीड़न व नौकरी जाने का तथा अभिभावक को बालक का कैरियर खराब होने का डर मूक दर्शक बना देता है। 'खामोशी की संस्कृति' ने उत्पीड़ित इन्सान में भूख के बोध तक को भी निर्जीव बना दिया है। देखा गया है कि गांवों में निर्धन वर्ग जिसमें आम तौर पर हरिजन, बंधक श्रमिक तथा खेतिहर श्रमिक होते हैं, सप्ताह में कम से कम दो दिन भूखे रहते हैं। पूछने पर खेतिहर श्रमिक आसानी से कह देता है 'हाँ', यही कोई दो तीन दिन भूखा रहता हूँ साहब। उसके स्वर में न कोई क्रोध, न कोई शिकायत, न दर्द और न ही किसी विरोध के संकेत ही दूर दूर तक मिलते हैं। वह अपनी भूख को उस प्रकार भी व्यक्त नहीं करता, जिस प्रकार एक शहरी चाय या काफी के न मिलने पर तूफान खड़ा कर

देता है। कारण स्पष्ट हैं, उसके लिए भूख उसके जीवन का एक ऐसा हिस्सा बन चुकी है, जिसे वह अलग नहीं कर सकता। 'खामोशी की संस्कृति' दीमक की तरह उसका सब कुछ जीवित चाट चुकी है वह निस्सहायता, शक्तिहीनता, बोधहीनता और स्पष्ट शब्दों में निर्जीवता में जन्म लेता है, पलता है और उसी में दफन हो जाता है, क्योंकि उत्पीड़क वर्ग खामोशी की संस्कृति को मजबूत और बदस्तूर रखने के लिए बोध विवेक परिवर्तन और सृजन के सभी रास्ते बंद कर देता है। परिणामस्वरूप उत्पीड़ित वर्ग बोधहीनता एवं संवादहीनता के वातावरण में अपनी उत्पादन प्रक्रिया जारी रखने के लिए बाध्य है। इस बाध्यता को वह भाग्य, किस्मत, नियति, ईश्वर इत्यादि माध्यम से व्यक्त करता है। 'होई है वही जो राम रचि राखा' उसके दुखद जीवन का परम सत्य बन जाता है। जहाँ तक भारतीय संदर्भ का प्रश्न है, फ्रेरे का यह विश्लेषण प्रासंगिक है कि उत्पीड़ितों को परिवर्तन की प्रक्रिया में शामिल नहीं किया जाता है। संवाद विरोधी परिवेश में किसान की चेतना विकसित की जाती है। ऐसी स्थिति में उत्पीड़ितों के समक्ष ऐतिहासिक दृष्टि से एक ही विकल्प रह जाता है कि वे मात्र दूसरों को सुने और आज्ञा का पालन करें।

भारत में कठोर वर्णवादी व्यवस्था होने के कारण एक सुदृढ़ श्रेणीबद्ध समाज है, जिसमें संवादहीनता की स्थिति मौजूद है। इस स्थिति को तोड़ने के लिए यह आवश्यक है कि उत्पीड़ित वर्ण और वर्ग के मध्य संवादात्मक शिक्षा आरम्भ की जाये। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि उत्पीड़ित वर्ग में विवेचनात्मक क्षमता पैदा करने की प्रक्रिया ऐसी हो, जिसमें संवाद के माध्यम उनकी दैनिक जिन्दगी से जुड़े हों।

शिक्षा को संवादात्मक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय वस्तुस्थिति का पुख्ता ज्ञान हो। इस वस्तुस्थिति के अन्तर्गत सरंचनात्मक विषमता एवं असंतुलन के विभिन्न पक्ष भी आते है। मोटे तौर पर सामाजिक, आर्थिक, विकासात्मक और भौगोलिक पक्षों को ध्यान में रखना होगा। वस्तुस्थिति के अनुकूल

उसका विशिष्टीकरण करना होगा। उदाहरण के लिए आज पिछड़े क्षेत्रों में आधुनिक सभ्यता पहुँची है, वहां का औद्योगीकरण हुआ, उससे अनेक समस्याएँ पैदा हो गयी हैं। विशेषतः आदिवासी क्षेत्रों (बस्तर, भिलाई, रांची आदि) में औद्योगीकरण ने वहाँ के मूल निवासियों की समृद्ध संस्कृति, आत्मनिर्भर आर्थिक व्यवस्था और विषमताहीन सामाजिक व्यवस्था को तहस नहस कर दिया है। फलस्वरूप, आदिवासी आज एक ऐसे कगार पर खडे हैं जहाँ से न वे आगे जा सकते है और न वापस लौट सकते हैं। आधुनिक सभ्यता उनका सब कुछ छीनती जा रही है और वे विकल्पहीन बनते जा रहे हैं। ऐसी स्थिति से निपटने के लिए विशेष प्रकार की शिक्षा पद्धति की आवश्यकता है । इस संदर्भ में डा0 ब्रह्म देव शर्मा का यह स्पष्ट मत है कि जब तक आदिवासी जैसे पिछड़े क्षेत्रों मे शिक्षा तथा अन्य विकास कार्यो के माध्यम से एक समानान्तर शक्ति पैदा नही की जाती तब तक आदिवासी और अन्य पिछड़े वर्ग तेजी से बढ़ती शक्तिशाली यांत्रिकी व्यवस्था के समक्ष स्वयं को निस्सहाय एवं विकल्पहीन पायेंगे।

इसी प्रकार खेतिहर श्रमिक, बंधक श्रमिक तथा अन्य ग्रामीण निर्धन वर्गो को साक्षर बनाने से पूर्व उनके समूचे जीवन संदर्भ को समझना होगा। क्या कारण है कि हजारों बंधक श्रमिक मुक्ति के बाद वापस बन्धक अवस्था में पहुँच गये, जबकि उन्हें भूमि तथा अन्य कृषि औजार भी दिये गये थे? यहां उन्हें सिर्फ साक्षर बनाने से ही काम पूरा नहीं हो जाता बल्कि उनकी मानसिकता को समझने और अक्षरों के माध्यम से उनमें परिवर्तनवादी दृष्टिकोण पैदा करना नितान्त आवश्यक है। तभी वर्तमान यथार्थ में परिवर्तन लाया जा सकता है। नव-साम्राज्यवादी व नव-अवनिवेशवादी इस दौर में भूमण्डलीकरण, उदारीकरण व निजीकरण की प्रक्रिया जोर शोर से चल रही है। भारतीय सम्प्रभुतासम्पन्न लोकतान्त्रिक समाजवाद अमेरिकी पूँजीवाद की गुलामी करते हुए विश्व बैंक के निर्देशों पर चल रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियां 'राज्य की सत्ता' को हस्तगत करती जा रही हैं। टेलीविजन व इन्टरनेट के

माध्यम से सांस्कृतिक आक्रमण किया जा रहा है। पाश्चात्य संस्कृति व मूल्यों को जन-संचार साधनों के माध्यम से थोपने की कोशिश जारी है। मेकडोनाल्ड, पिज्जा, कोक, पेप्सी तथा ब्रान्डेड उपभोक्ता वस्तुओं की घुसपैठ के साथ-साथ समलैंगिकता, नग्नता विवाहेतर सम्बन्ध तथा स्वछन्दतापूर्ण उन्मुक्त जीवन शैली को भी परोसा जा रहा है। यह केन्द्रीय सत्ता (जैसे अमेरिका) द्वारा परिधिय सत्ता (विकासशील राष्ट्र जैसे भारत) को हजम करने की कोशिशें हैं। राष्ट्र की आवधारणा 'मुक्त बाजार' में परिवर्तित की जा रही है। पराराष्ट्रीय (ट्रांसनेशनल) वृहृताकार कम्पनियां राज्य सत्ता को नियन्त्रित करके उन्हें मनोनुकूल ढ़ालने का कार्य कर रही हैं। वस्तुतः सत्ता व नियन्त्रण की शक्ति परोक्ष रूप से इन्हीं के हाथ में आती जा रही है।

भारत जैसे लोक कल्याणकारी राज्य में शिक्षा, स्वास्थ्य व परिवहन जैसें क्षेत्रों का दायित्व निजी हाथों में सौंपकर उन्हें सेवा कार्यो के स्थान पर 'व्यापार' बनाने की खुली छूट दी जा रही है। लाखों लघु उद्योग बन्द हो चुके हैं। बड़े उद्यमी भी खतरा भांप कर उत्पादन के स्थान पर बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माल के वितरण के काम को अधिक उचित मान इसमें लग गये हैं। फैक्टरियों को बंद करके उन्हीं भवनों में निजी शिक्षण संस्थान खोले जा रहे हैं। कृषि जमीनें फार्म हाऊसों, पॉश कालोनियों, शापिंग मॉलों व मनोरंजन स्थलों में तब्दील हो रही हैं। छोटी जोतों वाले कृषक बरबादी की कगार पर हैं। गांवों से उजड़ते ये किसान शहरों को पलायन कर रहे हैं। किसानों, लघु उद्यमियों, शेयरों के मायाजाल में लुट चुके लोगों, हताश बेरोजगार युवाओं, बंद फैक्ट्रियों के श्रमिकों द्वारा आत्महत्याओं की खबरें आये दिन समाचार पत्रों में पढ़ी जा सकती हैं। छात्रों-कर्मचारियों व श्रमिक आन्दोलनों को बेरहमी से कुचला जाने लगा है। कुंठा, अलगाव व हताशा के इस दौर में 'खामोशी की संस्कृति' के विसरण के सभी साधन पूरे जोर शोर से क्रियाशील हैं। श्रमिकों व किसानों के हितों के संरक्षण का दम भरने वाले वामपंथी दिगूभ्रमित हो मार्ग से भटक गये हैं। सत्ता का लालच उन्हें उत्पीड़न का मूकदर्शक बने रहने या मिथ्या विरोध के लिए बाध्य कर

रहा है। भारतीय संदर्भ में फ्रंसिस्को वेफर्ट के शब्द यथार्थ में देखे जा सकते हैं। वे कहते हैं ''वामपंथियों की समस्त नीतियां जनाधारित और जनचेतना पर निर्भर होती हैं। यदि जनता की चेतना विभ्रमित होगी तो वामपंथ अपनी जड़ों से कट जाएगा और जल्दी ही उसका एक प्रकार का पतन हो जाएगा। भले ही वामपंथ इस भ्रम में पड़ा रहे कि वह जल्दी से सत्ता में आकर क्रांति कर सकता है।''[13]

फ्रेरे इसी बात को आगे बढ़ाते हुये कहते हैं ''चालबाजी की स्थिति में वामपंथ प्रायः हमेशा ही संगठन बनाने के लिए उत्पीड़ितों के साथ मिलकर संघर्ष करने की आवश्यकता को भूल कर, और इस प्रकार प्रभुत्वशाली अभिजनों से एक असंभव संवाद के निरर्थक प्रयास में लग कर जल्दी से सत्ता में आने के लालच में पड़ जाता है। फलस्वरूप वह स्वयं जल्दबाजी या तिकड़म का शिकार हो जाता है और अक्सर उस अभिजनवादी खेल में शामिल होकर रह जाता है, जिसे वह यथार्थवाद कहता है।''[14] वर्षो तक अंग्रजों का गुलाम रहा भारत आज तक अपने पूर्व आकाओं अर्थात उत्पीड़कों की भाषा, चिन्तन व जीवन-शैली से मुक्ति नहीं पा सका है। आज का युवा पाश्चात्य मूल्यों व संस्कृति को अपनाने में स्वयं को गौरवान्वित महसूस करता है। नव-उपनिवेशवादी दलदल में लोक चेतना को डुबोने का हर संभव प्रयास किया जा रहा है। मध्यम वर्ग उच्च वर्ग की जीवन शैली को अपनाने के लिए जी तोड़ कोशिश कर रहा है। भारतीय संदर्भ में फ्रेरे के ये शब्द कितने सटीक हैं।

''अपने अस्तित्वगत अनुभव के किसी खास बिंदु पर उत्पीड़ित लोग उत्पीड़क और उसकी जीवनशैली के प्रति अदम्य आकर्षण भी महसूस करते हैं। उन्हीं के जैसा जीवन जीने की आकांक्षा उन्हें जकड़ लेती है। अपने अलगाव में उत्पीड़ित लोग किसी भी कीमत पर उत्पीड़क जैसे दिखना, उनकी नकल करना और उनका अनुसरण करना चाहते हैं। यह चीज मध्यवर्गीय उत्पीड़ितों में विशेष रूप से पाई जाती है, जो उच्च वर्ग के प्रमुख लोगों के समान बनने के लिए तरसते रहते हैं।''[15]

अल्बर्ट मेम्मी ने उपनिवेशित मानसिकता का विलक्षण विश्लेषण करने वाली पुस्तक "दि कोलोनाइजर एंड दि कोलोनाइज्ड" में उपनिवेशक के प्रति अपनी उस घृणा का स्पष्ट वर्णन किया है, जिसमें उसके प्रति उत्कट आकर्षण भी शामिल था। वे कहते हैं

"उपनिवेशक अपने कामगारों की देखभाल कैसे कर सकता है, जबकि उसे रह रह कर उपनिवेशित लोगों को भी गोलियों से भूनना पड़ता हो? उपनिवेशित कैसे इतनी क्रूरता से स्वयं को नकार सकता है, जबकि वह ऐसी अतिशयोक्तिपूर्ण मांगें भी करता हो? वह उपनिवेशकों से घृणा कैसे कर सकता है, जबकि वह उनकी ऐसी उत्कट प्रशंसा भी करता हो?"[16]

हमारे देश में परलोकवाद व भाग्यवाद की जड़ें बहुत गहरी हैं। उत्पीड़कों द्वारा (जो विभिन्न कालखण्डों में बदलते रहे हैं) इस दर्शन का सदैव पोषण किया गया है चूँकि यह उनकी स्थिति को मजबूत करता है। फ्रेरे के विचार अक्षरशः भारतीय परिस्थितियों पर लागू होते लगते हैं जब वे कहते हैं-

"सतही विश्लेषण करने पर इस भाग्यवाद को कभी कभी ऐसी विनयशीलता के रूप में व्याख्यायित किया जाता है, जिसे राष्ट्रीय चरित्र का लक्षण माना जाता है। विनय के आवरण में छिपा भाग्यवाद एक ऐतिहासिक और समाजशास्त्रीय स्थिति का परिणाम है न कि जनता के व्यवहार की कोई तात्विक विशेषता। इसका संबंध हमेशा ही या तो नियति अथवा दुर्भाग्य से या सौभाग्य की शक्ति से जोड़ा जाता है (जो अपरिहार्य शक्तियां मानी जाती हैं) या ईश्वर विषयक किसी विकृत दृष्टिकोण से। जादू और मिथकों में बह जाने वाले उत्पीड़ित लोग विशेष रूप से किसान, जो प्रकृति में लगभग पूरी तरह डूबे रहते हैं (देखिए मेंडेंस की पुस्तक ममेंटो डि वाइवोस) अपने दुखों को जो शोषण का परिणाम होते हैं ईश्वर की इच्छा के रूप में देखते हैं, मानों यह संगठित अव्यवस्था ईश्वर की ही रचना हो।"[17]

भुखमरी, कंगाली, बेरोजगारी, अन्याय, उत्पीड़न व शोषण से उपजी बेबसी व खीज उत्पीड़ित अपने ही जैसे अन्य लोगों पर उतारते हैं। गांवों व शहरों में छोटी छोटी बातों पर हिंसा हो जाना, पुलिस द्वारा आंदोलनकारी श्रमिकों, छात्रों व कर्मचारियों पर निर्ममता से लाठियां बरसाना किस बात का संकेत करता है? फ्रेरे का उत्तर है-

''यथार्थ में डूबे उत्पीड़ित लोग उस व्यवस्था को स्पष्ट रूप से नहीं देख पाते, जो उत्पीड़कों के लिए बनी है, जिनके बिम्ब को उन्होंने आत्मसात कर रखा है। इस व्यवस्था द्वारा लगाये गये प्रतिबंधों से रगड़ खा-खाकर गरमाते रहने के कारण उनमें अक्सर एक समस्तरीय हिंसा फूट पड़ती है, जो तुच्छतम कारणों से अपने ही साथियों पर प्रहार के रूप में सामने आती है। संभव है, इस व्यवहार में भी वे अपने द्वैत को व्यक्त करते हों। चूंकि उत्पीड़क उनके उत्पीड़ित साथियों के भीतर भी बैठा हुआ होता है, इसलिए वे अपने साथियों पर हमला करते हैं तो परोक्षतः उत्पीड़क पर भी हमला कर रहे होते हैं।''[18]

क्यूबा के पूर्व वयस्क शिक्षा मंत्री डा0 राउल फेरर, जिन्हें फ्रेरे ने 'मानवता का महान वृक्ष' कह कर संबोधित किया था भारत जैसे देशों में चल रहे प्रौढ़ शिक्षा अभियानों की निरर्थकता के कारणों की ओर संकेत करते हुए कहते हैं- वे विफल क्यों होते है? उनके पास पैसा है, उनके पास विशेषज्ञ हैं, उन्हें अतर्राष्ट्रीय समर्थन प्राप्त है, उनके पास यूनेस्को है, फिर यह सम्भव कैसे होता है कि वे सफल नहीं होते। ऐसा इसलिए होता है कि उनका प्रारम्भिक बिन्दु मानव विरोधी है। वह मानव विरोधी इसलिए है कि वे उन शब्दों को इस्तेमाल नही करते, जिन्हें हम इस्तेमाल करते हैं। वे भूमि सुधार के बारे में बोलने की, बीमारी और भूखमरी के शिकार लोगों के बारे में बोलने की हिम्मत नहीं रखते हैं। जो उन्हें बीमार और दरिद्र बनाते हैं। वे इन शब्दों को गरीब जनता के हाथों में देने की हिम्मत नहीं रखते और चूंकि वे

हिम्मत नहीं रखते, लिहाजा वे विफल होते हैं। अतः तब तक वे हर बार विफल होते रहेंगे, जब तक वे इसके लिए हिम्मत नहीं जुटा लेते।'' [19] फेरर आगे कहते हैं-

''तीसरी दुनिया के देशों का खजाना हमारी जनता है, उसकी नकदी नहीं। पैसे की जरूरत से हम इनकार नहीं करते, लेकिन ऐसे संघर्षो में सच्ची लागत कुछ और होती है, जिसे अंकों में नहीं रखा जा सकता है।'' [20]

सामाजिक न्याय की अवधारणा के सम्बन्ध में डा0 नामवर सिंह [21] अपने विचार रखते हुए कहते हैं कि आज हमारे देश में विश्व बाजार तेजी से प्रवेश कर रहा है। हम विश्व पूंजीवाद के अंग बन गये हैं। यह पूंजीवादी बाजार व्यवस्था किसी को भी सामाजिक न्याय नहीं दे सकती है। यह एक तरह का उपनिवेशवाद है जिसके विरूद्ध देश के सभी लोगों को एकजुट होकर लड़ना है। अब हिन्दुस्तान में जो बहुत सी एन.जी.ओ. नाम की संस्थायें चल रही हैं, वे तो समाज सुधार, दलितों, पिछड़ों और आदिवासियों के उद्धार, पर्यावरण की रक्षा आदि के नाम पर चलती हैं। वे जातिवाद को खत्म करने के बजाय और बढ़ाती हैं। इन्हें विश्व बैंक, अमेरीका तथा यूरोपीय पूंजीवादों राष्ट्रों से पैसा मिलता है, और यहां के पूँजीपति भी इन्हें अपने बहुत अनुकूल पाते हैं। समाज सुधार, साक्षरता, स्वास्थ्य, पर्यावरण आदि के नाम पर इनके द्वारा जो काम किये जाते हैं वे ऊपर से देखने पर सामाजिक न्याय के बहुत अनुकूल लगते हैं। लेकिन वास्तव में कुल मिलाकर लोगों के असंतोष पर ठंडा पानी डालकर उन्हें बाजार तन्त्र के अनुकूल बनाते हैं। ये लोगों को किसी प्रकार का आन्दोलन या व्यवस्था परिवर्तन का प्रयास करने से रोकते हैं। इसीलिए इनको बाहर से इतना पैसा मिलता है। नामवर सिंह कहते है कि आज सामाजिक न्याय का नारा एक तरह से बाजार का हथियार बन गया है।

प्रो0 अनिल सद्गोपाल[22] कहते हैं कि- हमें इस तथ्य को आत्मसात करना चाहिए कि देश के 6-14 आयु समूह के लगभग आधे बच्चे (यानी करीब नौ करोड़) स्कूल के बाहर हैं। कल्पना कीजिए कि यदि ये सब बच्चे स्कूल आने का निर्णय कर

लें तो क्या होगा। देश की स्कूली प्रणाली एकदम चरमरा जाएगी। चूंकि उनकी इन बच्चों को स्वीकारने की कोई तैयारी नहीं है। यह भी कल्पना कीजिए की क्या होगा यदि ये बच्चे अगले दो तीन वर्षो तक स्कूल न जायें वे न केवल आज की विशाल बाल -श्रमिक फौज के हिस्से बन जायेंगे बल्कि साथ-साथ अगली सदी की शुरूआत में प्रौढ़ निरक्षर भी बनेंगे। तो क्या हम तब उनको साक्षर बनाने के लिए मिशन का अभियान चलायेंगे। यह तो वैसी ही बात हुई कि हम एक तरफ से नलका खोलकर फर्श पर पौंचा लगाने की कोशिश करें। प्रो0 सदगोपाल आहवान करते हैं कि हमें अपनी पूरी ताकत बटोर कर और उद्देश्यों के प्रति पूरी समझ बनाकर 'राष्ट्रीय साक्षरता मिशन' की जगह राष्ट्रीय प्रारम्भिक शिक्षा मिशन स्थापित करने के लिए कदम उठाने चाहिएं।

सारतः अन्त में यही कहना युक्तिसंगत होगा कि प्रौढ़ साक्षरता निरक्षरता की मूल समस्या का निदान नहीं है। इसके लिए समस्या के विभिन्न आयामों पर गम्भीरता से चिंतन करते हुए शिक्षा के एक संकल्पशील, सार्थक व व्यावहारिक नीति बनाना तथा उसे पूरी शक्ति के साथ क्रियान्वित करना परमावश्यक है। स्थानीय स्तर पर इक्के-दुक्के प्रयास रेगिस्तान में सहरा की भांति होंगे। अतः राष्ट्रीय स्तर पर गहन व गम्भीर प्रयासों की आवश्यकता है। यहाँ फ्रेरे के इन शब्दों पर ध्यान देना आवश्यक है- "अध्यापक के रूप में उस राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश के बारे में हमें बार-बार सोचना होगा, जिसमें हम अध्यापक के रूप में कार्य करते हैं। कुछ अध्यापकों द्वारा किसी स्थान पर साक्षरता कार्यक्रम आयोजित करने और उसके बाद पूरे देश में प्रसारित करने की पद्धति में मेरा विश्वास नहीं है।"[23]

❋❋❋❋❋

दृष्टव्यः

1. माइल्स हार्टन एवं फ्रेरे- शिक्षा और सामाजिक परिवर्तन, राह बनाकर चलते हम, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2003, पृ0 99
2. जी0डी0 तेन्दुलकर, महात्मा भाग-3, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, पृ0- 137
3. गैरिट होजर, पीजेन्ट पार्टिशिपेशन इन लैटिन अमेरिका एन ओवर व्यू
4. रजनी कोठारी, एन आलटरनेटिव फ्रेम वर्क फॉर रूरल डवलपमेन्ट (ऐनदर डवलपमेन्ट एण्ड एप्रोचेज एण्ड स्ट्रेटीज में प्रकाशित)
5. बेरिंगटन मूर जूनियर, सोशल ऑरिजिन आफ डैमोक्रेसी एण्ड डिक्टेटरशिप
6. रामशरण जोशी, टेन्शन्स इन रूरल इण्डियया, फ्रन्टीयर, कलकत्ता, नवम्बर 1977
7. जोशी, इम्पैक्ट ऑफ इण्डस्ट्रीयलाइजेशन आफ ट्राईबल्स, राष्ट्रीय श्रम संस्थान बुलेटिन अंक-1 1978
8. जोशी, कनाडिया ट्रेजडी, बुलेटिन, पूर्वोक्त 1977
9. डा0 बी0डी0 शर्मा, भूमिका, ट्राईबल कंसैप्ट एण्ड इट्स फ्रेम वर्क।
10. म0प्र0, आदिम जाति एवं अनुसूचित जनजाति विभाग के तत्कालीन आयुक्त डा0 ब्रहमदेव शर्मा के मार्गदर्शन में संचालित अध्ययन, पृ0 105
11. एलविन, आदिवासियों की शिक्षा, रिकार्ड रूम, जिलाधीश कार्यालय, बस्तर
12. रामशरण जोशी, बॉन्डेड लेबर एण्ड देयर फैन्टेसी, बुलेटिन 1978
13. फ्रेरे, उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र ग्रन्थ शिल्पी नई दिल्ली, 1997, पृ0 104
14. पूर्वोक्त पृ0 104, 105
15. पूर्वोक्त- पृ0 23
16. पूर्वोक्त- पृ0 24, 25
17. पूर्वोक्त- पृ0 23, 24
18. पूर्वोक्त- पृ0 24
19. जोनाथन कोजोल-क्रान्ति की बारहखडी (चिल्ड्रन आफ द रिवोल्यूशन), ग्रन्थ शिल्पी, नई दिल्ली, 1997 पृ0- 70
20. पूर्वोक्त- पृ0 70
21. नामवर सिंह- 'मर्ज बढ़ता गया, ज्यों ज्यों दवा की', सामाजिक न्याय की अवधारणा, सम्पादक रमेश उपाध्याय व संज्ञा उपाध्याय, शब्द संधान, दिल्ली पृ0 54
22. अनिल सद्गोपाल- शिक्षा के बदलाव का सवाल, ग्रंथ शिल्पी, द्वितीय संस्करण-2004, पृ0-180
23. राह बनाकर चलते हम, पृ0- 58

अध्याय-षष्ठम्

निष्कर्ष एवं सुझाव

अध्याय -षष्ठम्

निष्कर्ष एवं सुझाव

मनुष्य के भावी जीवन की दिशा के निर्धारण में उसके बाल्यकाल की परिस्थितियों अर्थात परिवार, समुदाय, शिक्षा-दीक्षा व समाज आदि से मिले परिवेश का महत्वपूर्ण योगदान होता है। पाओलो फ्रेरे के व्यक्तित्व तथा उनके चिन्तन व कर्म की दिशा को एक सुनिश्चित रूपाकार प्रदान करने में इन कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका रही, इसे वे स्वयं भी स्वीकार करते हैं।

बचपन की गरीबी, अस्थिरता, सामाजिक-आर्थिक उथल-पुथल से जनित कठिनाईयों से फ्रेरे ने संघर्ष करना सीखा। अत्याचार, उत्पीड़न व शोषण को प्रत्यक्षतः देखा, भोगा और उसके विरुद्ध लड़ने को प्रतिबद्ध हुए। परिवार में माता की धार्मिक वृत्ति, पिता की उदारता, सौहार्द व सहनशीलता, पत्नी के सहयोग तथा बच्चों के प्रेम से परिपूर्ण वातावरण ने फ्रेरे के व्यक्तित्व निर्माण में योगदान दिया। संगी-साथियों की गरीबी देखकर वे द्रवित हो उठते थे। दबे-कुचले, शोषित झुग्गी-झोपड़ीवासी किसानों व श्रमिकों की दीन दशा ने उन्हें इस दिशा में मजबूती से कदम उठाने को प्रेरित किया। उनकी पत्नी एलजा इस कार्य में उनकी सहयोगिनी, प्रेरक एवं शिक्षिका बनीं।

मानव मात्र के प्रति संवेदना, प्रेम, दया, सहानुभूति, ममता, करुणा, आशा, विश्वास, अपनत्व व भ्रातृ-भाव तथा मानव मुक्ति के लिए प्रतिबद्धता व समर्पण भावना से फ्रेरे का व्यक्तित्व ओत-प्रोत था। उनका चिन्तन उनके आचरण में स्पष्टतया झलकता था। जिज्ञासा व अध्ययनशीलता की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने फ्रेरे को निरन्तर सीखने के लिए प्रेरित किया। उनका अध्ययन गहन व व्यापक था। फलतः अनेक विद्वानों के विचारों ने उनके चिन्तन की धारा को प्रभावित किया।

दार्शनिक आधार-

फ्रेरे का प्रगतिशील क्रान्तिकारी दर्शन यथार्थवादी, मानवतावादी तथा अस्तित्ववादी विचारों से परिपूर्ण है। मनोविश्लेषण की गहन समझ फ्रेरे के दर्शन में सहज दृष्टव्य है। वे मार्क्सवाद से अत्यधिक प्रभावित थे। यथार्थ का बोध कर उसका मानव हित की दृष्टि से परिवर्तन करने की दिशा में उनका चिन्तन प्रवाहमान था। मानवीय चेतना को उसके उच्चतम शिखर तक ले जाकर मानवीय सम्भावनाओं को अपनी पूर्णता तक पहुंचाना ही उनके लिए अभीष्ट था। संकीर्णतावाद फ्रेरे को लेशमात्र भी स्वीकार नहीं था, वह चाहते दक्षिणपंथी हो अथवा वामपंथी। फ्रेरे का मानना था कि संकीर्णतावाद किसी भी क्षेत्र का हो, मानव मुक्ति में बाधक होता है। वे आमूल परिवर्तनवाद को आलोचनात्मक होने के कारण उचित मानते थे।

फ्रेरे शिक्षा की यूटोपियाई अवधारणा को स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी यह आदर्शवादी यूटोपियाई अवधारणा यथार्थ के धरातल पर विनिर्मित हुई थी। स्वप्नों को देखना तथा उन्हें यथार्थ में परिणत करना उन्हें प्रिय था। वे आशावादी थे तथा मानवीय प्रयत्नों के माध्यम से ही वे स्वप्न या कल्पना को यथार्थ में रूपान्तरित करने को उचित मानते थे।

फ्रेरे स्वयं को धार्मिक न मान आस्थावादी मानते थे। वे ईसा मसीह से अत्यधिक प्रभावित थे। धार्मिक होने का अर्थ उनकी दृष्टि में किसी धर्म विशेष का अनुगामी होना था। वस्तुतः उनकी धार्मिकता धर्म, सम्प्रदाय व मतों के बन्धन से मुक्त एक सच्ची धार्मिकता थी। ईसा मसीह से उन्होंने मानव कल्याण के लिए सर्वस्व समर्पण करना सीखा। प्रेम, दया व करुणा उनके अन्तर्मन ने ग्रहण किये। जबकि मार्क्स से उन्होंने दलितों व उत्पीड़ितो के लिए संघर्ष करने का आत्म बल प्राप्त किया।

फ्रेरे स्वानुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान को, यथार्थ के अनावरण द्वारा प्राप्त प्रत्यक्ष ज्ञान को, विवेकजन्य एवं प्रामाणिक अनुभवों द्वारा प्राप्त ज्ञान को श्रेष्ठ मानते हैं। ज्ञान की निरन्तर परिवर्तनशीलता में उनका विश्वास था। फ्रेरे के विचारों का मूल्यमीमांसापरक दृष्टि से विवेचन करने पर यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि उन्होंने मानवोत्थान एवं समाज कल्याण के लिए वांछनीय समस्त मूल्यों को सर्वथा नूतन दृष्टि से देखा और पुनर्परिभाषित किया। व्यक्तिगत व सामाजिक जीवन का कोई भी पक्ष उन्होंने अछूता नहीं छोड़ा है। प्रेम, दया, परोपकार, अपनत्व, एकजुटता, स्वतन्त्रता व अधिकार, धैर्य व सहिष्णुता, सहानुभूति व समानुभूति, आशावादिता, मानवीयता, क्रान्तिकारिता एवं मुक्ति के प्रति संघर्षशीलता फ्रेरे की दृष्टि में आवश्यक मानवीय मूल्य हैं।

संवाद, खामोशी की संस्कृति, विवेकीकरण, आचरण तथा मानुषीकरण जैसे प्रत्यय उनके दार्शनिक चिन्तन के ताने-बाने के मूल धागे हैं। संवाद का आधार शब्द है और शब्द के दो आयाम हैं, चिन्तन व कर्म । ये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। संवाद बोलना मनुष्य का आद्य अधिकार है। संवाद एक अस्तित्वगत आवश्यकता है, एक सृजनात्मक कर्म है। प्रेम, विनम्रता और पारस्परिक विश्वास होने से ही समस्तरीय संवाद सम्भव है। संवाद में संलग्न व्यक्तियों को अपने प्रयासों के प्रति आशावान भी होना चाहिये। क्रान्तिकारी कर्म का सार संवाद ही है, ऐसा संवाद जो आलोचनात्मक व मुक्तिदायक हो, तथा जिसमे कर्म को पहली अवस्था माना गया हो। फ्रेरे के अनुसार संवाद अन्तः सम्प्रेषणात्मक होता है, लोगों में एकजुटता बढ़ाता है, उन्हें स्वतन्त्रता की ओर ले जाता है तथा निरन्तर जारी रहता है।

फ्रेरे शासितों या आश्रितों के समाज को, जिनकी आवाज शासकों द्वारा छीन ली जाती है खामोशी की संस्कृति से ग्रस्त बताते हैं। उनके अनुसार निर्भर समाज एक खामोश समाज होता है। उसकी आवाज प्रामाणिक आवाज न होकर महानगरीय समाज की आवाज की प्रतिध्वनि मात्र होती है। निर्भर समाज की चेतना को

महानगरीय समाज द्वारा सुलाने, उसे कुंद व निष्क्रिय करने के लिए हर सम्भव प्रयास किये जाते हैं।

फ्रेरे के अनुसार मानव का कर्तव्य मनुष्य बनना है परन्तु अन्याय, शोषण तथा हिंसा द्वारा उत्पीड़क इसे बाधित करते हैं जबकि उत्पीड़ित स्वतंत्रता व न्याय की आकांक्षा से अपनी खोई हुई मनुष्यता को पुनः प्राप्त करने के लिए संघर्ष करते हैं। फ्रेरे की दृष्टि में अमानुषीकरण अन्यायपूर्ण व्यवस्था का परिणाम है, एक सामाजिक विकार है। मानुषीकरण की प्रक्रिया के द्वारा ही व्यक्ति सच्ची मुक्ति को प्राप्त कर पूर्ण मानव बनता है। फ्रेरे का मानना है कि मोक्ष पहले मुक्ति की मांग करता है। दोनों ही सामाजिक परिघटनाएं हैं। मुक्ति एक नये मानव को जन्म देती है। मानव इतिहास का सृजन करता है। वह 'परियोजना' बनाने व उसे कार्य रूप में देने में सक्षम प्राणी है । वह आत्म निरीक्षण व आत्म मूल्यांकन में समर्थ है।

फ्रेरे के मतानुसार विवेकीकरण मानव के चिन्तनशील कर्म का आधारभूत आयाम है। मनुष्य द्वारा यथार्थ को जानना, उसका अनावरण करना और उसमें परिवर्तन लाना विवेकीकरण द्वारा ही सम्भव है। विश्व का सृजन व पुनर्सृजन अर्थात इतिहास का निर्माण व पुनर्निर्माण विवेकीकरण के बिना असम्भव है। सांस्कृतिक मिथकों को नष्ट करके एक विवेकवान, जागृत व प्रबुद्ध मानव ही खामोशी की संस्कृति को तोड़ता है, स्वतंत्रता के भय से स्वयं को मुक्त करता है तथा अन्ततोगत्वा उत्पीड़न के कारणों का समूल नाश कर विश्व को एक नया रूप प्रदान करता है।

शैक्षिक चिन्तन-

फ्रेरे का शैक्षिक चिन्तन सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक विचारों से अनुप्राणित है। वस्तुतः वे ''उत्पीड़कों के शिक्षा शास्त्र''के प्रतिवादस्वरूप 'उत्पीड़कों का शिक्षा-शास्त्र' प्रस्तुत करते हैं । शिक्षा के एक संवाद विरोधी सिद्धान्त के प्रत्युत्तर में फ्रेरे शिक्षा का संवादात्मक सिद्धान्त विकसित करते हैं जो सहयोग, संवादपूर्णता,

संगठन, सद्भावना तथा क्रान्तिकारी नेतृत्व पर आधारित है। फ्रेरे शिक्षा को सांस्कृतिक कार्रवाई के रूप में देखते हैं तथा इसे एक अनवरत् चलने वाली क्रिया मानते हैं।

शिक्षा की सांस्कृतिक कार्रवाई-

फ्रेरे के मतानुसार क्रान्तिकारी प्रक्रिया का चरित्र मुख्यतः शिक्षात्मक होता है । क्रान्ति की यह प्रक्रिया निरन्तर व गतिशील होती है। इसे सत्ता प्राप्ति से पूर्व व बाद की अवस्थाओं में नहीं बांटा जा सकता है। सांस्कृतिक कार्रवाई के रूप में शिक्षा जनता में विश्वास, प्रतिबद्धता, सहयोग, सहभागिता, संवाद, एकजुटता तथा सामूहिक प्रयासों द्वारा लक्ष्य प्राप्ति की मांग करती है। इस कार्यवाही में जनता के ज्ञान में पूर्ण आस्था रखी जाती है। सत्य का बोध शिक्षक व शिक्षार्थी मिल जुल कर करते हैं। इस कार्रवाई में सांस्कृतिक आक्रमण, अभिजिति, विभाजन व शासन तथा चालबाजी का कोई स्थान नहीं होता है।

क्रान्तिकारी कर्म के इस सिद्धान्त का आधार सहयोग, संवाद, समर्पणशीलता, सांस्कृतिक संश्लेषण व संगठन होता है। शिक्षा की सांस्कृतिक कार्रवाई का यह रूप इसे शिक्षा की नौकरशाही व्यवस्था से भिन्न करता है।

ज्ञान की पाचकवादी अवधारणा व बैंकिंग शिक्षा बनाम स्वतंत्रतावादी समस्या उठाऊ शिक्षा-

फ्रेरे तीसरी दुनिया के देशों में शिक्षा की भूमिका केवल छात्रों में सूचनाएं जमा करने तक सीमित मानते हैं। निरक्षरों को 'अक्षरों के भूखे' व 'ज्ञान के प्यासे' मानकर चयनित शब्दों से उनकी 'भूख-प्यास' मिटाई जाती है। इस शिक्षा में संवाद का कोई स्थान नहीं होता है। ज्ञान एक उपहार होता है जो 'ज्ञानवान' द्वारा 'अज्ञानी' को दिया जाता है। छात्र निष्क्रिय तथा अनुशासित श्रोता मात्र होते हैं। शैक्षिक प्रक्रिया में उनकी सक्रिय सहभागिता नहीं होती है। ऐसी शिक्षा छात्रों में

विवेकशून्यता को जन्म देती है। छात्रों को शिक्षक द्वारा 'हांका' जाता है, 'ढाला' जाता है, नियन्त्रित किया जाता है, निर्देश दिये जाते हैं और छात्र केवल अधिगम की 'वस्तुएं' बन जाते हैं। मुक्तिदायी समस्या उठाऊ शिक्षा की प्रकृति इसके विपरीत होती है। इसमें शिक्षक व छात्र सहकर्ता होते हैं। शिक्षक या छात्र मिलजुल कर समस्या का समाधान करते हैं। छात्र जागृत व सक्रिय कर्ता होता है, जानने की प्रक्रिया में स्वयं संलग्न। ज्ञान उस पर थोपा नहीं जाता।

फ्रेरे के द्वारा शिक्षा व्यवस्था के सभी अंगों पर गंभीर चिन्तन करने के उपरान्त अपने विचार दिये गये हैं। संक्षेप में ये विचार निम्न प्रकार हैं।

उद्देश्य-

पाओलो फ्रेरे की दृष्टि में शिक्षा के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं :-

1. मानव को पूर्ण मानव या प्रामाणिक मानव बनाना ।
2- मानवीय समस्याओं को विश्व से उनके सम्बन्धों की समस्याओं के रूप में उठाना ।
3- मानव को मुक्ति संघर्ष में सक्षम बनाना ।
4- आचरण के द्वारा यथार्थ में हस्तक्षेप की क्षमता का विकास करना।
5- आलोचनात्मक चिन्तन क्षमता का विकास।
6- क्रान्तिकारी नेतृत्वशीलता का विकास।
7- सांस्कृतिक विकास
8- मानवीय मूल्यों का सृजन एवं विकास

पाठ्यक्रम-

फ्रेरे शिक्षक व छात्र की भाँति ही पाठ्यक्रम को भी शैक्षिक प्रक्रिया के महत्वपूर्ण अंग के रूप में स्वीकार करते हैं। पाठ्यक्रम के सम्बन्ध में उनके विचार संक्षेप में इस प्रकार हैंः-

1. पाठ्यक्रम निर्माण पर शासक वर्ग अपना नियंत्रण रखता है तथा उसे अपने हितों के अनुरूप ढालता है । इससे जनता के हितों की उपेक्षा होती है।
2. पाठ्यक्रम सीखने वालो के हितों, आवश्यकताओं व रूचियों पर आधारित होना चाहिये।
3. पाठ्यक्रम निर्माण में व्यक्तिगत भिन्नताओं पर विचार किया जाये।
4. पाठ्यक्रम लचीला व परिवर्तनशील हो।
5. पाठ्यक्रम निर्माण में उसके दार्शनिक, समाजशास्त्रीय एवं राजनीतिक आधारों को ध्यान रखा जाये।
6. विषय वस्तु के साथ-साथ उसकी पृष्ठभूमि व इतिहास की जानकारी दी जाये।
7. पाठ्यक्रम संकीर्णतावाद से मुक्त हो। मानवीय मूल्यों व सांस्कृतिक तत्वों का विकास करने में सहायक हो।
8. पाठ्यक्रम में अल्पसंख्यकों के मूल्यों को भी शामिल किया जाये ।
9. पाठ्यक्रम में शिक्षा, कला, गणित, नीति शास्त्र, भूगोल, यौन शास्त्र, राजनीति शास्त्र, मानवाधिकार, भाषा विज्ञान, भाषा का समाज शास्त्र, दर्शन जैसे विषय सम्मिलित हों ।

10. विज्ञान व प्रौद्योगिकी को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाये परन्तु ये मानुषीकरण में सहायक हों, बाधक नही ।

शिक्षण विधियाँ-

फ्रेरे की दृष्टि में वह शिक्षण पद्धति श्रेष्ठ है जिसमें छात्र व शिक्षक दोनों ही कर्ता की भूमिका में हों तथा इस प्रकार वे संयुक्त प्रयासों द्वारा यथार्थ का बोध व अनावरण करें। शिक्षण पद्धति के सम्बन्ध में उनके सुझाव संक्षेप में निम्न प्रकार हैं :-

1. विषय वस्तु को उसके ऐतिहासिक - सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत किया जाये तथा दोनों में सहसम्बन्ध स्थापित हो।

2. फ्रेरे एकतांत्रिक विधि को उचित नहीं मानते हैं। उनकी दृष्टि में जनतांत्रिक विधियाँ ही श्रेष्ठ हैं।

3. फ्रेरे कहते हैं कि शिक्षक अपने विचारों को छात्रों पर आरोपित न करें तथा अन्तः सम्प्रेषण व सहभागिता को प्रेरित करें।

4. पद्धति ऐसी हो जिसके द्वारा शिक्षार्थी में आलोचनात्मक चिन्तन तथा समस्या समधान की प्रक्रिया में दक्षता का विकास हो सके।

5. प्रश्नोत्तर, मुक्त सम्प्रेषण व वार्तालाप तथा विचार विनिमय करते हुए आलोचनात्मक चिन्तन को प्रेरित करना उत्तम पद्धति है।

6- स्वाध्याय भी फ्रेरे के अनुसार एक प्रकार के अनुसंधान व सृजन की प्रक्रिया है। वे कहते हैं कि पढ़ना-लिखना यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है। सीखने सिखाने में गंभीरता व प्रसन्नता की जुगलबन्दी होनी चाहिये।

7- फ्रेरे अभ्यास तथा स्वानुभव के महत्व को भी स्वीकार करते हैं।

अनुशासन-

फ्रेरे न तो दमनात्मक अनुशासन का समर्थन करते हैं, न ही वे हस्तक्षेप रहित या पूर्ण मुक्त्यात्मक अनुशासन को ही उचित मानते हैं। उनके अनुसार शिक्षक के प्रभुत्व तथा छात्रों की स्वतंत्रता के मध्य उचित संतुलन होना चाहिये। इसी प्रकार छात्रों में अपने अधिकार व स्वतंत्रता के सम्यक उपयोग का बोध भी विकसित किया जाना आवश्यक है। स्वतंत्रता का अर्थ फ्रेरे मनमानी करने का लाईसेंस देना नहीं मानते। अधिकार के नाम पर शिक्षक छात्रों की स्वतंत्रता पूर्णतया हस्तगत कर ले, फ्रेरे इसे भी उचित नहीं मानते हैं। फ्रेरे की दृष्टि में आत्मानुशासन एवं सामाजिक अनुशासन ही श्रेष्ठ हैं, अतः इनका विकास छात्रों में किया जाना चाहिए ।

शिक्षक-

फ्रेरे एक प्रगतिशील, मुक्तिवादी व क्रान्तिकारी शिक्षक में स्पष्ट दिशा बोध व दृष्टिकोण का होना जरूरी मानते हैं। शिक्षक को छात्रों के भविष्य निर्माण हेतु आश्वस्त व सक्षम होना चाहिये। उसे पूर्ण आत्म विश्वास सहित प्रभुत्व व स्वतंत्रता में संतुलन प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। शिक्षकों को अपने उद्देश्यों व दायित्वों का बोध हो, एकजुटता में आस्था हो तथा कर्म के प्रति समर्पण भावना व प्रतिबद्धता हो। फ्रेरे के अनुसार वह सामाजिक परिवर्तन का अभिकर्ता है, अतः परिस्थितियों की मांग होने पर उसके द्वारा सक्रिय रूप से आवश्यक हस्तक्षेप किया जाना चाहिये। वह छात्रों में आस्था व विश्वास रखे, विनम्रता, सहानुभूति व प्रेम से परिपूर्ण हो। शिक्षक को आत्म-विकास के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिये। वह ऐतिहासिक व सांस्कृतिक संवेदना से युक्त हो। नया जानने के लिए शिक्षक सदैव उत्सुक व विस्मयपूर्ण हो। मुक्ति में आस्था रखने वाला तथा स्वतंत्रता के भय से पूर्णरूपेण मुक्ति शिक्षक ही फ्रेरे की दृष्टि में सच्चा शिक्षक है।

फ्रेरे शिक्षक-प्रशिक्षण के महत्व को स्वीकार करते हुये इसे 'शिक्षक-निर्माण' नाम देते हैं। फ्रेरे शिक्षकों के वेतन व कार्य-दशाओं में सुधार का भी समर्थन करते हैं।

छात्र-

फ्रेरे छात्र को शिक्षा प्रक्रिया में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। उनकी दृष्टि में समग्र शिक्षा वस्तुतः है ही शिक्षार्थी के लिए। शिक्षार्थी सृजनकर्ता तथा सक्रिय अधिगमकर्ता है। वह शिक्षक की डिपोजिटरी नहीं है। जिसमें शिक्षक सूचनाएं जमा करता है। छात्र आलोचनात्मक व सृजनात्मक चेतना युक्त प्राणी है वह यथार्थ को समझने एवं उसमें वांछनीय परिवर्तन करने में पूर्णतः सक्षम है। मुक्तिवादी शिक्षक छात्र को विश्व के अनुरूप नहीं अपितु विश्व को छात्र के अनुरूप ढालने वाली होती है। छात्र की वैयक्तिक सम्भावनाओं को पूर्णता की ओर अग्रसर करने के समुचित अवसर शिक्षा के द्वारा उत्पन्न किये जाने चाहियें। छात्र की वैयक्तिक भिन्नताओं की पहचान करके तदनुरूप ही उसके लिए शिक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिये।

छात्र शिक्षक सम्बन्ध-

फ्रेरे शिक्षक को बहुत प्रतिष्ठापूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। वे शिक्षक से यह अपेक्षा करते हैं कि वह छात्र को, उसकी मानवीय गरिमा को, व्यक्तिगत विशेषताओं को और उसकी स्वतंत्रता के अधिकार को पूरा सम्मान दे। वह छात्र का सच्चा पथ प्रदर्शक बन छात्र को सत्य की ओर उन्मुख करे।

छात्र व शिक्षक के मध्य सम्बन्ध संवादपूर्ण, आत्मीय एवं जनतांत्रिक होने चाहियें। शिक्षक छात्र में आस्था व विश्वास रखें और उनका सम्मान अर्जित करें। शिक्षक अपने अधिकार का प्रयोग तो करें परन्तु बहुत विवेकपूर्ण तरीके से, छात्रों को उसकी आवश्यकता व महत्व से अवगत कराते हुए। छात्रों को भी शिक्षक समुचित

स्वतंत्रता प्रदान करें परन्तु साथ ही उसकी सीमाओं का अहसास भी छात्रों को कराया जाये। इस प्रकार एक शिक्षक में छात्र-शिक्षक सम्बन्धों की समझ का होना फ्रेरे अत्यावश्यक मानते हैं। वस्तुतः शिक्षक व छात्र एक ही प्रक्रिया में सहकर्ता हैं। दोनों के मध्य कोई अन्तर्विरोध नहीं है। वे मुक्तिपथ के सहयात्री हैं जो एक ही लक्ष्य की प्राप्ति की ओर बढ़ रहे होते हैं। फ्रेरे का नया क्रान्तिकारी प्रगतिशील शिक्षक 'छात्र-शिक्षकों' का 'शिक्षक-छात्र' होगा।

विद्यालय परिवार व राज्य तथा इनके अन्तर्सम्बन्ध-

फ्रेरे शिक्षा प्रणाली को राज्य प्रणाली की एक उपव्यवस्था के रूप में देखते हैं। स्कूली व्यवस्था को वे बन्धनों में जकड़ी एक नौकरशाही व्यवस्था के रूप में देखते हुए उसकी आलोचना करते हैं। उनके अनुसार विद्यालय में शिक्षक को इच्छानुसार काम करने की छूट नहीं मिल पाती । वे कहते हैं कि परम्परागत तौर तरीकों से विद्यालय को उबरना चाहिये। विद्यालय में शिक्षक को संवाद का संयोजक नहीं वरन उसका सहभागी होना चाहिये। स्कूल छात्रों को आकर्षित करने वाले हों। बच्चे विद्यालय से डरें नहीं अपितु विद्यालय जाने को उत्सुक हों। फ्रेरे के अनुसार विद्यालय ऐसी सामाजिक-राजनीतिक संस्थाएं हैं जहां छात्रों में लोकतांत्रिक नागरिकता व अनुशासन के गुणों का विकास किया जाता है।

फ्रेरे की दृष्टि में विद्यालय राजनीतिक व्यवस्था के अंग हैं अतः उन पर राज्य का नियंत्रण स्वाभाविक रूप से बना रहता है। विद्यालय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से राज्य की विचारधारा के प्रचार-प्रसार का साधन अथवा उपकरण बन जाते हैं। एक उत्पीड़नकारी समाज में जहां शिक्षा पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण हो जाता है। विद्यालय की स्वायत्तता पूरी तरह हस्तगत कर ली जाती है तथा विद्यालय 'वांछित माल' तैयार करने के कारखाने बन जाते हैं।

परिवार के सम्बन्ध में फ्रेरे कहते हैं कि परिवार का वातावरण प्रेम व सौहार्द से परिपूर्ण हो। सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध उत्तम हों, पिता मार्गदर्शक की भूमिका का गंभीरता से निर्वहन करे तथा बच्चों में स्वतंत्रता व अनुशासन के मध्य संतुलन जागृत किया जाये। माता-पिता स्वयं अनुशासित हों तथा अपनी सीमाओं का ध्यान रखें। वे इन सीमाओं व मर्यादाओं का अहसास बच्चों को भी करायें। बच्चों को उनकी उम्र, क्षमता व रूचि के अनुसार घरेलू दायित्व सौंपे जायें। घर में एकतांत्रिक उत्पीड़नकारी व्यवस्था कदापि न हो।

फ्रेरे-प्रौढ़ शिक्षा संदर्भ-

ब्राजील में निरक्षरों को वोट देने का अधिकार दिलाने हेतु फ्रेरे ने उन्हें साक्षर बनाने के लिए इस दिशा में काम करने का संकल्प लिया। इस क्षेत्र के अपने अनुभवों के आधार पर प्रौढ़ शिक्षा पद्धति के विषय में फ्रेरे कुछ सुझाव देते हैं। उनका कथन है कि जिन्हें शिक्षित किया जाता है उनमें पूर्ण आस्था व विश्वास होना चाहिये। उनके ज्ञान का सम्मान किया जाना चाहिये। चूंकि वे ज्ञानवान कर्ता हैं और उनका ज्ञान व्यवहार जनित ज्ञान है। फ्रेरे का मत है कि निरक्षरों को सीमान्त व्यक्ति मानना भूल है। वस्तुतः वे उत्पीडित जन हैं। उत्पीड़नकारी व्यवस्था ने जबरन उन्हें हाशिए पर डालने का काम किया है।

शैक्षिक कार्यक्रम की अन्तर्वस्तु का निर्धारण करने में फ्रेरे सुझाव देते हैं कि निरक्षरों की वास्तविक वर्तमान स्थिति पर विचार करते हुए ही सहयोगपूर्ण ढंग से कार्यक्रम विकसित किया जाये। यथार्थ का बोध तथा सक्रिय हस्तक्षेप द्वारा उसमें परिवर्तन की स्वतः जागृत आवश्यकता ये दोनों बातें शिक्षार्थी में विकसित हों। अर्थपूर्ण मूल विषयों की खोज के कार्य में शिक्षार्थी सहअनुसंधाता के रूप में कार्य करें। ये मूल विषय वस्तुतः ऐसी समस्याएं होती हैं जिनका हल शिक्षार्थी व शिक्षक मिलजुल कर करते हैं। अनुसंधाता अपने अध्ययन क्षेत्र में जाकर स्थितियों को प्रत्यक्ष रूप से देखते हैं, उनका गहन व व्यापक ढंग से प्रत्यक्षीकरण करते हैं।

तत्पश्चात रपट लिखना, मूल्यांकन बैठकें करना, कोडीकरण करना, अवकोडन व विश्लेषण करना तथा मूल विषय का संकेतीकरण करने के उपरान्त उस पर चर्चा व पुनर्प्रस्तुतिकरण फ्रेरे की इस पद्धति के प्रमुख पद हैं।

फ्रेरे का चिन्तन-भारतीय संदर्भ-

फ्रेरे का चिन्तन देश विशेष अर्थात ब्राजील की परिस्थितियों के फलस्वरूप भले ही उपजा हो उसको व्यापकता, गति व गहराई प्रदान करने में मानव द्वारा मानव का विश्वव्यापी शोषण व उत्पीड़न ही प्रमुख कारक रहा है। यह उत्पीड़न चाहे किसी भी रूप में हो, किसी भी स्थान पर हो, परिणाम इसका एक ही होता है, अमानुषीकरण। उत्पीड़न की इस प्रक्रिया में मानव से उसके शब्द बोलने का अधिकार, ऐसे शब्द जो चिन्तन व कर्म का द्योतक होते हैं, छीन लिया जाता है। **समाज को खामोशी की संस्कृति में ढकेल कर उसकी अभिव्यक्ति कुचल दी जाती है।** संचार साधनों, विज्ञान व प्रौद्योगिकी के दुरुपयोग से, झूठे मिथकों को गढ़ कर लोगों की चेतना को भ्रमित कर दिया जाता है। तीसरी दुनिया के जिन हालातों का ऐसा वर्णन फ्रेरे करते हैं लगभग वे सभी दशाएं भारत में भी विद्यमान हैं। उत्पीड़न व शोषण का भारतीय संस्करण दूसरे देशों व समाजों से यदि कुछ भिन्नता रखता है तो यही कि जाति, धर्म, भाषा, वर्ग, साम्प्रदायिकता तथा क्षेत्रीयता की संकीर्णताओं से ग्रस्त जो समाज भारत में दिखाई देता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। भारतीय संस्कृति बहुलतावादी एवं विशिष्टतापूर्ण है।

अतः फ्रेरे की शिक्षा पद्धतियों को भारत में अपनाते समय यहां के समाज के स्वरूप व सांस्कृतिक विशेषताओं को ध्यान रखना होगा। साथ ही शिक्षा व्यवस्था, विशेषकर प्राथमिक शिक्षा के सम्बन्ध में एक ठोस व व्यवहारिक नीति अपनाते हुए निरक्षरता उन्मूलन के कार्यक्रम को नौकरशाही के शिकंजे से मुक्त करके एक जनान्दोलन का रूप देना होगा। ऐसा आन्दोलन जो जनता का अपना आन्दोलन होगा, जनता की उसमें सच्ची सहभागिता होगी।

भावी शोध हेतु सुझावः-

फ्रेरे के चिन्तन में यथार्थवाद, अस्तित्ववाद, मानववाद, मार्क्सवाद के साथ-साथ मनोविश्लेषणवाद तथा यूटोपियन आदर्शवाद का एक विलक्षण व नूतन समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उनके शिक्षा दर्शन का सुन्दर पुष्प राजनैतिक-सामाजिक-मनोवैज्ञानिक स्तम्भों पर पुष्पित-पल्लवित होता है। फ्रेरे के चिन्तन का कार्यक्षेत्र अत्यन्त ही व्यापक एवं गंभीर है। अतः उसको फ्रेरे के ही अर्थों में समझ पाना, उसकी विवेचना एवं विश्लेषण करना तथा एक शोध ग्रन्थ में सीमित कर देना एक दुरूह व श्रमसाध्य कार्य था। वस्तुतः यह कार्य एकक शोध प्रयास द्वारा नहीं, अपितु परियोजनाबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से सम्पन्न किये जाने वाले शोध कार्यो की एक श्रृंखला द्वारा ही न्यायपूर्ण ढंग से सम्पन्न होना सम्भव है।

फ्रेरे तथा अन्य भारतीय एवं पाश्चात्य शिक्षाविदों के विचारों पर तुलनात्मक अध्ययन भी उपयोगी शोध कार्य हो सकता है तथा इस दिशा में प्रयास किये जाने चाहियें।

बदलते वैश्विक परिदृश्य में पाओलो फ्रेरे के चिन्तन की उपादेयता का मूल्यांकन भी शोध का एक महत्वपूर्ण विषय हो सकता है।

शिक्षा की मुख्य धारा अर्थात सामान्य शिक्षा व्यवस्था के संदर्भ में फ्रेरे के विचार कहां तक व्यवहारिक एवं उपयोगी हैं, इसका परीक्षण किया जाना भी आवश्यक है।

जन साक्षरता कार्यक्रमों में क्या फ्रेरे सिद्धान्त को यथावत प्रयोग में लाया जा रहा है अथवा उसे स्वेच्छानुसार ढाला जा रहा है? यह देखना भी आवश्यक प्रतीत होता है। यदि विचलन है तो कितना और क्यों? उसके अभिप्रेत क्या हैं? ये प्रश्न भी उत्तर हेतु इस क्षेत्र में गहन शोध की मांग करते हैं।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. **एलविन-** आदिवासियों की शिक्षा, रिकार्ड रूम, जिलाधीश कार्यालय, बस्तर

2. **अखिलेश्वर-**आधुनिक भारतीय समाज, बदलाव की चुनौतियां, समय प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली

3. **अन्ना मारिया आराउजो-** एनल फेबेस्लिज्मो नो ब्राजील (Analfabeslismo No Brazil (शॉ पाओलो (इनेफ 1989)

4. **अय्यर, आर.वी. वैद्यनाथ** -परिप्रेक्ष्य-बुनियादी शिक्षा और मानवाधिकार, राष्ट्रीय शैक्षिक योजना और प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, अप्रैल-अगस्त, 1999

5. **अहमद, एजाज-**आज के जमाने में मार्क्सवाद का महत्व, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली।

6. **भाटिया, चन्द्रमोहन-** प्रौढ़ शिक्षा योजना-एक आधारभूत विश्लेषण, साहित्य परिचय, प्रौढ़ शिक्षा विशेषांक, आगरा, दिसम्बर-05, 1978

7. **चौबे, सरयू प्रसाद** - हमारी शिक्षा समस्यायें, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1983

8. डीवी, जॉन-शिक्षा और लोकतंत्र, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली-1998

9. **दूबे, अभय कुमार-**भारत का भूमण्डलीकरण, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली-2003

10. **ईमैनुअल डी कापूट्-** ''कैथोलिक रैडिकल्स इन ब्राजील'' Chatholic Radicals in Brazil" लंदनः आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1970

11. **गाब्रोउस्की, के :** पाओलो फ्रेरे : ए रिवल्युशनरी डिलेमा फॉर दि एडल्ट एडुकेटर, सीराक्यूज, न्यूयार्क :

12. **हार्टन, माईल्स व पाओलो फ्रेरे-** राह बनाकर चलते हम, शिक्षा और सामाजिक परितर्वन, वार्तालाप, सं0 ब्रेडा बेल, गेवेंटा व पीटर्स, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली

13. **ज्योर्जे जेरिया-** ''वैगावांड ऑफ द ऑभियसः ए बिब्लियोग्राफी ऑफ पाओलो फ्रेरे,' Wagabond of the Obvious: A Bibliography of Paulo Freire. विटे स्कालस्टिए, द बुलेटिन ऑफ एडुकेशनल बायोग्राफी 5, संख्या 1-2 1996 :4

14. **जेरिया 'वैगावांड''**- बैकग्राउंड आन पाओलो फ्रेरे "Background on Paulo Freire," (कनवरजेन्स 6, सख्या 1 (1973) :46

15. **जेरिया 'वैगाबॉन्ड'' (Vagabond)** - टी स्किडमोर का ''दि पॉलिटिक्स ऑफ ब्राजील, 1930 -1964'' में दिये गये विवरण के हवाले से, न्यूयार्क, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1967, 406।

16. **जैन नीरज-** वैश्वीकरण या पुनःऔपनिवेशीकरण,गार्गी प्रकाशन, सहारनपुर जन. 2002

17. **जूनियर बेरिंगटन, मूर** - सोशल आरिजिन आफ डैमोक्रेसी एण्ड डिक्टेटरशिप

18. **जोशी आर0एस0-** टेंन्शन्स इन रूरल इण्डिया, फ्रन्टीयर, कलकत्ता नव0 1977

19. **जोशी आर0एस0-** इम्पैक्ट ऑफ इन्डस्ट्रीयलाइजेशन आफ ट्राईबल्स, राष्ट्रीय श्रम संस्थान, बुलेटिन अंक-1 1978

20. **जोशी आर0एस0** - कनाडिया ट्रेजरी, बुलेटिन, पूर्वोक्त, 1977

21. **जेरिया 'बैगाबॉन्ड''**- , 48, मार्शियों मोरेरा की कृति ''ए ग्रेन ऑफ मास्टर्ड सीड दि एवेकनिंग ऑफ दि ब्राजीलियन रिवाल्यूशन (A Grain of Mustard Seed: the Awakening of the Brazilian Revolution) न्यूयार्क एंकर 1073) 115

22. **जोशी, आर0एस0-** आदिवासी समाज और शिक्षा, ग्रंथ शिल्पी, लक्ष्मी नगर, दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2004

23. **कैरोल एल बेस्सिंगर-** 'पैरेलल कैरेक्टः नार्थ ईस्ट ब्राजील/ एप्लीजिया'' Parallel Characteristics: North Brazil/ Applaichia (फिलाडेलफिया लूथरन चर्च ऑफ अमेरिका)

24. **खेतान, प्रभा-** सार्त्र ज्यां पॉल- शब्दों का मसीहा - हिन्द पाकेट बुक्स, नई दिल्ली, जन0 2004

25- **किशोर, राज-** समाजवाद का भविष्य, प्रकाशन संस्थान, दारियागंज, नई दिल्ली, 2002

26. **कोठारी रजनी -** एन आलटरनेटिव फ्रेम वर्क फॉर रूरल डवलपमेन्ट (ऐनदर डवलपमेन्ट एण्ड एप्रोचेज एण्ड स्ट्रेटीज)

27. **कोजोल, जोनाथन-** क्रांति की बारह खड़ी (चिल्ड्रन आफ दी रिवोल्यूशन), ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली-1997

28. **लुकाच,ग्यार्ग-** इतिहास और वर्ग चेतना, अनु0 नरेश नदीम, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2003

29. **मारवा, कांता-** प्रौढ़ शिक्षाः उद्देश्य और शिक्षा पद्धति, प्रौढ़ शिक्षा विशेषांक, साहित्य परिचय, आगरा-1978

30. **मैकी, राबर्ट -** लिटरेसी एंड रिवोल्युशन : दि पेडागॉगी ऑफ पाओलो फ्रेरे, न्यूयार्क : कन्टिन्यूयम, 1981

31. **मार्क्स, कार्ल-** कैपिटल, सं0 फ्रेडरिंक एंजेल्स, एलेन एवं एनविन 1946

32. **मार्क्स, कार्ल-** सेलोक्टिड राईटिंग्स इन सोशियोलॉजी एण्ड सोशल फिलासफी, अनु0 बोटोमोर, मेक्र ग्रा हिल , 1964

33. **निशान्त, रविशंकर- देशवासियों से दो बातें, सुलभ प्रकाशन, नवीन शाहदरा,**

34. **''पाओलो फ्रेरे** नो एक्जिलिओफिकोऊ माइज ब्रासिलियेरो एइन्डा'' विवियन वौन शेलिग की कृति ''कल्चर एण्ड अंडरउेवलमेंट इन ब्राजील विथ पर्टिकुलर रेफरेन्स टू मारियों डी अन्ड्राडे एंड पाओलो फ्रेरे '' (Culture and underdevelopment in Brazil)

35. **प्रसाद, रामायण -** प्रौढ़ शिक्षा -शिक्षा का मूल अधिकार, भारतीय प्रौढ़ शिक्षा संस्थान, नई दिल्ली, अक्टूबर 1999

36. **पाण्डे, रामशकल-** नई शिक्षा नीति, आधार एवं क्रियान्वयन, साहित्य परिचय, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, 1998

37. **पाण्डे, रामशकल-** शिक्षा दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर,आगरा

38. **पाण्डे, रामशकल-** महान पश्चिमी शिक्षा शास्त्री, विनोद पुस्तक मन्दिर,आगरा

39. **फैनान फ्रेंज-** दि रेचिड़ ऑव दी अर्थ, पैग्विन, 1968

40. **फ्राम, एरिक -** दि हार्ट ऑव मैन, रूटलेज एण्ड केगन पाल, 1965

41. **फ्रेरे, पाओलो-** प्रौढ़ साक्षरता-मुक्ति की सांस्कृतिक कार्रवाई, अनु0 जवरीमल पारख, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, 1997

42. **फ्रेरे, पाओलो-** लेटर्स टू क्रिस्टीना, रिफ्लेक्शन्स ऑन माई लाईफ एण्ड वर्क, लन्दन, रूटलेज, 1996

43. **फ्रेरे, पाओलो-** पीडागोजी ऑव होप, रिलिविंग पीडागोजी आव आप्रेस्ट, न्यूयार्क, कन्टीन्यूम, 1995

44. **फ्रेरे, पाओलो-** ओमनी पत्रिका साक्षात्कार, नीपा द्वारा प्रकाशित वर्ष-1, अंक-1, अप्रैल 1994

45. **फ्रेरे, पाओलो-** उत्पीड़ितों का शिक्षा शास्त्र, अनु0 रमेश उपाध्याय, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, दि सं0 1997,

46. **फ्रेरे, पाओलो-** कल्चरल एक्शन फार फ्रीडम, हारमांड्सवर्थ, इंगलैण्ड पेंगुइन 1972

47. **फ्रेरे, पाओलो-** एडुकेशन एज द प्रैक्टिस आफ लिबर्टी, न्यूयार्क, मैग्राहिल, 1973

48. **फ्रेरे, पाओलो-** एजुकेशन फार क्रिटिकल कन्ससनेस, न्यूयार्क, कन्टिन्यूयम, 1981

49. **फ्रेरे, पाओलो-** एडूकेशन : दि प्रैक्टिस ऑफ लिबर्टी, लंदन : राइटर्स एण्ड रीड पब्लिशिंग, 1976

50. **फ्रेरे, पाओलो-** पैडागॉगी इन प्रॉसिस : द लेटर्स टू गिनी बिसाउ, कार्मेन सेंट जॉन हंटर द्वारा अनुदित, न्यूयार्क : सीबरी प्रेस, 1978

51. **फ्रेरे, पाओलो-** पैडागाजी ऑफ द ऑप्रेस्ड, न्यूयार्क : सीबरी प्रेस, 1970

52. **फ्रेरे, पाओलो-** दि पालिटिक्स आफ एडुकेशन : कल्चर, पावर एण्ड लिबरेशन साऊथ हैडली मास : बर्गीन एण्ड गर्वी, 1985

53. **फ्रेरे, पाओलो एण्ड डोनाल्ड मैशेडो** - लिटरेसी : रीडिंग दी वर्ड एण्ड द वर्ल्ड साउथ हैडली, मैसाचुसेट्स : वर्गीन एण्ड गर्वी 1983

54. **रसेल, बट्रेन्ड** - एजूकेशन एण्ड दी सोशल आर्डर, पेंगुइन पेपर बैक्स, लंदन

55. **राबर्ट्स, पीटर-** एडूकेशन, लिटरेसी एण्ड हयूमेनाइजेशन, बर्गिन गर्वी/ग्रीन वुड़-2000

56. **सिंह कँवलजीत व जेड ग्रियर-** बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ और भारत, पब्लिक इंटरेस्ट रिसर्च ग्रुप, माध्यम बुक्स, साऊथ एक्सटेशन, नई दिल्ली 1996।

57. **सिंह, नामवर-** सामाजिक, न्याय की अवधारणा सम्पादक-रमेश उपाध्याय व संज्ञा उपाध्याय, शब्द संधान, दिल्ली-2002

58. **स्ट्रीट, बी0वी0-** लिटरेसी इन थ्योरी एण्ड प्रेक्टिस, केम्ब्रिजः केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1984

59. **शर्मा, बी0डी0-** शिक्षा, समाज और व्यवस्था, म0प्र0 हिन्दी ग्रंथ एकेडमी भोपाल।

60. **शर्मा, ब्रहमदेव-** शिक्षा, समाज और व्यवस्था, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी भोपाल, 1980,

61. **सद्गोपाल, अनिल-** शिक्षा में बदलाव का सवाल, ग्रंथ शिल्पी, लक्ष्मीनगर, दिल्ली, द्वितीय संस्करण-2004

62. **सार्त्र, ज्यां-** पॉल -सर्च फार ए मेथड, अनु0 एच0 ई0 बारनेस, विंटेज बुक्स, 1968।

63. **सिंह, नीलिमा-** 'सार्त्र' शब्दों का मसीहा, जीवन और चिन्तन हिन्द, पाकेट बुक्स, 2004

64. **शर्मा बी0डी0-** भूमिका, ट्राईवल कंसेफ्ट एण्ड इट्स फ्रेमवर्क ।

65. **ठेकेदत्त, के0के0-** एजूकेशन एट दी टर्न आफ दी सेन्चुरी, नव कर्नाटक पब्लिकेशन प्रा0लि0, बंगलौर, प्र0सं0-1999

66. **थानवी, शिव रतन-** आज की शिक्षा-कल के सवाल, धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1983

67. **तेन्दुलकर जी0डी0-** महात्मा -भाग-3 प्रकाशन विभाग, भारत सरकार

68. **टोरस, सी0ए0-** 'फ्रॉम दी पीडागोजी ऑफ अप्रेस्ड' टू 'ए लूटा कंटीन्यूआ', दी पालिटिकल पीडागोजी ऑफ पाओलो फ्रेरे, मकलेटेन एण्ड लियोनार्ड (एडी0) ए क्रिटीकल एनकाउन्टर, लंदन, रूटलेज 1993

69. **उपाध्याय, रमेश व संज्ञा उपाध्याय** (सं0) यूटोपिया की जरूरत, शब्द संधान शकरपुर, दिल्ली, 2002